

कवि माणिककराज कृत
अमरसेणचरिउ

सम्पादक एवं अनुवादक
डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री
विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

पण्डित माणिककराज कृत

अमरसेणचरित

सम्पादक एवं अनुवादक

डा० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

एम० ए० (त्रय) पी० एच०डी०

बाँसातारखेड़ा (दमोह) म० प्र०

अर्थ सहयोग

श्री लालचन्द जैन मोटरवालों की स्मृति में
श्री दिनेशकुमार जैन, पचदरा, बड़ौत (उ० प्र०)



प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

हीरक ज्यन्ती प्रकाशनमाला पुष्प संख्या-५३

प्रेरक : उपाध्याय मुनिश्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशक : आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

प्रबंध संपादक : ब्र० धर्मचन्द्र शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी

ग्रन्थ : अमरसेणचरिउ

प्रणेता : पण्डित माणिककराज

संस्करण : प्रथम संस्करण प्रतियाँ १०००
वि० सं० २०४८ सन् १९९१

प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागरजी संघ
(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया,
बाँसवाड़ा [राजस्थान]
(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाबवाटिका,
लोनी रोड, दिल्ली

मूल्य : ५००

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी,
वाराणसी-१०

समर्पण

चारित्र शिरोमणि
सन्मार्ग दिवाकर
करुणा निधि
वात्सल्य मूर्ति
अतिशय योगी—

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज—

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक

जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत

पुण्य पुञ्ज—

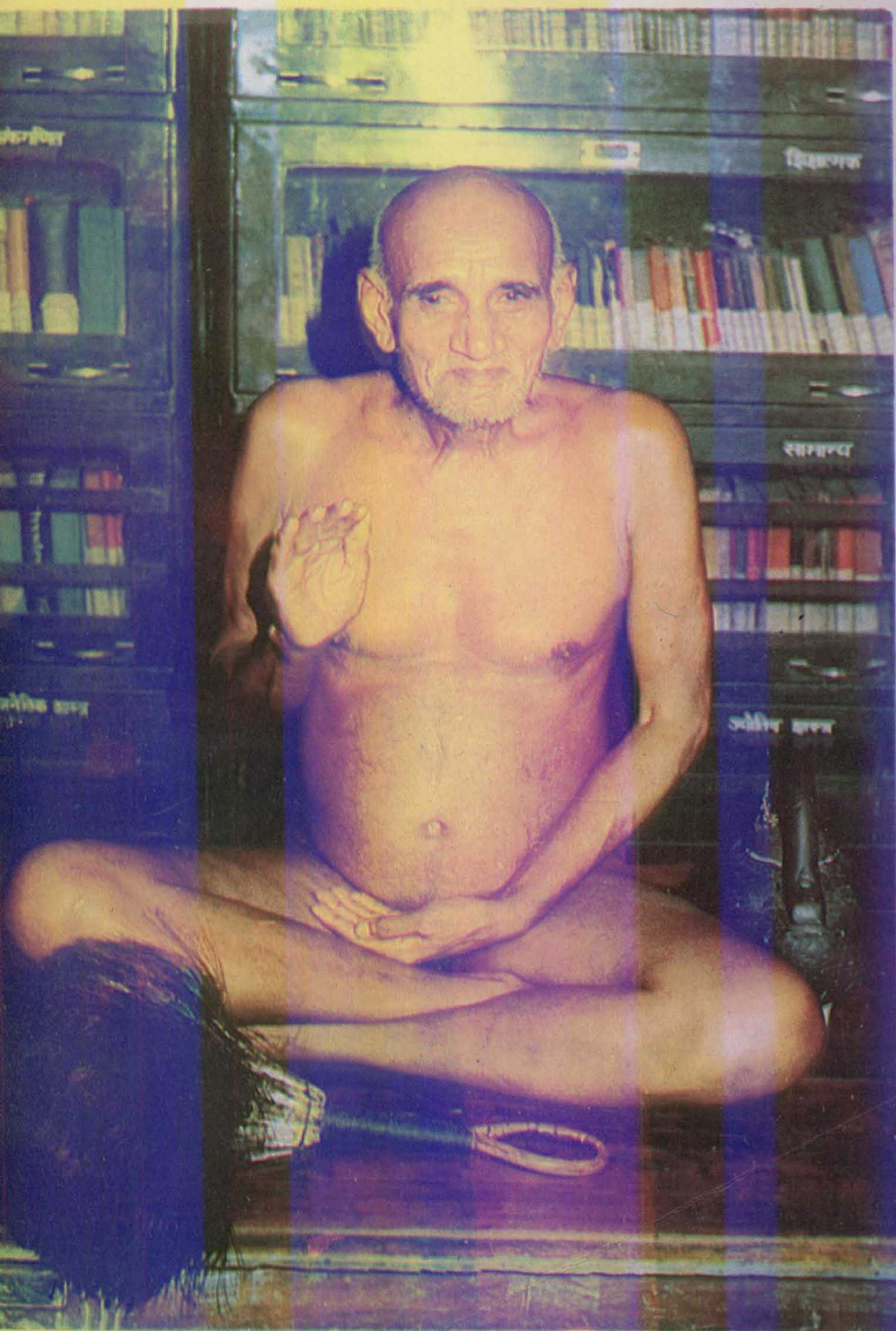
गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108

श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में

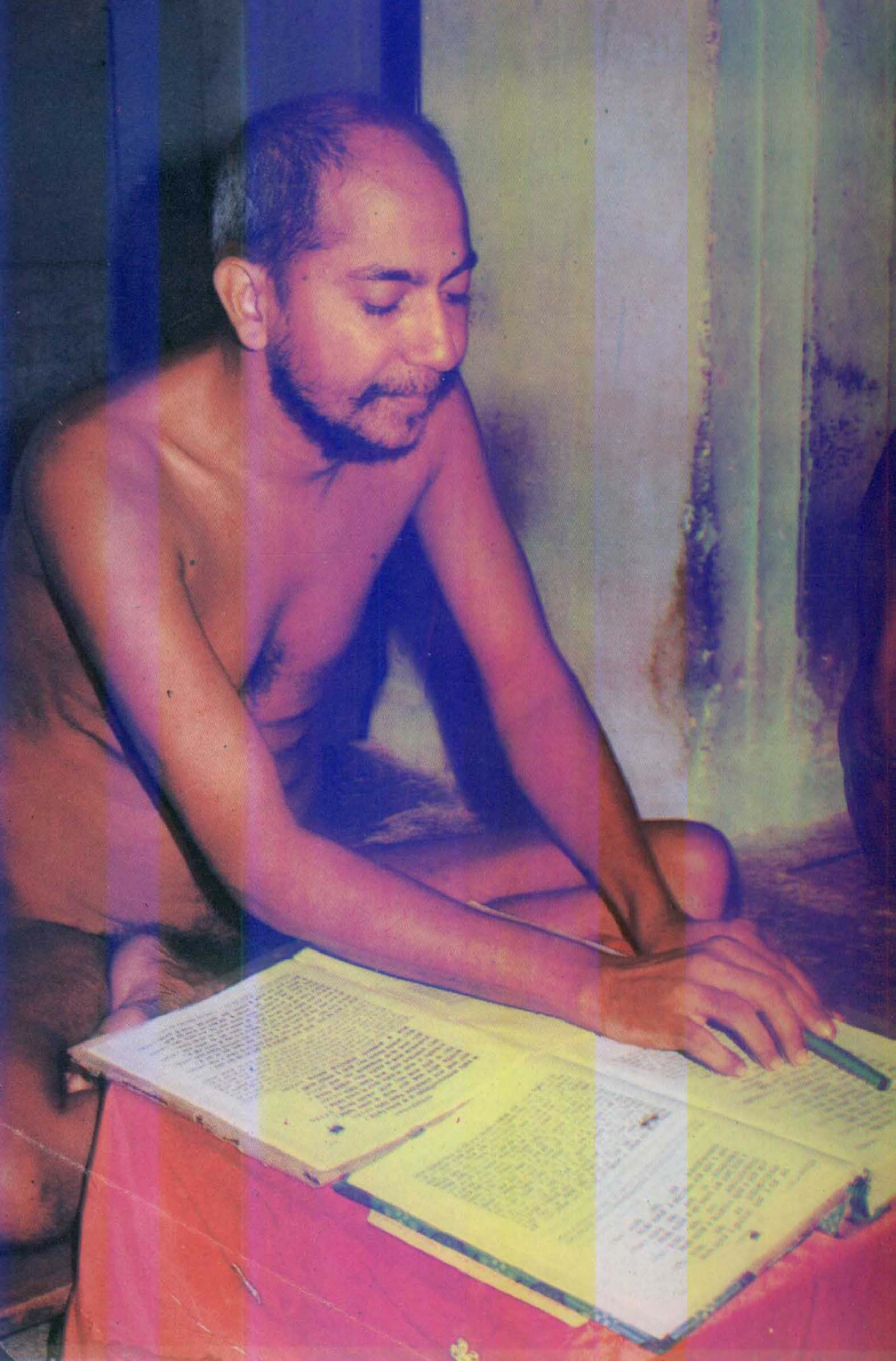
“ग्रन्थराज”

समर्पित

तुभ्यं नमः परम धर्मं प्रभावकाय ।
तुभ्यं नमः परम तीर्थं सुवन्दकाय ॥
“स्याद्वाद” सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ॥



शाचार्य श्री विमल सागर जी महाराज



॥ आशीर्वाद ॥

विगत करिष्या नर्से से जैनाशा को भूमिल करने वाला एक प्रगाथ
 मित्रता देसा - गण, गण नि, सत्यपर असता का आनरता आने लगा -
 एकान्तवाद - निश्चयाप्यास हन पकड़ने लगा ।

आज के इस औद्योगिक युग में असत्य को अपना प्रगाथ पैलने में विरोध-शत्रु
 जही लागता होगा, पर कटु सत्य है, कारण जीव के भिरंधा स्वंगकर अनन्तिकात् से
 चले आये हैं । विगत ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैनत्व का हीका हका कर
 निश्चय जग की आड़ में स्पष्टाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है । किशका साहित्य
 की प्रगाथ-पगाथ किया है । आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी रक्षामि-भाही है
 और गणनों में आचार्य बदल रिह है आर्षिका अर्च कर दिया है ।

बुधजनों ने अपनी शयता पर एकान्त में लोहातिपा है परने अपनी ओर से
 जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुझम नही करवा पाए । आचार्य भी विगत सागए ही
 महात्मा का हीक जननी वर्ष हमारे लिए एक शतोंव अवसर लेकर आया है ।
 आर्थिकता आदादागती आताली ने आचार्य भी एवं हमारे साहित्य में एक सत्कल्पित
 वि प्रज्य आचार्य भी की हीक जाननी के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन ले
 और यह जन-जन को सुझम ले । फलतः प्र आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का
 निश्चय किया गया है क्योंकि सत्यमूर्च के तेजस्वी होने पर असत्य उद्वेगकर
 स्वतः ही पलायन कर जाता है ।

आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु जिन प्रजात्माओं ने अपनी स्वीकृति
 दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से जिस किरी में जी उग परदनुष्ठान में किसी भी प्रकार
 का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है ।

उपाध्याय भारतवाणर

ता-११-७ १९६०

‘संकल्प’

‘णार्णं पयासं’ सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं। ऋटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं : कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

येनैते विदलन्ति वादि गिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः

भव्या येन विदन्ति निवृत्ति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।

यद् बन्धुर्यनिमित्रं यदक्षयसुखस्याधारभूतं मत्तं,

तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुण्याद् विवेकश्रियम् ॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि “सङ्कल्प” के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्रो विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प० पू० गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सान्निध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द जी व प्रभा जी पाटनी रहे, इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०

आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका ।
सद्गर्तनत्रयधारिणी यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ पद्मनंदी पं० ।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारो मुनि भी हैं। इसीलिए उन मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है, तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणघर द्वारा गुंथित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ० स्याद्वादमती माताजी के लिए मैं शत-शत नमोस्तु-वंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागोवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ।

इस ग्रन्थ का सम्पादन और अनुवाद डॉ० कस्तूरचन्द्र जी 'सुमन' ने करके जैन साहित्य का बड़ा उपकार किया है। इसके लिये हम आपके आभारी हैं।

ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदातारों की मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले वर्द्धमान मुद्रणालय की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की, जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

३० प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' अमोघ अस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र चूड़ामणि, परम पूज्य आचार्यवर्य विमलसागर जी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जाएँ जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोह रूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सकें।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परम पूज्य ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एवं आर्थिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन में परम पूज्य आचार्य विमल सागर जी महाराज की 74वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर 75वीं जन्म-जयन्ती के रूप में मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने लिया। इस अवसर पर 75 ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग करना आदि योजनाएँ इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्यार्जन किया, उनकी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया, धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष,

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रस्तावना

पाण्डुलिपि-परिचय

पत्र-परिचय : प्रस्तुत पाण्डुलिपि की यह प्रति आमेर शास्त्र भण्डार श्रीमहावीरजी के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसका प्रथम-पत्र नहीं है। कुल पत्र छियानवे थे, अब पंचान्नवे रह गये हैं। प्रत्येक पत्र की लम्बाई उन्तीस सेण्टीमीटर और चौड़ाई दस सेण्टीमीटर है। प्रत्येक पत्र में नौ पंक्तियाँ और पंक्तियों में छब्बीस से पैंतीस तक अक्षर हैं। अक्षरों का आकार न बहुत छोटा है और न बहुत बड़ा। पत्र में दोनों ओर लिखा गया है।

पत्र के चारों ओर रिक्तस्थान छोड़ा गया है। दायीं ओर बायीं दोनों ओर का रिक्त स्थान दो-दो सेण्टीमीटर है। इसके पश्चात् आधे सेण्टीमीटर स्थान में दोनों ओर दो-दो खड़ी रेखाएँ दी गयी हैं। इन रेखाओं का भीतरी भाग काली स्याही से भरा गया है। दायीं-बायीं इन रेखाओं के मध्य चौबीस सेंटीमीटर स्थान में लेखन कार्य किया गया है।

प्रत्येक पत्र की चौथी से छठी पंक्ति के मध्य में दो सेंटीमीटर का चौकोर रिक्त स्थान भी छोड़ा गया है। उसमें पौन सेंटीमीटर का एक काली स्याही से भरा हुआ वृत्त दिया गया है। कुछ पत्रों की दोनों ओर उक्त पंक्तियों के आदि और अन्त में भी एक-एक वृत्त दिया गया है। इस प्रकार पत्र अलंकृत दिखाई देते हैं।

पाण्डुलिपि के सांकेतिक चिह्न

१. लेखन कार्य में अशुद्ध वर्ण को इंगित करने के लिए लिपिकार ने अशुद्ध वर्ण के सिरोभाग पर दो आड़ी-छोटी रेखाओं का व्यवहार किया है तथा अशुद्ध वर्णों के शुद्ध रूप उसी पंक्ति को दायीं-बायीं किसी एक ओर लिखे गये हैं। यदि ऊपर-नीचे लिखे गये हैं तो उनकी सम्बन्धित पंक्ति-संख्या भी उनके सामने दी गयी है (१।१।१४, ७।८।७, ३।१।१८)।

२. जिस शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक समझा गया है उस शब्द के ऊपर दो छोटी-आड़ी रेखाएँ दी गयी हैं तथा ऊपर-नीचे कहीं भी सुविधानुसार दो आड़ी रेखाओं के पश्चात् पंक्ति संख्या देकर उक्त शब्द का इष्ट अर्थ लिखा गया है (१।६।५, १।९।३, १।९।१०)।

३. लिखते समय वर्ण छूट जाने पर छूटे हुए वर्ण के स्थान के ऊपरी अंश में काक-पाद का चिह्न अंकित किया गया है तथा वह वर्ण पंक्ति-संख्या पूर्वक काक-पाद चिह्न के पश्चात् ऊपर-नीचे कहीं भी लिखा गया है। यदि वह ऊपर लिखा गया है तो उसमें पंक्ति संख्या ऊपर से लेकर दी गयी है और यदि नीचे लिखा गया है तो पंक्ति संख्या नीचे की पंक्तियों की दी गयी है (११९१६, ११९१२, ११९१४, ३१०८, ३१२१२, ७७७८)।

४. आ स्वर की मात्रा दशनि के लिए वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा दी गयी है (११९१७, २१४८, ४६२४, ४८२०)।

५. यमक का कोई चरण छूट जाने पर लिपिकार ने जहाँ छूटे चरण का आरम्भ होना था वहाँ ऊपर-नीचे काक-पाद चिह्न दर्शाये हैं तथा वह चरण हाँसिये में धन का चिह्न देकर पंक्ति संख्या पूर्वक लिखा है (३१०७)।

६. लिपिवद्ध करने में रह गये वर्ण काक-पाद चिह्न देकर या बिना चिह्न दिये ही यथास्थान ऊपरी भाग में लिखे गये हैं (४११३, ४११२)।

७. वर्ण को अपठनीय बताने के लिए वर्ण के ऊपर अंग्रेजी वर्णमाला में छोटे एन वर्ण जैसी आकृति का प्रयोग किया गया है (११०८, ११२११)।

८. वर्णों का क्रम भंग हो जाने पर उन्हें अनुक्रम में पढ़ने के लिए वर्णों के ऊपर क्रम संख्या दी गयी है (११५९, ३६, ३७, ४३५, ४४८)।

९. आ स्वर की मात्रा की अनावश्यकता दशनि के लिए मात्रा के नीचे काक-पाद चिह्न प्रयुक्त हुआ है (४६१८)।

पाण्डुलिपि की लेखन-पद्धति

१. यमक की प्रथम पंक्ति पूर्ण होने पर विराम सूचक एक खड़ी रेखा दी गयी है।
२. छन्द नामों तथा धत्ता-क्रमांकों की दोनों ओर दो-दो खड़ी रेखाओं का व्यवहार हुआ है।
३. संस्कृत-श्लोकों के पूर्ण होने पर छ वर्ण लिखा गया है। इस वर्ण के आगे-पीछे भी दो-दो खड़ी रेखाएँ दी गयी हैं।

४. उ स्वर की मात्रा वर्णों के पीछे तथा नीचे भी संयोजित की गयी है ।
५. दीर्घ ऊ तथा ओ स्वरों के लिए सरेफ उ स्वर का प्रयोग हुआ है ।
६. औ स्वर के लिए अउ तथा सरेफ ऊ स्वर व्यवहृत हुआ है ।
७. ऐ स्वर के लिए अइ का उपयोग किया गया है ।
८. ऋ स्वर के स्थान में उ स्वर और रि व्यञ्जन का प्रयोग हुआ है ।
९. क्ख और क्क संयुक्त वर्णों के लिए क्रमशः 'रक' और क्क का प्रयोग हुआ है ।
१०. क्ष और ख वर्ण के लिए ष वर्ण आया है ।
११. संयुक्त 'ग्ग' वर्ण के लिए 'ग्न' वर्ण व्यवहृत हुआ है ।
१२. च और व वर्ण के समान अकार लिए है । केवल-चवर्ण में आरम्भ में गुलाई नहीं है ।
१३. न व श और ष का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ है ।
१४. झ वर्ण के स्थान में झ और ण के स्थान में ण वर्ण आये हैं । इनका द्वित्व रूप बनाने के लिए इन वर्णों के बीच में एक आड़ी या तिरछी रेखा अंकित की गयी है ।
१५. व वर्ण के स्थान में व वर्ण ही प्रयुक्त हुआ है ।
१६. अनुनासिक के स्थान में अनुस्वार प्रयोग में लाये गये हैं ।
१७. वर्ण के ऊपर एक मात्रा दर्शाने के लिए वर्ण के पूर्व एक खड़ी रेखा का व्यवहार हुआ है ।

रचना-काल

इस सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ की सातवीं सन्धि के पन्द्रहवें कड़वक की निम्न तीन पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

विक्कम राय हुवव गय कालइं ।
 लेसु मुणीस वि सरअंकालइं ॥
 धरणि अंक सहु चइत वि मासैं ।
 सणिवारे सुय पंचमि दिवसे ॥
 कित्तिग्र णाक्खत्तैं सुह जोयं ।
 छुउ पुण्णउ सुत्तुवि (सुह) जोयं ॥

इन पंक्तियों में लेखक ने संवत् सूचक अंकों के लिए लेसु, मुणीस, सर और धरणि शब्दों का व्यवहार किया है । इनमें लेसु शब्द का अर्थ है—
 लेश्या । जैनदर्शन में लेश्याएँ छह होती हैं । मुणीस का अर्थ है—सप्तर्षि ।

तीसरा शब्द है सर। इसका अर्थ है वाण। साहित्य में वाण पाँच माने गये हैं तथा चौथे शब्द धरणि का अर्थ है पृथिवी। यह एक होने से इससे एक अंक का बोध होता है। अंकानां वामतो गतिः—सूत्र के अनुसार ऐसे अंक बायीं से दायीं ओर पढ़े जाते हैं। अतः ऊपर कहे चारों अंकात्मक शब्दों का अर्थ है विक्रम सम्वत् १५७६ वर्ष में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि शनिवार के दिन कृतिका नक्षत्र में यह कृति पूर्ण हुई थी। स्वर्गीय पं० परमानन्द शास्त्री ने भी इसी काल का उल्लेख किया है^१, किन्तु डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने इसका रचना काल विक्रम सम्वत् १५७९ बताया है^२ जो अशुद्ध प्रतीत होता है।

रचना-स्थल

इस ग्रन्थ की रचना रहियास (रोहतक) नगर के पार्श्वनाथ जिनालय में हुई थी। लेखक पं० माणिकराज इस रचना के समय में रहियासपुर में ही विराजमान थे। रहियासपुर के निवामी अग्रवाल चौधरी देवराज ने पार्श्वनाथ मन्दिर में इनसे वार्तालाप किया था और नम्रतापूर्वक इस ग्रन्थ की रचना आरम्भ करने के लिए कहा था। प्रथम सन्धि के छठे कड़वक में इस कथन का तथा सातवें कड़वक में रचना रहियासपुर में आरम्भ किये जाने का उल्लेख किया गया है।

स्वर्गीय पं० परमानन्द शास्त्री ने अपने 'मोलहरीं शताब्दी के दो अपभ्रंश काव्य' शीर्षक लेख में रहियासपुर को रोहतक से समीकृत किया है तथा बताया है कि वहाँ सोनीपत की भाँति भट्टारकीय गद्दी थी। वहाँ के पंचायती मन्दिर में विद्यमान विशाल शास्त्र-भण्डार को उन्होंने भट्टारकीय परम्परा की स्मृति का द्योतक बताया है। शोध-खोज के प्रसंग में रोहतक में लिखे गये अन्य अपभ्रंश ग्रन्थ भी उनके देखने में आये हैं। इससे उन्होंने वहाँ के शास्त्र भण्डार में अपभ्रंश भाषा के शास्त्रों का संग्रह होने का भी अनुमान लगाया है।^३ यह नगर आज भी धन-जन से सम्पन्न है। अतः विद्वान् शास्त्री जी का ऐसा सोचना तर्क संगत प्रतीत होता है।

१. अनेकान्त, वर्ष १०, किरण ४-५, पृष्ठ १६०-१६२, वीर सेना मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली-६ ई० अक्टूबर-नवम्बर १९४९ प्रकाशन।
२. प्रशस्त संग्रह : दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, जयपुर, अगस्त १९५० ई० प्रकाशन, पृष्ठ १६, २३।
३. अनेकान्त : वर्ष १०, किरण ४-५, पृ० १६०-१६२।

प्रतिलिपि-काल एवं स्थल

ग्रन्थ की समाप्ति के पश्चात् अन्तिम पत्र में प्रतिलिपि करानेवाले का परिचयात्मक विवरण दर्शाते हुए लिखा गया है कि इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि विक्रम सम्वत् १५७७ वें वर्ष में कार्तिक वदी पञ्चमी रविवार के दिन कुरुजांगल देश के सुवर्णपथ (सोनीपत) नगर में की गयी थी। प्रतिलिपि करानेवाले श्रावक का नाम बाहू था। वे काष्ठासंघ के माथुरान्वय में पुष्कर गण के भट्टारक श्री गुणकीर्त्तिदेव के पट्टधर श्री यशकीर्त्तिदेव भट्टारक के शिष्य मलयकीर्त्तिदेव और प्रशिष्य गुणभद्रसूरिदेव की आम्नाय में अग्रवाल वंश के गोयल गोत्र में उत्पन्न शाह छल्लू और सेठानी करमचंदही के पुत्र थे। उन्होंने इन्द्रध्वज विधान कराया था और उसी समय ज्ञानावरण कर्म के क्षय हेतु इस शास्त्र को लिखवाया था।

इस अभिलेख में ग्रन्थ लिखने वाले का नामोल्लेख नहीं किया गया है। ग्रन्थ की प्रतिलिपि ग्रन्थ रचना के एक वर्ष आठ माह बाद कराई गयी थी। प्रतिलिपि रोहतक में की गयी थी या रोहतक से ग्रन्थ लाकर सोनीपत में, यह विषय अन्वेषणीय है। यह प्रतिलिपि आमेर शास्त्र भण्डार में प्राप्त होने से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रतिलिपि सोनीपत से यहाँ लायी गयी थी। संभवतः आमेर में भी भट्टारक गद्दी थी तथा यहाँ के भट्टारक सोनीपत के भट्टारकों की आम्नाय के रहे हैं। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिलिपि सोनीपत से आमेर लायी जा सकी। ग्रन्थ प्रेरक देवराज चौधरी और प्रतिलिपि करानेवाले शाह बाहू दोनों एक ही अन्वय और गोत्र के थे।

कवि-परिचय

जैनधर्म-निवृत्ति प्रधान धर्म होने से उसके उपासक साहित्यकार आत्म-ख्याति से दूर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करनेवाले पं० माणिकराज ने रचना प्रेरक चौधरी देवराज का जैसा विस्तृत परिचय लिखा है वैसा परिचय उन्होंने अपना नहीं दिया है।

चौधरी देवराज और कवि के पारस्परिक वार्तालाप प्रसंग में (१६१५) कवि का नाम माणिकराज बताया गया है। उनके पिता का नाम (१६१७) सुरा था। इनके पिता विद्वान् थे। कवि को चौधरी देवराज ने बुह और पंडिय विशेषणों से सम्बोधित (१६) किया है जिससे स्पष्ट है कि कवि विद्वान् थे और पण्डित भी।

कवि की दूसरी रचना नागसेनचरित^१ में कवि की माता का नाम 'दीवा' बताया गया है। वे जैसवाल कुल में जन्मे थे। अन्य पण्डित उनके पाण्डित्य के आगे नत थे। इन्हें उनसे सम्मान प्राप्त हुआ था। वे रहियासपुर के निवासी थे। शास्त्रों का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

गुरु-परम्परा : कवि ने अपने गुरु का नाम पद्मनन्दि लिखा है। उन्होंने उन्हें ग्रन्थ के आरम्भ में ही (१।२।१३-१४) पट्ट धुरंधर, वय पवीणु, तप के कारण क्षीण काय, शील की खान, निर्ग्रन्थ, दयालु और मिष्टभाषी बताया है। ग्रन्थ का शुभारम्भ उन्होंने गुरु की वन्दना पूर्वक ही किया है। इससे कवि की गुरु-भक्ति एवं कृतज्ञता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

कवि अविवाहित रहे। चौधरी देवराज ने उन्हें अखण्डित शील से विभूषित कहा है (१।६) जिससे उनका आजीवन ब्रह्मचारी रहना सिद्ध होता है। भट्टारक देवनन्दि की गुरु के रूप में वन्दना करने से ज्ञात होता है कि कवि ने ब्रह्मचर्य से रहने का नियम पद्मनन्दि से लिया था। यही कारण है कि उन्होंने ग्रन्थ का शुभारम्भ भी भट्टारक देवनन्दि की वन्दना पूर्वक किया है।

मुनि देवनन्दि कवि के गुरु-भाई थे। वे रोहतक के उसी पार्श्वनाथ मन्दिर में रहते थे जहाँ कवि का आवास था। इसी मन्दिर में दो विद्वान् पण्डित और भी रहते थे (७।१।१८-१३)।

मूल निवास-स्थान और समय : पण्डित माणिक्यराज मूलतः कहाँ के निवासी थे ? उनकी रचनाओं से ज्ञात नहीं होता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि अमरसेनचरित की रचना करते समय वे ग्रन्थ रचना के प्रेरक चौधरी देवराज की निवास भूमि रहियासपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर में रहते थे (१।२।३, १।६।१-१५)।

-
१. तहि णिवसइ पण्डित सत्थ खणि ।
 सिरि जयसवाल कुल-कमल-तरणि ॥
 इक्खाकु वंस महियालि वरिट्ठु ।
 वुह सूर-गंदणु सुय-गरिट्ठु ॥
 उप्पणाउ दीवा उरि खण्णु ।
 वुह माणिकु णामें वुहहि मण्णु ॥
 आमेर शास्त्र भण्डार श्रीमहावीरजी में वेष्ठन संख्या ५२१ से सुरक्षित ॥

पण्डित माणिकराज प्रस्तुत रचना के पूर्व महाकवि रङ्घू की रचना-पासणाहचरिउ से परिचित थे। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के रहियासपुर नगर वर्णन प्रसंग में कवि रङ्घू की कृति पासणाहचरिउ में आये ग्वालियर-नगर-वर्णन को किञ्चित् हेर-फेर के साथ आत्मसात किया है। दोनों ग्रन्थों के अंश निम्न प्रकार हैं—

पासणाहचरिउ

महिवीढि पहाणउ णं गिरिराणउ
सुरहँ वि मणि विभउ जणिउ ।
कउसीसहिँ मंडिउ णं इहु पंडिउ
गोपायलु णामें भणिउ ॥

सन्धि १, घत्ता २

जहिँ सहहिँ णिरंतर जिण-णिकेय
पंडुर सुवण्ण धयवड-समेय ।
सट्टाल सतोरण जत्थ हम्म
मण सुह संदायण णं सुकम्म ॥
चउहट्ट चक्क सट्टाम जत्थ
वणिवर ववहरहिँ वि जहिँ पयत्थ ।
मग्ग ण ठाण कोलाहल समत्थ
जहिँ जण णिवसहिँ परिपुण्ण अत्थ ।
जहिँ आवणम्मि थिय विविह भंड
कसवट्टिहिँ कसियहिँ भम्मखंड ।
जहिँ वसहिँ महायण सुद्धवोह
णिच्चत्रिय पूया दाण-सोह ।
जहिँ वियरहिँ वर चउवण्ण लोय
पुण्णेण पयासिय दिव्व भोय ।
ववहारपार संपण्ण सव्व
जहिँ सत्त-वसण भय-हीण भव्व ।
सोवण्णचूड मंडियविसेस
सिगार-भारकिय णिरवसेस ।
सोहग्ग णिलय जिणधम्मसील
जहिँ माणिणि माणमह्छलील ।

अमरसेनचरिउ

महिवीढि पहाणउ गुणवरिट्ठु
सुरहवि मण विभउ जणइ सुट्ठु ।
वर तिण्णिसाल मंडिउ पवित्तु
णंदह पंडिउ सुरपार पत्तु ।
रहियासु वि णामें भणिउ इट्ठु
अरियण जणाह हियसल्लु कट्ठु ।
जहिँ सहहिँ णिरंतर जिण-णिकेय
पंडुर सुवण्ण धय-सुह समेय ।
सट्टाल सतोरण जत्थ हम्म
मण सुह संदायण णं सुकम्म ।
चउहट्टय चच्चर दाम जत्थ
वणिवर ववहरहिँ वि जहिँ पयत्थ ।
मग्ग ण ठाण कोलाहल समत्थ
जहिँ जण णिवसहिँ परिपुण्ण अत्थ ।
जहिँ आवणम्मि थिय विविह भंड
कसवट्टिहिँ कसियहिँ भम्मखंड ।
जहिँ वसहिँ महायण सुद्धवोह
णिच्चत्रिय पूया दाण सोह ।
जहिँ वियरहिँ वर चउवण्ण लोय
पुण्णेण पयासिय दिव्व भोय ।
ववहार चार संपुण्ण सव्व
जहिँ सत्तवसण भय हीण भव्व ।
सोवण्णचूड मंडिय विसेस
सिगार भारकिय णिरवसेस ।
सोहग्ग णिलय जिणधम्म सील
जहिँ माणिणि माण मह्छ लील ।

जहिं चरडचाड-कुसुमाल दुट्ठ
 दुज्जण सखुद्दखलपिसुण धिट्ठ ।
 णवि दीसहिं कहि मिव दुहिय-हीण
 पेमाणुरत्त सव्व जि पवीण ।
 जहिं रेहहिं ह्य-पय दलिय मग्ग
 तंबोलरंग-रंगिय धरग्ग ।

घत्ता

सुहलच्छिज सायरु णं रयणायरु
 वुह्यणजुउ णं इंदउरु ।
 सत्थत्थहिं सोहिउ जणमण मोहिउ
 णं वरणयरहं एहु गुरु ॥
 सन्धि १, कडवक ३

जहिं चोर-चाउ-कुसुमाल दुट्ठ
 दुज्जण-सखुद्द-खल-पिसुणधिट्ठ ।
 णवि दीसहिं कहि महि दुहिय-हीण
 पेम्माणुरत्त सव्व जि पवीण ।
 जहिं रेहहिं ह्य-पय-दलिय-मग्ग
 तंबोलरंगरंगिय धरग्ग ।

घत्ता

सुह लच्छिजसायरु णं रयणयरु
 वुह्यण जुउ णं इंद उरु ।
 सत्थत्थहिं सोहिउ जणमणमोहिउ
 णं वरणयरहं एहु गुरु ॥
 सन्धि १, कडवक ३

प्रस्तुत साहित्यिक इस विधा से कवि माणिककराज का कवि रङ्घू को रचना पासणाहचरिउ^१ से परिचित होना प्रमाणित होता है। पासणाहचरिउ की पाण्डुलिपियाँ आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर और जै० श्वे० शास्त्र भण्डार, रूपनगर, दिल्ली से प्राप्त बताई गयी हैं। इनमें दिल्ली से प्राप्त पाण्डुलिपि का समय विक्रम सम्वत् १४९८ माघ वदी २ सोमवार तथा जयपुर की पाण्डुलिपि का समय विक्रम सम्वत् १७४३ माघ चन्द्रवार बताया गया है।^२

इन उल्लेखों से कवि माणिककराज का समय विक्रम संवत् १४९८ से अमरसेनचरिउ के रचना काल विक्रम संवत् १५७६ के मध्य का ज्ञात होता है। कवि को संभवतः पासणाहचरिउ से साहित्य-सृजन की प्रेरणा मिली थी। उनका यह उत्साह अमरसेनचरिउ की रचना करने के पश्चात् भी बना रहा। उन्होंने विक्रम संवत् १५७९ में नागसेनचरिउ भी लिखा।^३ इसके पश्चात् संभवतः कवि काल-कवलित हो गये। अन्यथा वे कोई अन्य रचना अवश्य लिखते।

कवि के मूल निवास स्थान के सन्दर्भ में कवि की कृतियों का अन्तः-

१. रङ्घू ग्रन्थावलि : भाग १, ई० १९७५, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (महाराष्ट्र) प्रकाशन, पृ० ४ ।
२. वही, भूमिका : पृ०-प्रथम ।
३. अनेकान्तः वर्ष १०, किरण ४-५, पृ० १६०-१६२ ।

परीक्षण करने से ज्ञात होता है कि कवि ने अपनी दोनों रचनाओं में वृन्देली बोली के अनेक शब्दों का व्यवहार तथा पासणाहचरिउ के अंश को आत्मसात किया है। इसी प्रकार कवि की रचनाओं में जिस संघ, गच्छ, गण के भट्टारकों का उल्लेख हुआ है उन भट्टारकों के नामों का रङ्घू साहित्य में भी उल्लेख हुआ है।^१

स्व० पं० परमानन्द शास्त्री ने कवि की कृति नागसेनचरिउ से कवि के परिचयात्मक एक यमक का उल्लेख देते हुए लिखा है कि कवि माणिक्यकराज कहाँ के निवासी थे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे वहाँ के जिन मन्दिर में निवास करते थे जिसमें आदिनाथ तीर्थकर की दिव्यमूर्ति विराजमान थी।^२

कवि के समय की एक भव्य ५७ फुट ऊँची आदिनाथ की प्रतिमा ग्वालियर के किले में विराजमान है। इस प्रतिमा की आसन पर १९ पंक्ति का लेख है। इस लेख की प्रथम पंक्ति में प्रतिमा की प्रतिष्ठा का समय वि० सं० १५२५ उत्कीर्ण है। चौथी पंक्ति में—श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारके श्री हेमकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भी अंकित है।^३ डॉ० राजाराम जैन के अनुसार इस प्रतिमा का प्रतिष्ठा-कार्य कवि रङ्घू के द्वारा सम्पन्न हुआ था।^४

इन उल्लेखों के आलोक में यह स्वीकार किया जा सकता है कि कवि माणिक्यकराज विक्रम संवत् १५२५ के आसपास ग्वालियर किले के इस आदिनाथ मन्दिर में रहते थे। कालान्तर में अपनी आम्नाय के भट्टारकों की प्रेरणा से वे रोहतक चले गये और वहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर में रहने लगे थे।

कवि की रचनाएँ

कवि माणिक्यकराज की अब तक दो रचनाएँ अमरसेनचरिउ और नागसेनचरिउ प्राप्त हुई हैं। ये दोनों पाण्डुलिपियाँ अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी हैं। दोनों ग्रन्थों की एक-एक प्रति आमेरशास्त्र भंडार, जयपुर में सुर-

१. रङ्घूग्रन्थावलि : वही, भूमिका पृ० ९।
२. तहि जिणवरं मंदिरु धवलु भव्वु। सिरि आइणाह जिणविवु दिव्वु ॥ अनेकान्तः वर्ष १०, किरण ४-५।
३. यह प्रतिमा लेख लेखक के अभिलेख संग्रह में सुरक्षित है।
४. रङ्घूग्रन्थावलि : भाग १, वही, भूमिका, पृ० ९।

क्षित हैं। ये दोनों ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित ही हैं। इनका परिचय निम्न प्रकार है।

(अ) अमरसेनचरित

इस ग्रन्थ में कुल सात सन्धियाँ, एक सौ चौदह कडवक तथा एक हजार सात सौ इकतालीस यमक-पद हैं। सन्धियों का आरम्भ ध्रुवक छन्द से तथा अन्त घत्ता छन्द से हुआ है। सन्धियों के अनुसार कडवक और यमक-पद संख्या इस प्रकार है—

सन्धि क्रमांक	कडवक संख्या	यमक-पद संख्या
१	२२	३७६
२	१३	२११
३	१३	१७७
४	१३	२५०
५	२४	३८७
६	१४	१४५
७	१५	१९५
	<u>११४</u>	<u>१७४१</u>

छन्द-परिचय : कवि स्वयम्भू के अनुसार यमक दो पदों का होता है। उन्होंने आठ यमकों के समूह को कडवक संज्ञा दी है तथा सोलह मात्राओं वाले पद में पद्धडिया नाम का छन्द बताया है। घत्ता छन्द के प्रथम और तृतीय पाद में नौ तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में चौदह-चौदह मात्राओं का उल्लेख किया है। सर्वसम चतुष्पदी घत्ता छन्द के प्रत्येक चरण में बारह-बारह मात्राएँ होती हैं। जब इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं तब प्रथम और द्वितीय पाद के आदि में गुरु वर्ण होता है।^१

प्रस्तुत ग्रन्थ के कडवकों में आठ से कम यमक किसी भी कडवक में नहीं हैं। एक कडवक में अधिकतम यमक संख्या चौबीस है। यमकों में पद्धडिया छन्द व्यवहृत हुआ है। घत्ता छन्द के विविध रूप प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थ के आदि और अन्त में ग्रन्थ रचना के प्रेरक चौधरी देवराज का वंश

१. जैन विद्या : अंक एक, जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, ई० अप्रैल १९८४ प्रकाशन में देखें स्वयंभू छन्दस : एक अध्ययन शीर्षक लेख।

परिचय दिया गया है। ग्रन्थ समाप्ति के पश्चात् प्रतिलिपि करानेवाले श्रावक की परिचयात्मक प्रशस्ति दी गयी है जिसमें प्रतिलिपि के समय और स्थान का उल्लेख किया गया है।

ग्रन्थ का इतना परिचय देने के पश्चात् ग्रन्थ की संक्षिप्त विषय-वस्तु का अंकन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है अतः वह इस प्रकार है—

राजा श्रेणिक के तीर्थंकर महावीर से यह पूछने पर कि जाति से हीन ग्वाल-बाल स्वर्ग कैसे गया ? इस प्रश्न के उत्तरमें गौतम गणधर ने कहा— उसका नाम धण्णकर तथा उसके छोटे भाई का नाम पुण्णकर था। दोनों भाई जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में ऋषभपुर नगर के सेठ अभयंकर के यहाँ कर्मचारी के रूप में रहते थे। एक दिन दोनों भाई परस्पर में पुण्य-पाप के फलों पर विचार करते हुए सांसारिक क्षणभंगुरता का अनुभव करते हैं। इन्द्रिय-विषयों से हटकर आत्म-स्वरूप ध्याते हैं। वे सम्यक्त्व से प्रीति जोड़ते हैं और मिथ्यात्व तोड़ते हैं।

सेठ अभयंकर इनके धार्मिक-स्नेह एवं तत्त्व-रुचि से प्रभावित होकर इन्हें स्नान कराकर और शुद्ध वस्त्र पहिनाकर जिन मन्दिर ले जाता है। सेठ इन्हें चढ़ाने को द्रव्य देता है किन्तु वे नहीं लेते। वे निज द्रव्य से ही जिनेन्द्र की पूजा करना चाहते हैं। उनकी मान्यता थी कि पूजा में जिसकी द्रव्य चढ़ाई जाती है पूजा का फल उमें ही प्राप्त होता है। अपनी मान्यता के अनुसार अर्थाभाव के कारण वे पूजा न कर सके। मुनि विश्वकीर्ति ने इन्हें व्रत, उपवास आदि का उपदेश दिया। भोजन-सामग्री सामने आने पर इन्होंने मुनियों को आहार कराने के भाव किये। दैवयोग से चारग मुनि वहाँ आये। दोनों भाइयों ने अपनी-अपनी भोजन सामग्री से मुनियों को आहार दिये। दोनों मुनि आहार लेकर आकाश मार्ग से विहार कर गये।

[प्रथम सन्धि]

इसके पश्चात् सेठ अभयंकरने धण्णकर और पुण्णकर दोनों भाइयों को भोजन करने के लिए कहा किन्तु उन्होंने भोजन नहीं किया। चारों प्रकार के आहार का त्याग करके नमस्कार मन्त्र जपते हुए समाधिमरण करके दोनों भाई सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुए।

स्वर्ग से चय कर दोनों जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कलिंग देश के दल-वट्टण नगर के राजा सूरसेन और रानी विजयादेवी के पुत्र हुए। बड़े भाई का नाम अमरसेन और छोटे भाई का नाम वइरसेन रखा गया। राजा सूरसेन हस्तिनापुर के राजा देवसेन को बहुत चाहता था। वह

सपरिवार हस्तिनापुरमें ही रहने लगा था। राजा देवसेनकी रानी देवश्री अमरसेन-वइरसेन को देखकर पहले तो उनके शारीरिक-सौन्दर्य और पराक्रम पर आकृष्ट होती है किन्तु बाद में वह उनसे ईर्ष्या करने लगती है। वह उन पर दोषारोपण करती है। अपने शील भंग करने की कोशिश करने का आरोप लगाकर राजा से उनका घात कराना चाहती है। राजा देवदत्त रानी देवश्री पर विश्वास करके उन दोनों कुमारों पर रुष्ट हो जाता है तथा चाण्डालों को उन्हें प्राणदण्ड देने का आदेश दे देता है।

चाण्डाल कुमारों को देखकर राजा के इस अत्रिवेक पूर्ण निर्णय की निन्दा करते हैं। वे इन दोनों भाइयों का घात नहीं करते। दूर चले जाने के लिए कहकर मुक्त कर देते हैं तथा लाक्षादि से रजित दो कटे हुए सिर ले जाकर राजा देवसेन को कुमारों के वध की सूचना दे देते हैं।

दोनों कुमार चलते-चलते एक सघन वन में पहुँचते हैं। राह चलते-चलते थक जाने के कारण एक वृक्ष के नीचे वे विश्राम करते हैं। वृक्ष पर रहने वाला यक्ष दम्पति कुमारों के सौन्दर्य को देखकर उन पर मुग्ध हो जाता है। कीर और कीरी के वेप में वह यक्ष दम्पति कुमारों को दो आम्रफल लाकर देता है। बड़ा आम्रफल अपने भक्षण करने वाले को सात दिन में राज्य प्राप्त करानेवाला और छोटा आम्रफल अपने भक्षण करनेवाले को कहुला करने पर पाँच सौ रत्न देने वाला था। दोनों फल वइरसेन को प्राप्त हुए। उसने बड़ा फल अमरसेन को दिया तथा छोटे फल से स्वयं रत्न प्राप्त कर दिव्य भोग भोगने लगा।

[द्वितीय सन्धि]

रात्रि-विश्राम के पश्चात् दोनों कुमार कंचनपुर के नन्दन वन आये। वइरसेन भोजन सामग्री लाने के बहाने कंचनपुर गया। अमरसेन वन में एकाकी रहा। इसी बीच कंचनपुर के राजा का मरण हुआ। सुयोग्य उत्तराधिकारी के अभाव में मंत्रियों ने हाथी द्वारा अभिषिक्त पुरुष को राजा बनाये जाने का निश्चय किया। सूँड पर कलश देकर हाथी नगर में घुमाया गया किन्तु नगर-भ्रमण के पश्चात् वह नन्दन वन की ओर गया। वहाँ उसने कुमार अमरसेन का अभिषेक किया। मंत्रियों और नगर-वासियों ने अमरसेन को कंचनपुर का राजा घोषित किया। राजा बनने के पश्चात् अपने भाई वइरसेन के कंचनपुर से लौट कर न आने के कारण चिन्तित होकर अमरसेन ने भाई को खोज कराई किन्तु वह उसे नहीं मिला। अन्त में निराश होकर राज्य करने लगा।

इधर भोजन सामग्री लाने के लिए जैसे ही वइरसेन ने कंचनपुर में प्रवेश किया कि उसकी एक वेश्या से भेंट हुई। वह उसके घर रहने लगा और अपने कंचनपुर में होने का पता अपने भाई को नहीं लगने दिया। वह भाई के आगे हीनता प्रकट नहीं करना चाहता था। वेश्या ने भी इसकी आय का स्रोत ज्ञात कर इसे अपने घर से निकाल दिया। वह वेश्या से अपना गुप्त भेद प्रकट करने पर बहुत पछताया।

[तृतीय सन्धि]

इसके पश्चात् वइरसेन नगर के बाहर स्थित एक मन्दिर में गया। दैवयोग से किसी योगी को मारकर उसके द्वारा सिद्ध की गयी विद्या स्वल्प कथरी, लाठी और पाँवड़ी तीन वस्तुएँ चुराकर चार चोर उसी मन्दिर में आये। वस्तुएँ तीन और चोरों की संख्या चार होने से चोर परस्पर में झगड़े। वइरसेन ने उन्हें वस्तुओं के बटवारे का आश्वासन दिया। चोरों ने आश्वस्त होकर वस्तुओं का माहात्म्य बताते हुए तीनों वस्तुएँ वइरसेन को दीं। ठगों को महाठग मिठा। वइरसेन वस्तुएँ लेकर और पाँवड़ी पहिनकर एकाएक आकाश में उड़ गया तथा कंचनपुर आ गया। चोर हाथ मलते रह गये और पश्चाताप करते हुए अपने-अपने घर चले गये।

वइरसेन कथरी झड़ाकर प्रतिदिन पाँच सौ रत्न प्राप्त करने लगा। पुनः उसके दिन पूर्ववत् आनन्दपूर्वक बीतने लगे। एक दिन वेश्या ने उसे देखा। कपट पूर्ण मीठी-मीठी बातें करके वह उसे फिर घर ले गयी। उसने वइरसेन से उसकी आकाशगामिनी पाँवड़ी को पाने के लिए कामदेव मन्दिर की यात्रा कराने का निवेदन किया। वइरसेन उसे समुद्र के बीच टापू पर बने कामदेव के मन्दिर ले गया। यहाँ वह जैसे ही मन्दिर के सौन्दर्य-दर्शन में व्यस्त हुआ कि अवसर पाकर वेश्या उसकी पाँवड़ी लेकर कंचनपुर आ गयी।

वइरसेन अपने ठगे जाने से उदास हो गया। इसी बीच वहाँ एक विद्याधर आया और उसने इसे कंचनपुर पहुँचाने का आश्वासन दिया। वह तीन दिन बाद पुनः आने का वचन देकर चला गया। जाते समय उसने इसे मन्दिर के पीछे जाने को मना किया। यह नहीं माना। वहाँ गया और एक वृक्ष का इसने फूल सूँघा। फूल सूँघते ही वह गधा बन गया। विद्याधर ने आकर इसे नहीं पाया। इसके स्थान में उसे गधा दिखाई दिया। वह रहस्य समझ गया। उसने दूसरे वृक्ष का फूल

लाकर गधे को सुँघाया। गधा वइरसेन बन गया। पश्चात् गुप्त रूप से दोनों प्रकार के फूल लेकर विद्याधर की सहायता से वइरसेन कंचनपुर आया।

इसकी पुनः वेश्या से भेंट हुई। वेश्या ने कपटपूर्वक विद्याधर द्वारा अपने कंचनपुर भेजे जाने तथा पाँवड़ी अपने साथ ले जाने का वृत्त इससे कहा। पश्चात् प्रश्न किया कि मन्दिर से क्या लाये हैं? वइरसेन ने बदले की भावना से उसे अपने द्वारा लाये गये फूल दिखाये तथा वृद्ध को युवा रूप देना उनका महत्त्व बताया। लोभाकृष्ट होकर वेश्या ने फूल लिया और जैसे ही सुँघा कि वह गधी बन गयी। वइरसेन ने उस पर सवार होकर उसे बहुत मारा तथा नगर में घुमाया। उसकी सहायता के लिए भेजे गये राजबल को वइरसेन ने यष्टि (विद्या) के द्वारा पीछे खदेड़ दिया। अन्त में कुपित होकर स्वयं राजा आया। उसने वइरसेन को ललकारा किन्तु जब दोनों आमने-सामने पहुँचे तो दोनों ने एक दूसरे को पहिचान लिया। दोनों गले लगकर मिले।

[चतुर्थं सन्धि]

राजा अमरसेन के पूछने पर वइरसेन ने अपनी तीनों वस्तुओं की प्राप्ति, वेश्या की मन्मथ-मन्दिर-यात्रा, वेश्या द्वारा कपटपूर्वक आम्रफल तथा पाँवड़ी के लिये जाने और वेश्या के गधी बनाये जाने तक के सभी समाचार बताये। पश्चात् अमरसेन के कहने पर वइरसेन ने उस गधी को दूसरा फूल सुँघाकर वेश्या बनाया तथा उसमें अपना आम्रफल और पाँवड़ी दोनों वस्तुएँ प्राप्त कीं। इसके पश्चात् वे युवराज बनाये गये। उन्होंने दिग्विजय की तथा अमरसेन का एक-छत्र राज्य हुआ। वइरसेन राजा देवदत्त और देवश्री को सादर ले आये तथा उन्हें सिंहासन पर बैठाया।

एक दिन दोनों भाइयों ने चारण मुनियों को आहार कराये। उन्हें अपना पूर्वभव याद आया। वे नगर लौटे। उन्होंने चतुर्विध दान दिया तथा मुनि से धर्मोपदेश सुनकर बारह व्रत धारण किये। पूर्वभव में पाँच कौड़ियों के मोल से ली गयी द्रव्य के द्वारा की गधी पूजा के फल स्वरूप वइरसेन को आम्रफल, कथरी, पाँवड़ी और यष्टि वस्तुओं की प्राप्ति तथा स्वयं के मोक्ष प्राप्ति का भविष्यवाणी सुनकर अमरसेन ने आचार्य देवसेन की वन्दना की। दोनों भाइयों ने उनसे केशलोच करके महाव्रत लिये। दोनों ने बारह प्रकार का तप तपा, तीर्थों की वन्दनाएँ कीं और विहार करते हुए वे नन्दन वन आये।

राजा देवसेन और रानी देवश्री ने इन दोनों मुनियों की वन्दना की तथा उनसे सम्प्रक्त्व के कारण-स्वरूप जिनेन्द्र-पूजा का माहात्म्य जाना । कुसुमावलि और कुसुमलता की जिनेन्द्र अर्चा का फल समझा । प्रीतंकर के द्रष्टान्त द्वारा जिन-पूजा की अनुमोदना का फल ज्ञात किया ।

[पञ्चम सन्धि]

मुनि अमरसेन ने राजा देवसेन को जिन-पूजा का माहात्म्य समझाने के लिए राजगृही के मेंढक की पूजा सम्बन्धी कथा सुनाई । उन्होंने बताया कि राजगृह नगर में नागदत्त नामक एक सेठ था । उसकी सेठानी का नाम भयदत्ता था । नागदत्त आर्त्तध्यान से मरकर अपने घर की समीपवर्ती वापी में मेंढक हुआ । भयदत्ता जब पानी भरने जाती, वह मेंढक पूर्व स्नेह के कारण उसके आगे-आगे उछलता तथा उसका आँचल पकड़ता था । एक दिन भयदत्ता ने सुव्रत मुनि की वन्दना की । उनसे उसे मेंढक पूर्व पर्याय का पति ज्ञात हुआ । उसने स्नेह वश मेंढक को वहाँ से लाकर एक गहरी बावली में रखा तथा उसे जिनेन्द्र-भाषित धर्म समझाया ।

विपुलाचल पर्वत पर तीर्थंकर महावीर का समवशरण आने पर राजा श्रेणिक अपने नगरवासियों के साथ उनको वन्दना के लिए गये थे । मुँह में कमल-पुष्प की पाँखुड़ी दबाकर उक्त मेंढक भी पूजा के भाव से राजा श्रेणिक के साथ जा रहा था । भीड़ के कारण अपनी सुरक्षा की दृष्टि से वह राजा श्रेणिक के हाथी के नीचे चल रहा था । अचानक वह हाथी के पैर के नीचे आ गया और दबकर मर गया । पूजा के भाव रहने के फल-स्वरूप वह मरकर देव हुआ ।

मुनि अमरसेन ने राजा देवसेन को कुसुमांजलि व्रत का माहात्म्य भी समझाया था । उन्होंने उन्हें बताया था कि इसी व्रत की साधना से मदन-मंजूषा स्वर्ग गयी और राजा रत्नशेखर तथा सेनापति घनवाहन मोक्ष गये । उन्होंने यह कथा बताते हुए कहा कि रत्नशेखर—राजा वज्रसेन और रानी जयावती के पुत्र थे । विद्याधर घनवाहन उनका मित्र था । दोनों ने अट्टाई द्वीप के जिनालयों की वन्दना की थी । इस यात्रा में रत्नशेखर ने सिद्धकूट जिनालय में मदनमंजूषा को देखा था । दोनों परस्पर पर मुग्ध थे । मदनमंजूषा के कहने पर उसके पिता ने उसका विवाह रत्नशेखर के साथ कर दिया था ।

घनवाहन के चारण मुनि अमितगति से रत्नशेखर और मदनमंजूषा की प्रीति का कारण पूछने पर मुनि ने उसे बताया था कि पूर्वभव में

रत्नशेखर प्रभावती नामक कन्या, घनवाहन उस कन्या के पिता, श्रुतकीर्ति पुरोहित और मदनमंजूषा प्रभावती की बन्धुमती नाम की माता थी। श्रुतकीर्ति मुनि हो गये थे। सर्प के काटने से बन्धुमती का मरण हुआ और श्रुतकीर्ति अपने पद से विचलित हुए। प्रभावती ने सन्मार्ग न छोड़ने को उसे बहुत समझाया। वह रुष्ट हुआ। उसे विद्यार्थे सिद्ध थीं अतः उसने विद्या भेजकर प्रभावती को बलात् मँगवाकर प्रथम तो एक निकटवर्ती वन में रखा किन्तु बाद में उसे उसने कैलास पर्वत पर छोड़वा दिया।

यहाँ प्रभावती की देवी पद्मावती से भेंट हुई। उसने यहाँ देवों को पूजा करते देखा। उसने पद्मावती देवी से देवों की पूजा सम्बन्धी जानकारी ली और कुसुमांजलि व्रत की विधि ज्ञात की। देवी की प्रेरणा से उसने यह व्रत लिया। मुनि त्रिभुवनचन्द्र से अपनी तीन दिन की आयु शेष ज्ञात करके इसने महातप धारण किया। इसके पिता श्रुतकीर्ति ने विद्या भेजकर इसका तप भंग करना चाहा किन्तु वह सफल नहीं हुआ। प्रभावती ने समाधिमरण किया तथा वह अच्युत स्वर्ग में पद्मनाथ नामक देव हुई। इस देव ने अवधिज्ञान से श्रुतकीर्ति को अपने पूर्वभव का पिता तथा बन्धुमती को माता जानकर पृथिवी पर आकर उन्हें निज बोध कराया। फलस्वरूप श्रुतकीर्ति कुसुमांजलि व्रत पूर्वक मरकर अच्युत स्वर्ग में ही सामान्य देव हुआ तथा बन्धुमती इसी स्वर्ग में कमला नाम की अप्सरा हुई। स्वर्ग से चयकर देव पद्मनाथ रत्नशेखर, श्रुतकीर्ति का जीव घनवाहन और कमला मदनमंजूषा हुई। इनमें रत्नशेखर और घनवाहन केवली होकर मोक्ष गये तथा मदनमंजूषा तप करके स्वर्ग गयी।

[षष्ठं सन्धि]

मुनि अमरसेन ने राजा देवसेन को वैश्य भूषण भरत और त्रिलोक-मण्डन हाथी द्वारा धारण किये गये कुसुमांजलि व्रत का महत्त्व भी समझाया। उन्होंने उन्हें उनके पूर्वभवों का ज्ञान कराने के लिए बताया था कि राम के वनवास से लौटने पर भरत दीक्षा लेने तत्पर थे। राम ने उन्हें रोकने के लिए जलक्रीड़ा का भी प्रबन्ध किया किन्तु वे सफल नहीं हो सके। इसी बीच त्रिलोक मण्डन हाथी उन्मत्त अवस्था में अपना बन्धन तोड़कर नगरवासियों को सताता हुआ वहाँ आया जहाँ भरत थे। वह भरत को देखकर शान्त हो गया था।

भरत ने हाथी के शान्त हो जाने का कारण मुनि देशभूषण से पूछा। मुनि ने भरत को बताया था कि सूर्योदय और चन्द्रोदय वह और यह हाथी

दोनों पूर्वभव में दो भाई थे। ये तप त्यागकर राज्य करने लगे थे। आयु के अन्त में वे आर्त्तध्यान से मरे और मरकर स्त्री पर्याय में भटकने के पश्चात् चन्द्रोदय (भरत का जीव) कुलंकर नाम का राजपुत्र और सूर्योदय (त्रिलोकमण्डन हाथी का जीव) विश्रतास मंत्री का श्रुति नामक पुत्र हुआ। आयु के अन्त में मरकर तिर्यंच हुए पश्चात् राजगृह नगर में विनोद और रमन नाम से ब्राह्मण के घर जन्मे। इस योनि के बाद दोनों हरिण दम्पति हुए। हरिणों भोल द्वारा मारी गयी और रमन के जीव हरिण को एक मन्दिर के निकट रहने का योग मिला। वह जिन-पूजा के भावपूर्वक मरा और स्वर्ग गया तथा विनोद का जीव तिर्यंच योनि से छूटकर धनद नाम का वैश्य हुआ। स्वर्ग से चयकर रमन का जीव इसका भूषण नाम का पुत्र हुआ। विषयों से विरक्त होकर वह सर्प-दंश से मरा और माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ। स्वर्ग से चयकर भोगभूमि में जन्मा और पुनः स्वर्ग गया तथा पुनः स्वर्ग से चयकर अभिराम नाम का चक्रवर्ती हुआ। इस पर्याय में इसने चार हजार कन्याओं को विवाहा था। विवाह करके वह उनमें आसक्त नहीं हुआ। उसने श्रावक के व्रत लिये। अन्त में यह शुद्ध भावों से मरा और ब्रह्म स्वर्ग में देव हुआ। इसका पिता धनद वैश्य अनेक यानियों में भटकने के पश्चात् पोदनपुर में अग्निमुख ब्राह्मण का मृदुमति नामक पुत्र हुआ। इसने वेश्यावृत्ति में धन गँवाकर चोरी की। एक दिन यह चन्द्रपुरी नगरी के राजमहल में चोरी करने गया। वहाँ इसने राजा को रानी से यह कहते हुए सुना कि प्रातः वह तप ग्रहण कर लेगा और रानी को यह कहते हुए सुना कि राजा के तप ग्रहण करने पर वह भी तप ग्रहण कर लेगी। मृदुमति ने राजा और रानी के वार्तालाप को सुनकर संसार को निस्सार जाना और उसने भी महाव्रत धारण करने का निश्चय किया। प्रातः तीनों महाव्रती हो गये। मृदुमति मुनि होकर विहार करने लगा। हस्तिनापुर के निकट गुणनिधि नामक चारण मुनि विराजमान थे। वे मासोपवासी महान् तपस्वी थे। अपना योग पूर्ण करके वे तो अन्यत्र विहार कर गये और मृदुमति विहार करता हुआ वहाँ आया। इसके चर्या के लिए नगर में आने पर नगरवासियों ने इसे चारण मुनि जाना और इसका भव्य स्वागत किया। सस्नेह इसे आहार दिये। पूछने पर मृदुमति मौन रहा। उसने यथार्थता प्रकट नहीं होने दो। इसके फल-स्वरूप मृदुमति ने तिर्यंचगति का बन्ध किया और मरकर ब्रह्म स्वर्ग में देव तथा स्वर्ग से चयकर त्रिलोकमण्डन हाथी हुआ। अभिराम ब्रह्म स्वर्ग से चयकर भरत हुआ। भरत को देखकर त्रिलोकमण्डन को जातिस्मरण

हुआ। यह कारण है कि वह भरत को देखकर अपने पूर्वभव में किये दुराचरण पर पश्चाताप करते हुए शान्त हो गया था। उसने अणुव्रत धारण किये थे और भरत ने तिलक लगाकर उसे मुक्त कर दिया था। नगरवासी उसे खिलाने-पिलाने लगे थे। कुमुमांजलि व्रत के प्रभाव से उसकी जग में प्रसिद्धि हुई और भरत सिद्ध हुए।

मुनि अमरसेन ने राजा देवदत्त को यह भी बताया था कि ग्वाल धनदत्त जिन-पूजा के प्रभाव से मरकर स्वर्ग गया और स्वर्ग से चयकर करकण्डु नामक राजा हुआ। इस प्रकार मुनि अमरसेन से जितेन्द्र पूजा का माहात्म्य सुनकर राजा देवसेन राजमहल लौटे। अमरसेन और वडरसेन ने घोर तप किया तथा संन्यास मरण करके वे दोनों ब्रह्मस्वर्ग गये। यह भी कहा गया है कि स्वर्ग से चयकर दोनों मनुष्य पर्याय में जन्मेंगे तथा तप करके सिद्ध होंगे।

[सप्तम सन्धि]

नागसेनचरित

पण्डित माणिक्यराज की यह दूसरी रचना है। इसकी प्रतिलिपि-पाण्डुलिपि आमेरशास्त्र भण्डार श्रीमहावीरजी में है। इसके कुल पत्र एक सौ चौबीस हैं। आरम्भिक दो पृष्ठ नहीं हैं। पत्र दस इंच लम्बे तथा साढ़े चार इंच चौड़े हैं।^१ प्रत्येक पृष्ठ में ग्यारह पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्ति में पैंतीस से चालीस तक अक्षर हैं। यह नौ सन्धियों में समाप्त हुआ है। कुल यमक संख्या तीन हजार तीन सौ है। आरम्भ में सम्भवतः कवि ने अपना परिचय लिखा था।

रचनाकाल : प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति में इस सन्दर्भ में दिये गये चार यमक द्रष्टव्य हैं—

लेस मुणीस वि सर अंका ले । विक्कमरायह ववगय काले ॥
फागुण चंदिण पखि ससि वालें । पगरह सइ गुणासियउर वालें ॥
सिरि पिरथीचंदुपसायं सुंदरु । णवमी सुह णक्खित्तु सुह्व लें ॥
सज्जणलोयह विणउ करेप्पिणु । हुउ परिपुणु कव्वु रसमंदिरु ॥^२

यहाँ प्रथम पंक्ति में कवि ने लेस शब्द को पङ्क लेश्याओं का प्रतीक मानकर छः अंक का, मुणीस को सर्पि का प्रतीक मानकर सात अंक का

१. प्रशस्ति संग्रह : श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी जयपुर ई० १९५० प्रकाशन, पृष्ठ ११३।
२. वही, पृष्ठ ११५।

और सर को कामदेव के पाँच वाणों का प्रतीक मानकर पाँच अंक का बोध कराया है। एक अंक के बोध हेतु यहाँ उन्होंने तीसरी पंक्ति में पृथिवी और चंदु शब्द दिये हैं। इनसे यहाँ यही अर्थ ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के १५७६ वर्ष निकल जाने के पश्चात् विक्रम संवत् १५७९ फाल्गुन सुदी नवमी तिथि चन्द्रवार के दिन शुभ नक्षत्र में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

समर्पण : पूर्ण होने पर कवि ने यह ग्रन्थ साहु जगसी जायसवाल के पुत्र टोडरमल्ल को समर्पित किया था। टोडरमल्ल ने ग्रन्थ हाथों में लेकर उसे अपने सिर पर विराजमान किया था तथा महोत्सव आयोजित करके उसमें उन्होंने कवि को कंकण, कुण्डल और अँगूठियाँ तथा अन्य वस्त्राभूषण देकर सम्मानित किया था। कवि ने इस सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

टोडरमल्लहृत्थे दिण्णु सत्थु । तं पुण्णु करेप्पिणु एहु गंथु ॥
दाणेसेयं सहकर णु त (सो) पि । णिय सिरह चडाविउ तेण गंथु ॥
पुणु सम्माणुउ बहु उच्छवेण । पंडिउ चर पट्टहि थविऊ तेण ॥
अंगुलियहि मुद्रिय णिय करेहि । वर वत्थइ कंकण कुंडलेहि ॥
पुज्जिउ आहरणहि पुणु तुरंतु । हरिरोवि विसज्जिउ विणय वि जुत्तु ॥
गउ णिय घरि पंडिउ गंथि तेण । जिण गेह णियउ बहु उत्थवेण ॥
तहि मुणिवर विदहि सुत्थ गंथु । दिशणउ गुरहत्थे सिवह पंथु ॥^१

प्रतिलिपि : इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि का शाहनशाह हुमाऊँ के शासन-काल में विक्रम संवत् १५९२ पौष वदी पंचमी मंगलवार के दिन पालम्ब नगर में जायसवाल अन्वय के भंडारी गोत्र से विभूषित विनय वागेश्वरी सुनखी के पंचमी व्रत-उद्यापन के उपलक्ष्य में उसके तीसरे पुत्र के ज्येष्ठ गुणवान् पुत्र शाह दासू ने कराई थी। प्रतिलिपि प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

अथ संवत्सारेऽरिमन् श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्ये संवत् १५९२ तत्र
पोष मासे कृष्णपक्षे पंचम्यां तिथौ भौमवासरे श्री पालंब शुभस्थाने
श्री पातिसाहि हुमायूँ राज्य प्रवर्त्तमाने श्री कालासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे
श्री भट्टारक श्री मलयकीर्त्तिदेवरत्पट्टे भट्टारक श्री गुणभद्रदेवान्तत्पट्टे
मुनि क्षीमकीर्त्तिदेवास्तदाम्नाये मुनि श्री धर्मभूषणदेवास्तदाम्नाये ब्रह्मचारी
मुनि छाजू तत् शिष्य श्री मुनि ब्रह्मचारि पण्णा एतत् इक्ष्वाकुवंशे श्री गोत्रे

१. वही, पृष्ठ ११५।

भंडारी श्री जयसवाल वंशाम्नाये श्री पंचदशलाक्षणोकव्रतपालकान् पंचमी उद्धरण धीर साधुवस्थावंसे तस्य भार्या शीलतोयतरंगिनी विनय वागेश्वरी तस्य नाम सुनखी । तत्पुत्र तृतीय ज्येष्ठ पुत्र गुण गरिष्ठ साधु दासू.....।

भट्टारक

पंडित माणिकराज ने अपनी गुरु परम्परा के सन्दर्भ में पाँच निर्ग्रन्थ साधुओं का नामोल्लेख किया है । वे हैं—खेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और पद्मनन्दि ।^१ ये किस संघ, गण, गच्छ के थे इसका कवि ने उल्लेख नहीं किया है । उन्होंने यह अवश्य कहा है कि ये एक ही पट्ट पर एक के बाद एक आसीन होते रहे । पट्ट-परम्परा भट्टारकों में प्रचलित रही है । अतः ये साधु भी भट्टारक ज्ञात होते हैं ।

रङ्गू साहित्य में रङ्गू-कालीन भट्टारकों में गुणकीर्त्ति, यशःकीर्त्ति, पालहब्रह्म, खेमचन्द्र, मलयकीर्त्ति, गुणभद्र, विजयसेन, खेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, कमलकीर्त्ति, शुभचन्द्र और कुमारसेन के नाम आये हैं तथा इन्हें काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण से सम्बन्धित बताया गया है ।^२

अमरसेनचरिउ में उल्लिखित साधुओं में खेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति और कुमारसेन के नामों का उल्लेख रङ्गू साहित्य में काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण के भट्टारकों के साथ किये जाने से अमरसेनचरिउ में उल्लिखित लेखक की गुरु परम्परा से सम्बन्धित सभी साधु काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण के भट्टारक रहे ज्ञात होते हैं ।

अमरसेनचरिउ की प्रतिलिपि-प्रशस्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिलिपिकार काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण के भट्टारकों की आम्नाय का था तथा इस आम्नाय की सोनीपत में संवत् १५७७ में गद्दी विद्यमान थी । इस प्रशस्ति में रङ्गूकालीन इस संघ, गण, गच्छ के चार भट्टारकों के नामों का उल्लेख हुआ है । वे हैं—गुणकीर्त्तिदेव, यशकीर्त्तिदेव, मलयकीर्त्तिदेव और गुणभद्रसूरिदेव ।

कवि माणिकराज की दूसरी रचना नागसेनचरिउ की प्रतिलिपि प्रशस्ति में भी काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण के भट्टारकों का उल्लेख हुआ है । जिन भट्टारकों के नाम आये हैं, वे हैं—मलयकीर्त्तिदेव, गुणभद्रदेव, क्षी (क्षे) मकीर्त्तिदेव और धर्मभूषणदेव ।^३

१. अमरसेनचरिउ : सन्धि-१, कडवक दूसरा ।
२. रङ्गू ग्रन्थावलि भाग १, वही, भूमिका पृष्ठ ९ ।
३. दे० इस प्रस्तावना में नागसेनचरिउ--परिचय ।

काष्ठा संघ का सर्वाधिक प्राचीन अभिलेख मध्यप्रदेश में दूबकुण्ड (श्योपुर) से प्राप्त हुआ है। यह विक्रम संवत् ११४५ का है। इस प्रशस्ति में देवसेन नामक एक ऐसे आचार्य का नामोल्लेख है जिन्हें लाडवागड गण का श्रेष्ठ गुरु कहा गया है। कुलभूषण मुनि इनके शिष्य थे और दुर्लभसेन सूरि कुलभूषण मुनि के। दुर्लभसेन के शिष्य थे शान्तिषेण और शान्तिषेण के शिष्य थे विजयकोर्त्ति।^१

इससे ठीक सात वर्ष पश्चात् संवत् ११५२ का इसी स्थान के एक स्तम्भ पर अंकित चरणों पर दो पंक्ति का लेख मिला है जिसमें देवसेन को काष्ठासंघ का महाचार्य बताया गया है।^२

इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में ज्ञात होता है कि काष्ठासंघ का लाडवागड एक गण था। इस संघ के चार गण बताये गये हैं—नन्दितट, माथुर, वागड और लाडवागड।^३ पुष्करगण का उल्लेख इस संघ के साथ पन्द्रहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ ज्ञात होता है। पंचास्तिकाय विक्रम संवत् १४६८ में काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण के श्रावकों द्वारा लिखाया जाना इस तथ्य का प्रमाण है।^४

काष्ठासंघ के नन्दितट, माथुर और वागड गण बारहवीं सदी के पूर्व तक संभवतः स्वतंत्र रहे हैं। इसके पश्चात् ही कभी काष्ठासंघ से इनका सम्बन्ध हुआ है। महाचार्यवर्य देवसेन संभवतः काष्ठासंघ के संस्थापक थे। उनकी चरण पादुकाएँ सं० ११५२ में स्थापित किया जाना और उन्हें महाचार्यवर्य कहा जाना इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है।

आचार और सिद्धान्त

पौराणिक ग्रन्थों में मूल कथा के अन्तर्गत आचार एवं सिद्धान्तों का

१. श्री लाटवागटगणोन्नत रोहणाद्रि,
माणिक्यभूतचरितो गुरु देवसनः ॥

—एपिग्राफिया इण्डिका : जिल्द २, पृ० २३२-२४०।

२. संवत् ११५२ वैसा (शा) ख सुदि पंचम्यां। श्री काष्ठासंघ महाचार्यवर्यं
श्री देवसेन पादुका युगलम् ॥

—कनिंघम, आर्कि० सर्व्हे रिपोर्ट : जिल्द २०, पृ० १०२।

३. पं० परमानन्द शास्त्री, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह : भाग २, प्रस्तावना
पृ० ५९।

४. भट्टारक सम्प्रदाय : लेखांक ५५५ पृ० २१७।

आचार्यों ने उल्लेख किया है। इसी प्रकार पं० माणिक्यराज ने अपने इस ग्रन्थ में पूर्वकालीन समस्त परम्पराओं का समावेश किया है।

पुण्य-पाप : धण्णंकर-पुण्णंकर दोनों भाई परस्पर में वार्तालाप करते बताये गये हैं। उनके वार्तालाप के माध्यम से कवि ने पुण्य-पाप सम्बन्धी अपना चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उनमें महान् अन्तर बताया है। उन्होंने पुण्य को सुख का और पाप को दुःख का हेतु माना है—

इह पुन्नपाव अंतर वरिट्ठु ।
 एयइ सुहि एयइ सहहि कट्ठु ॥
 एयइ वि रंक भूवइ वि एवकु ।
 भोयइ भुंजहि रइसुह णिसंक ॥११३१२-१३

कवि के अनुसार सांसारिक वैभव, धन-सम्पदा सब पुण्य के योग से प्राप्त होते हैं (१११९।१७)। गया हुआ द्रव्य पुनः प्राप्त हो जाता है। नष्ट होता हुआ वंश चल जाता है। भव-सागर से पार होने में भी पुण्य सहाई होता है। सुख की प्राप्ति बिना पुण्य-योग के नहीं होती और दुःख पाप-क्रियाओं से ही प्राप्त होता है (११२२।२१-२३)।

श्रावक-कुल : धण्णंकर और पुण्णंकर की बातचीत के माध्यम से कहा गया है कि श्रावक कुल दुर्लभ है। बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। चिन्तामणि रत्न पाकर जैसे कोई समुद्र में फेंक दे तो वह उमें पुनः प्राप्त नहीं कर पाता ऐसे ही मनुष्य-पर्याय और मनुष्य पर्याय पाकर श्रावक कुल की उपलब्धि बार-बार नहीं होता। इस सन्दर्भ में कहा गया है—

रे जीव म जाणिसि वलि लहेसु । मणुयत्तणि सावयकुलिपवेसु ॥
 चित्तामणि लद्धु समुदमज्झि । पडियउ वलि लवभइ केम वुज्झि ॥

—१११७।१५-१६

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दुर्लभ नर भव पाकर धर्म करे। जो ऐसा नहीं करता कवि को दृष्टि में उसका जन्म निरर्थक है। उन्होंने लिखा है—

दुल्लहु णरभउ पाविवि सुधम्म ।
 जो ण करइ तहु इह मणु वजम्म ॥१११७।१८

श्रावक कुल मिलने पर जैनधर्म का पालन करे। जो जीव जैनधर्म का पालन नहीं करता वह भव-भ्रमण करते हुए जैसे-जैसे दुःख पाता है वैसे-वैसे पश्चात्ताप करता है किन्तु पीछे पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं होता। पानो निकलने के पूर्व बाँध बाँध लेने में लाभ है। साँप निकल

जाने पर लकीर को पीटने में जैसे कोई लाभ नहीं है ऐसे ही मनुष्य देह पाकर उसे खो देने में सार नहीं (११४१-४) ।

कवि ने चिन्तन पूर्वक लिखा है कि नर-देह पाकर अपने अंगों को पुण्य कार्यों में लगावे । जो पैर तीर्थाटन करते हैं, जो हाथ जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं, जो कान जिनेन्द्र के गुणों को सुनते हैं, जो नेत्र जिनेन्द्र की छवि निहारते हैं, जो रसना जिनेन्द्र का गुण-गान करती है और जिस हृदय में जिनेन्द्र देव विराजते हैं वे धन्य हैं । उनका होना सार्थक है । धन वही श्रेयस्कर है जो जिनेन्द्र की पाद-पूजा में व्यय होता है । मनुष्य के अंगों और धन की सफलता इसी में है (११०८-११) ।

गतियाँ—कवि ने चार गतियों का उल्लेख किया है । वे हैं—देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक । इनमें सुख मधु-विन्दु के सदृश और दुःख मेरु पर्वत के समान प्राप्त होता है । देवगति में विमान से च्युत होने की छह मास पूर्व से देवों को चिन्ता लग जाती है । इस चिन्ता से उनके हृदय संतप्त हो जाते हैं । उन्हें अकथनीय वेदना होती है । एक-एक कर सेविका देवांगनाएँ विलीन हो जाती हैं ।

मनुष्यगति में, क्षय, खस और खास आदि विविध प्रकार के रोग सताते हैं । माता-पिता, स्त्री-पुत्र और बान्धव आदि के वियोग का दुःख होता है । बध-बन्धन, ताडन, असिघात, दरिद्रता और तिरस्कार जनित दुःख होते हैं । नौ मास पर्यन्त माता के गर्भ में अधोमुख होकर अंगों का संकोच करके जीव इस पर्याय में दुःखी होता है । गर्भ से बाहर निकलने पर इससे आठ गुनी अधिक वेदना सहनी पड़ती है (११४७-१८) ।

तिर्यञ्च गति में शीत, गर्मी, भूख, प्यास, गलकम्बल-छेदन, नुकुली कील का चुभाया जाना, बधिया किया जाना, कंधे पर भार लादा जाना आदि दुःख सहना पड़ता है । जीवन पराधीन रहता है (११५१-२) ।

नरकगति में एक से तीस सागर पर्यन्त दुःख भोगना पड़ते हैं । यहाँ तीव्र ताप और शीतजनित वेदना होती है । वज्रतुंडवाले डाँस काटते हैं । घोर घनों की मार, मुद्गरों के प्रहार और कुठार की चोट सहना पड़ती है । करोंत से जीव दो भागों में विभाजित किया जाता है । कडाह में पकाया जाता है । पापड़ के समान चूर्ण-चूर्ण किया जाता है । सूली पर चढ़ाया जाता है । हाथी दाँत से भेदा जाता है । ऊपर उछाला जाता है, असिपत्रवाले वृक्षों की छाया का सेवन करना होता है । अंगों का छेदन-भेदन होता है । बलपूर्वक गर्म लौहनिर्मित पुतलियों से

आर्लिगन कराया जाता है। राँगा पिघला कर पिलाया जाता है, उन्हीं का मांस उन्हीं ही खिलाया जाता है, पत्थर पर वस्त्र के समान पछाड़ा जाता है, पारे के समान देह के खंड-खंड कर दिये जाते हैं। वह शरीर पुनः मिलकर पहले जैसा हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व और मोह में पड़कर यह जोव चारों गतियों में भटकता है और दुःख सहता है (११५।३-१७)।

सांसारिक-स्थिति : कवि ने मनुष्यों के जीवन, यौवन और धन को अंजुलि के जल की भाँति क्षीण स्वभावो कहा है। संसार में एक हँसते हुए और एक रोते हुए दिखाई देता है। मित्रता, प्रभुत्व और विषय सब क्षणिक हैं। कल का कार्य आज ही कर लेना श्रेष्ठ है क्योंकि कार्य के लिए कल का समय प्राप्त होगा इसका निश्चय नहीं है (११६।१-४)।

कुटुम्ब : कुटुम्ब एक बन्दीगृह है। गृहिणो को बाहें साँकल हैं, पुत्रों का स्नेह बेड़ी है, माता-पिता, बन्धु और मित्र हथकड़ियाँ हैं। शक्ति पाकर भी मनुष्य इन बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता (११७।२-४)। वह कुटुम्ब रूपी जाल में ही फँसा रहता है। कुटुम्ब के लिए कोई भी पाप कर डालता है और अकेला दुःख भोगता है।

यथार्थता यह है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। एक-दो दिन रोकर सभी दुःख मनाते हैं इसके पश्चात् सभी खाने-पीने लगते हैं और सब दुःख भूल जाते हैं (११६।५-६, १९-२१)।

चेतन और शरीर : कवि ने कुटुम्ब में परदेशी बनकर निर्लिप्त भाव से रहना उचित माना है। वे देह को धर्म का साधन अवश्य मानते हैं किन्तु उससे स्नेह करने के वे विरोधी हैं। उन्होंने देह को पुद्गल संज्ञा दी है। उनको मान्यता है कि पुद्गल अपना नहीं है किराये का है। धर्म में बाधा स्वरूप होने पर वह भी त्याज्य है। चेतन इसे छोड़ कर चला जाता है। जाते समय बलपूर्वक कोई भी उसे रोक नहीं पाता (११६।८, १३-१६)।

श्रावक-धर्म : श्रावक-धर्म का मूलाधार सम्यक्त्व है। यह पञ्चोस दोषों से रहित और आठ अंग तथा आठ गुण सहित होता है (११७)। यह अर्हन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अर्हन्त-वाणी पर श्रद्धान से होता है, कुगुरु-कुदेव और कुशास्त्रों को मानने से सम्यक्त्व नहीं होता (११८।१-२)।

सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि चारित्र

मे भ्रष्ट मुनि और अपने मार्ग से च्युत श्रावक भी सिद्ध हो जाते हैं किन्तु सम्यक्त्व के बिना कोई भी सिद्ध नहीं हो पाता (११८।३-४) ।

कवि की मान्यता है कि वे देव जो संसार में रम रहे हैं उनकी सेवा मुक्ति का कारण नहीं हो सकती । जो परिग्रह के कारण स्वयं डूब रहे हैं वे औरों को कैसे तार सकते हैं (११८।८-९) । पर चिन्तन से अनन्त संसार और अत्म-चिन्तन से परमपद प्राप्त होता है अतः परनिन्दा न करे और न पर का गुप्त भेद प्रकट करे (११८।१२-१३) ।

श्रावक को जुआ आदि सातों व्यसन त्याज्य हैं । श्रावक को कवि ने बार्स अभक्ष्य और बत्तोस अनन्तकाय पदार्थों को तथा मद्य, मांस, मधु, मक्खन, गाजर, मूली, कलोट, राख, सूरण, पिडालू, वेंगन, रात्रि-भोजन, घोल, बड़ा, संधान, अथाना और द्विदल को असेव्य कहा है । अनछने पानी का उपयोग भी वर्जनीय बताया है (११९।२-९) ।

इसके पश्चात् कवि ने पञ्चाणुव्रतों का निरूपण किया है । अहिंसाणुव्रत में मन वचन और काय से त्रस और स्थावर जीवों के ऊपर बच्चों के समान दया करते हुए सूक्ष्म और स्थूल सभी जीवों की रक्षा करना अहिंसाणुव्रत है । कवि ने सत्याणुव्रत में सत्य वचन के आचरण पर जोर दिया है । अचौर्याणुव्रत के अन्तर्गत पराये धन को लेने-देने और दूसरों को ठगने तथा कम ज्यादह माँपने-तौलने का निषेध किया गया है । ऐसा व्रती पराये धन को धूलि और तृण के समान तुच्छ मानता है । ब्रह्मचर्याणुव्रत में पर स्त्रियों की माता समझने पर जोर दिया गया है (११९।१४-१५, ५।७।५-१७) । धन-धान्य क्षेत्र आदि का प्रमाण परिग्रहपरमाणुव्रत में आवश्यक माना गया है (११९।१५) ।

पञ्चाणुव्रतों के पश्चात् कवि ने गुणव्रतों का उल्लेख किया है । दिग्ब्रत में दिशाओं और विदिशाओं में जाने को तथा देशव्रत में ग्राम, नगर आदि तक के गमनागमन की मर्यादा रखने तथा अनर्थदण्डव्रत में उसके पालनार्थ तृष्णा-परित्याग कर मन एकाग्र करने पर जोर दिया गया है (५।८।५-८) ।

श्रावक धर्म में कवि ने चार शिक्षाव्रतों को भी सम्मिलित किया है । उन्होंने सामाधिक के लिए एकचित्त होना तथा सब जीवों पर मैत्रीभाव रखना आवश्यक माना है । इसे त्रिकाल क्रिये जाने पर जोर दिया गया है । प्रोषधोपवास अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों में किया जाता है । इससे फैलते हुए मन का संकोच होता है । भोगोपभोगपरिमाणव्रत में भोग और उपभोग की वस्तु संख्या निश्चित रखी जाती है और अतिथिसंविभाग

व्रत में पात्र को आहार देना होता है। इन व्रतों के साथ-साथ रात्रि-भोजन और अतछने पानी के व्यवहार का त्याग भी अपेक्षित होता है (५।१।१-७)। दशलक्षण धर्म धारण करना, चतुर्विध संघ को दान देना, प्राणियों पर दया करना और आगम सुनना भी श्रावकधर्म है (१।२०)। कवि ने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की अनुपालना को शुभगति-मोक्ष का कारण बताया है (५।१।६।६-७)।

मुनि धर्म : संसार को अस्थिर जानकर संयम धारण करना, पापों से मुक्त होना, चारों कषायों और इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना तथा बारह प्रकार का तपश्चरण करके कर्मों का नाश करना मुनि-धर्म कहा गया है। मोक्ष के लिए इसका धारण करना आवश्यक है (१।१७।९-११)।

कर्म व्यवस्था : पण्डित माणिकराज ने जैनदर्शन की कर्म-व्यवस्था का भी प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उन्होंने सुख और दुःखों का पर कर्म निमित्त न मानकर उन्हें शुभ और अशुभ कर्मों का परिणाम माना है। अर्जित कर्म जीव के साथ रहते हैं। वे छूटते नहीं। फल देकर ही जाते हैं (२।८। ३-४, ५।५।१८-१९, ५।१३।६)।

जीव को जन्म, जरा और मरणरहित स्थान-मोक्ष तभी प्राप्त होता है जब अर्जित कर्म गल जाते हैं (३।२।१३-१४) तथा कर्म तभी गलते हैं जब बारह प्रकार का तप किया जाता है। कषायों को जीता जाता है और इन्द्रियों तथा मन को विषयों की प्रवृत्ति से निवृत्ति में लगाया जाता है (१।१७।१०-११)।

अर्हन्त की द्रव्य पूजा : जिनेन्द्र-अर्हन्त की पूजा में कवि ने निज द्रव्य पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने पूजा से होनेवाले पुण्य की प्राप्ति उसे बताई है जिसकी द्रव्य पूजा में व्यवहृत होती है, उसे नहीं जो पूजा करता है। इस पञ्चबन्ध में द्रव्यवा है निम्न यमक—

ते भणहि जस ह्म फुल्ल लेहि

लहु पुण्णु होइ ह्मि तं ण तेहि ॥ १।२।१।६

निज द्रव्य कम भले ही हो किन्तु उसका अपना जलग महत्त्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल पाँच कौड़ियों से खरीदकर पाँच पुष्प अपने चढ़ाये जाने के पुण्य से वइरसेन को पाँच सौ रत्न देनेवाले आम्रफल, सात सौ

रत्न झड़ने पर गिरानेवाली कथरी, आकाशगामिनी पाँवड़ी और विजय करानेवाली लाठी की प्राप्ति का उल्लेख किया गया है (५।१३।९-१३) ।

आराध्यदेव : पण्डित माणिक्यराज ने ग्रन्थ की प्रथम सन्धि के प्रथम कडवक में पूर्व परम्परा का निर्वाह करते हुए सर्वप्रथम वृषभदेव से महावीरपर्यन्त चौबीसों वर्तमान तीर्थकरों का नामोल्लेख किया है तथा उनकी वन्दना की है । उन्होंने आगे घत्ता में “हुव होसहि धर” कहकर पहले हुए और आगे होनेवाले तीर्थकरों को भी नमन किया है । उन तीर्थकरों के नामों का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है । पाठकों की जानकारी के लिए उनका उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है । अतः भूतकाल में हुए तीर्थकरों के नाम हैं—निर्वाण, सागर, महासाधु, विमलप्रभ, शुद्धाभदेव, श्रीधर, श्रीदत्त, सिद्धाभदेव, अमलप्रभ, उद्धारदेव, अग्निदेव, संयम, शिव, पुष्पांजलि, उत्साह, परमेश्वर, ज्ञानेश्वर, विमलेश्वर, यशोधर, कृष्णमति, ज्ञानमति, शुद्धमति, श्रीभद्र और अनन्तवीर्य ।^१

आगामी तीर्थकरों के नाम निम्न प्रकार हैं—महापद्म, सुरदेव, सुपाश्र्व, स्वयम्प्रभ, सर्वात्मभूत, देवदेव, प्रभोदय, उदक, प्रश्नकीर्ति, जयकीर्ति, सुव्रत, अर, पुण्यमूर्ति, निष्कषाय, विपुल, निर्मल, चित्रगुप्त, समाधिगुप्त, स्वयम्भू, अनिवर्तक, जय, विमल, दिव्यपाद और अनन्तवीर्य ।^२

कवि ने तीर्थकरों को अठारह दोषों से रहित तथा अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त बताया है (१।९।११) । आचार्य जिनसेन ने प्रातिहार्यों के नाम इस प्रकार बताये हैं—अशोक वृक्ष, सिर के ऊपर तीन छत्र, सिंहासन, दिव्यध्वनि, दुन्दुभि वाद्य, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और चम्मर ।^३

अठारह दोषों के नाम हैं—जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, अरति, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद, राग, द्वेष और मरण ।

तीर्थकरों के लिए समवशरण की रचना की जाती है । जहाँ समवशरण होता है वहाँ असमय में फूल विकसित हो जाते हैं (१।९।१२-१४) ।

१. जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश : भाग २, भारतीय ज्ञानपीठ ईसवी १९७१ प्रकाशन, पृष्ठ ३७६ ।
२. हरिवंश पुराण : सर्ग ६०, श्लोक ५५८-५६२ ।
३. महापुराण : पर्व ७, २९३-३०२ ।

विहार के समय गन्धोदक की वर्षा होती है। धर्मचक्र आगे-आगे चलता है। (१११०६-७) ।

कवि ने ऐसे देव को अर्हन्त संज्ञा दी है तथा नमन किया है। उन्होंने ऐसे देवों को पूज्य नहीं बताया जो संसार चक्र में फँसे हुए हैं (१११८४-८) ।

इसके पश्चात् कवि ने अर्हन्तदेव की वाणी को आराध्य माना है और उसे नमन किया है। (१११) । अर्हन्त और अर्हन्त की वाणी को नमन करने के पश्चात् कवि ने गौतम-गणधर की परम्परा में हुए अपने गुरु निर्ग्रन्थ, तपस्वी क्षीणकाय पद्मनन्दि को प्रणाम किया है (११२१-१४) ।

इस प्रकार कवि ने अन्य रागी-द्वेषी देवों का निषेध करते हुए अर्हन्त, अर्हन्त वाणी और गुरु इन तीन को देव संज्ञा देकर उन्हें त्रिकाल आराध्य बताया है (५।५।७) । इनकी पूजा दुर्गति से निकालनेवाली कही है। कुमार्ग से सुमार्ग पर लाने में ये ही देव समर्थ हैं (११२०।१८, ७।१११) ।

जिनेन्द्र वन्दना : प्रस्तुत ग्रन्थ में वन्दना के दो रूपों का उल्लेख किया गया है—प्रत्यक्ष वन्दना और परोक्ष वन्दना। इनमें आराध्यदेव के समक्ष उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उन्हें नमन करना प्रत्यक्ष वन्दना है।

परोक्ष वन्दना-आराध्यदेव की अनुपस्थिति में होती है। आराध्यदेव के निकट या दूरवर्ती प्रदेश में विराजमान होने पर उनकी वहाँ की उपस्थिति का बोध करानेवाली सूचना के मिलने पर जिस दिशा में आराध्यदेव विराजमान होते हैं उस दिशा में आगे सात पद चलकर सहर्ष करबद्ध शिरोनति की जाती है। (१।९।१७-१९, १।१०) ।

आहार-दान-फल : कवि ने कथा के अन्तर्गत निर्ग्रन्थ मुनि को आहार देने का फल स्वर्गीय-सुख दर्शाया है। इस दान में भावों की प्रधानता पर जोर दिया गया है।

ग्रन्थ में अमरसेन-वइरसेन दोनों भाइयों के मुनियों को आहार देने के भाव उत्पन्न होना और आकाश मार्ग से युगल चारण मुनियों का वहाँ आना, दोनों भाइयों का उन्हें आहार में अपना भोजन देना और चारों प्रकार के आहार का तथा समाधिपूर्वक देह का त्याग करके सनत्कुमार स्वर्ग में उत्पन्न होना दर्शाकर कवि ने उत्तम पात्र की आहार दिये जाने का माहात्म्य प्रकट किया है (१।२२।१३-२१, १।२२, २।१, २।२।१) ।

संस्कृति : अमरसेनचरिउ में केवल कथा मात्र नहीं है। कथा के

अन्तर्गत तत्कालीन सामाजिक स्थिति को दर्शाने हेतु प्रसंगानुसार राज-नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, धार्मिक, भौगोलिक और साहित्यिक विधाओं का भी प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने सुन्दर रीति से उल्लेख किया है।

राजनैतिक मूल्यांकन

राजा : नगर के सर्वमान्य एवं सर्वश्रेष्ठ नागरिक को नृप कहा गया है। ये अनुराग पूर्वक प्रजा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। (५।५।१)। अमरसेन को ऐसा ही सेवा परायण राजा बताया गया है। वे प्रजा की रक्षा के लिए अपनी रक्षा का भी ध्यान नहीं रखते। सेना लिए बिना ही वे प्रजा की रक्षा करने शत्रु की ओर दौड़ पड़ते हैं (४।१३।१९-२१)। राजकीय कर्मचारी के मारे-पीटे जाने पर भी राजा कुपित होकर शत्रु पर आक्रमण करते थे (४।१३।१३)। चक्रवर्ती राजा का वैभव विशाल होता था। वह चौदह रत्न और नौ निधियों का स्वामी बताया गया है (६-१३।५-९)।

राजपद : सामान्यतः राजा का पुत्र सिंहासन पर बैठता था। जब राजा की कोई सन्तान नहीं होती तब राजा के परिजन राजपद पाने को झगड़ते थे। ऐसी परिस्थिति में मंत्रियों से परामर्श किया जाता था तथा मंत्री भी सर्वमान्य कोई उपाय बताते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कंचनपुर नरेश को निस्संतान बताया गया है। योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में मंत्रियों के परामर्श पर हाथी को निर्णायक बनाया गया। हाथी ने नगर में किसी को भी राजा के योग्य नहीं पाया। वह नन्दन वन को ओर गया और उसने वहाँ अमरसेन का अभिषेक किया। पश्चात् अमरसेन कंचनपुर के स्वामी हुए (३।२।१-१७)।

राजाओं में मैत्री भाव : राजाओं की मित्रता में स्थायित्व दिखाई नहीं देता। दलबट्टन नगर के राजा सूरसेन को हस्तिनापुर का राजा देवदत्त बहुत चाहता है। उसने सूरसेनको देश, घोड़े, हाथी, चमर, छत्र और कोष दिया। सूरसेन रानी विजयादे सहित मित्र के स्नेहवश मित्र के साथ हस्तिनापुर में ही रहने लगा था। उसके अमरसेन और वडरसेन दोनों पुत्र यहीं हुए थे (२।२।५-२०)

राजा देवदत्त ऐसा ही हितैषी होकर भी अपनी रानी पर प्रतीति करके अपने मित्र का अहित करने में भी पीछे नहीं रहा। उसने रानी के दोषारोपण करने पर राजा सूरसेन के पुत्रों के वध करने का चाण्डालों को आदेश दिया (२।६।८-१०)।

रानी : कवि ने पटरानी को "पट्टमहादे" संज्ञा दी है (११३२), तथा उसके उन्नत चरित्र का उल्लेख किया है। अमरसेनचरित में मगध नरेश राजा श्रेणिक की रानी चेलना के जिनशासन की भक्त बतायी गयी है (११५८)। इसी प्रकार राजा अरिमर्दन की रानी देवलदे जिन-गुरु के चरणों की भक्त और शील की खान कही गयी है (११३३)।

राज्याभिषेक : ऐसे अवसरों पर जिसका राज्याभिषेक किया जाता, भाट उसकी स्तुतिप्राँ गाते, मंगल वाद्य बजाये जाते, स्त्रियाँ मंगल गीत गातीं। उत्सवपूर्वक राजा जो राज सिंहासन पर बैठकर राजपट्ट बाँधा जाता था। इस क्रिया के पश्चात् उसे राजा माना जाता था (३३१-४)।

सहिष्णुता : सहिष्णु होना राजा का विशेष गुण था। उपकारी का उपकार करने के तो साहित्य में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं किन्तु अपकारी का उपकार करना बिरले ही राजाओं में देखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में राजा अमरसेन अपने वध की आज्ञा देनेवाले राजा देवदत्त ताउ को बुलवाकर सादर सिंहासन पर बैठाते हुए बताये गये हैं (५१५१०-२०)। यह है जैनदर्शन का प्रभाव और जैन साहित्य की अंगूठी देन।

कृतज्ञता : राजा अपने कर्मचारी को सेवाओं का आदर करते थे। कंचनपुर के राजा अमरसेन ने अपने एक कोतवाल की सेवाओं का आदर करते हुए उसे दिव्य नये वस्त्र भेंट में दिये थे। इतना ही नहीं, नगर के बाहर उसे रहने के लिए भूमि देकर अपने देश में उसके गुणों की अनुशंसा करते हुए कृतज्ञता प्रकट की थी (५६१२-४)।

मंत्री : राजकीय व्यवस्था में मन्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यह राजा का परामर्शक होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कंचनपुर के राजा पुत्र विहीन बताये गये। उत्तराधिकारी की खोज करने में मन्त्रियों की सूझ-बूझ उल्लेखनीय है। वे एक हाथी की सहायता से अपने राजा का चयन करते हैं (३२११-१७)।

सेनापति : राज्य संचालन के लिए मंत्री के समान सेनापति की नियुक्ति की जाती थी। यह राजा का परम हितैषी होता था। सैन्य-संचालन करना इसी का कार्य था। घनवाहन का नामोल्लेख एक ऐसे ही सेनापति के रूप में हुआ है। (६१३७)।

सेना : प्रस्तुत ग्रन्थ में सेना के लिए बल और सेना शब्दों का प्रयोग हुआ है। चक्रवर्ती राजा की सेना सभी राजाओं की अपेक्षा अधिक होती थी। इस ग्रन्थ में रत्नशेखर को एक चक्रवर्ती नृप के रूप में बताया गया

है। उसकी चार प्रकार की सेना थी—पैदल सेना, अश्व-सेना, गज-सेना और रथ-सेना। इनमें पैदल और अश्व-सैनिकों की संख्या दस करोड़ तथा हाथी और रथ-सेना की संख्या चौरासी लाख बतायी गयी है। यह सेना युद्ध करती और राजा की विजय कराती थी। आयुध चक्रवर्ती के घर स्वयं प्रकट होते हैं (६।१३।५-९)। कभी-कभी राजा सेना का सहयोग भी नहीं लेते थे और प्रजा की रक्षा के लिए अकेला ही शत्रु का सामना करने दौड़ जाता था (४।१३।१९-२१)। राज्य-विस्तार के लिए सैन्य-बल का प्रयोग होता था। राजाओं को बल प्रयोग से अपने आधीन किया जाता और विजित राजाओं की कन्याएँ विवाही जाती थीं (५।५।१५)। राजा वन क्रीड़ा के समय सेना भी साथ रखते थे (५।६।७)। राजा के लिए सेना का बड़ा महत्त्व था।

कोष : राज्य संचालन के लिए राजा के पास कोष होता था। इसका प्रयोग राजा की आज्ञा से होता था। कोष के साथ नगर आदि भी राजा जिस किसी को देकर सहायता कर सकता था (२।२।१५, ३।३।११)। प्रस्तुत ग्रन्थ में मुद्रा के अर्थ में 'दीनार' शब्द का व्यवहार हुआ है (३।१।१०)।

सामाजिक स्थिति

कवि माणिक्यराज ने प्रसंगानुसार सामाजिक स्थिति का भी निर्देश किया है। उन्होंने नगर वर्णन में समाज को चार वर्णों में विभाजित बताया है (१।३।१०) तथा उनके अर्हन्त-भक्त होने का निर्देश भी किया है (१।९।६)। चारों वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्थापना प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने की थी^१ तथा ब्राह्मण वर्ण प्रथम चक्रवर्ती भरतेश द्वारा स्थापित किया गया था।^२

प्रस्तुत ग्रन्थ में वणिक् वर्ग का उल्लेख व्यापारी अर्थ में हुआ है (१।३।६)। आचार्य जिनसेन ने जिस वर्ग को वैश्य की संज्ञा दी तथा जिनका कार्य कृषि, वाणिज्य और पशुपालन करना बताया है,^३ समाज के उस वर्ग को ही कालान्तर में सम्भवतः वणिक् संज्ञा दी गई। कृषि और पशुपालन की अपेक्षा व्यापार ही इस वर्ग की जीविका का प्रमुख साधन

१. महापुराण : १६।१८३।

२. वही, ३।८।१-४७।

३. वही, १६।१८४।

रह गया। सम्भवतः इसीलिए ये वैश्य न कहे जाकर वणिक संज्ञा से विश्रुत हुए।

जातियाँ : कवि माणिककराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थ की रचना करानेवाले चौधरी देवराज को 'अइरवाल कुल कमलसूर' कहा है तथा यह भी बताया है कि वे जिनेन्द्र पार्श्वनाथ के भक्त थे (१।६।१-८)। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म के उपासकों की विभिन्न जातियाँ थीं और उनमें अग्रवाल जिसे इस ग्रन्थ में अइरवाल कहा गया है, जैनधर्म के उपासकों का यह एक श्री एवं धी सम्पन्न अन्वय रहा है। शोध-प्रबन्ध लिखते समय उन्नीस अन्वयों के लेखक को जैन-प्रतिमा लेख प्राप्त हुए हैं^१ जिनमें अग्रवाल अन्वय का एक भी मूर्ति लेख नहीं है। यह विषय विचारणीय एवं अन्वेषणीय है।

महाजन : कवि ने व्यापारियों के नामोल्लेखों के पश्चात् रहियास (रोहतक) नगर के निवासियों में एक ऐसे वर्ग का उल्लेख भी किया है जिसे महाजन संज्ञा दी गयी है तथा जिन्हें शुद्ध बोध, पूजा और दान से विभूषित बताया गया है (१।३।९)। इस उल्लेख से महाजन कहे जानेवाले लोग जैनधर्मी ज्ञात होते हैं। व्यापारी होने के कारण सम्भवतः वे महाजन कहे जाने लगे।

गोवाल : प्रस्तुत ग्रन्थ में गवाल (अहीर) के लिए 'गोवाल' शब्द व्यवहृत हुआ है। कवि ने इन्हें हीन जाति का कहा है तथा मरकर इस जाति के लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति होने का भी निर्देश किया है (१।११।३)।

इस उल्लेख से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। प्रथम यह कि हीन जाति का व्यक्ति भी पुरुषार्थ से स्वर्ग प्राप्त कर सकता है। दूसरा यह कि इस जाति की गणना चारों वर्णों में शूद्र वर्ण में की गयी ज्ञात होती है। आचार्य जिनसेन ने शूद्र दो प्रकार के बताये हैं—कारू और अकारू। उन्होंने कारू के भी दो भेद किये हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य।^२ गोवाल स्पृश्य ज्ञात होते हैं। सम्भवतः आजीविका हेतु गायें चराना इनका प्रमुख कार्य था। ग्रामों में इस जाति के लोग आज भी गायें चराते हैं।

कोडवार : बुन्देलखण्ड भूमि में इस जाति को कुटवार कहते हैं

१. पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ : खण्ड २, पृ० ३३।

२. महापुराण : १६।१८५-१८६।

ग्रामों में कोटवार प्रायः इसी जाति के हैं। इस ग्रन्थ में कोटवार को प्रजा का रक्षक एक राजकीय कर्मचारी बताया गया है (४।१२।१६)। कवि ने राजा के द्वारा इस कर्मचारी को नगर के बाहर रहने के लिए भूमि दान में दिये जाने का भी उल्लेख किया है (५।६।४)।

आचार्य जिनसेन ने अस्पृश्य शूद्रों का नगर के बाहर आवास बताया है।^१ अतः आचार्य जिनसेन के अनुसार ये अस्पृश्य शूद्र ज्ञात होते हैं।

खस, वर्वर, पुलिंद : अमरसेनचरित में खस, वर्वर और पुलिन्द जातियों का निर्देश भी किया गया है तथा बताया गया है कि जहाँ इनका आवास होता है वहाँ जैनधर्म नहीं होता (५।८।९)। ये अनार्य देशों के नाम हैं। यहाँ के निवासी अनार्य होते हैं।^२ कवि रङ्गधू ने पासणाहचरित में यहाँ तक लिखा है कि जहाँ इनका निवास हो, स्वप्न में भी मन को वहाँ न जाने देवे।

खस-वर्वर-भिल्ल पुलिंदगणु । जहि णिवसइ पावासत्तमणु ॥
सुवणंतरि तहि ण वि मणु करए । सो वीयउ गुणवउ पुणु धरए ॥^३

जन-विविधता

समाज में सत् और असत् दोनों प्रकार के मनुष्य थे। कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे जन समुदाय का उल्लेख किया है जिनके कार्य निंद्य और समाज विरोधी थे। चोर, चाड, कुसुमाल, दुष्ट, दुर्जन, क्षुद्र, खल और पिशुन तथा ढीठ ऐसे ही लोग थे (१।३।१४)। इनमें स्वामी के जाने बिना वस्तु चुरानेवाले चोर, कपट पूर्वक व्यवहार करनेवाले चाड, लोभ-वश कुसुमवत् द्रव्य-संचय करनेवाले लुटेरे-कुसुमाल, क्लृषित हृदयवाले दुष्ट, निंद्य आचरणी दुर्जन, निम्न जन क्षुद्र, शरारती आदमी खल और चुगलखोर पिशुन कहे गये हैं।

कवि ने दुर्जन-स्वभाव का चित्रण करते हुए उसे काम, क्रोध, मान और लोभ में आसक्त बताया है। उन्होंने उसकी उपमा सर्प और चलनी से की है तथा बताया है कि छिद्र देखकर जैसे सर्प हितकारी दूध को त्याग देता है ऐसे ही दुर्जन हितैषी प्रजा का भी साथ नहीं देता। वह चलनी के समान सार वस्तु का भी त्याग कर देता है। वह पात्र और अपात्र का भेद

१. महापुराण : १६।

२. डॉ० आर० के० चन्द्र, प्राकृत-हिन्दी कोश।

३. रङ्गधू-ग्रन्थावली : भाग-एक, पृ० ८८।

भी नहीं जानता । विषयों में आसक्त रहता है और धन को ही मान्यता देता है (१।८।१-४) । सज्जनों के दोष देखना, उनकी गोपनीयता भंग करना और दूसरों को सताना इसका स्वभाव कहा है (५।५) । कवि ने इससे दूर निवास करना अच्छा बताया है (१।८।१) ।

परिवार

कवि ने इस काव्य में पारिवारिक सम्बन्धों की सुन्दर विवेचना की है । संक्षेप में वह निम्न प्रकार वर्णित है ।

पति-पत्नी : परस्पर में पति-पत्नी में स्नेह होता था । पत्नी अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती थी (१।५।१) । परिवार में पुरुष सज्जनों के पोषक और स्त्रियाँ शीलवन्त तथा मिष्टभाषिणी होती थीं (१।४।५-६) । पुरुष भी शीलवान् थे (१।४।१५) । राजा और रानी होकर भी पति-पत्नी के परस्पर में मिलकर रहने का कवि ने उल्लेख किया है (१।५।८-९) ।

माता-पिता : माता-पिता समान रूप से अपने सन्तान पर स्नेह रखते थे । वे अपने पुत्र का जन्मोत्सव मनाते थे । इस अवसर पर स्त्रियाँ मंगल-गीत गाती थी । घरों में तोरण बाँधे जाते, भाट स्तुतियाँ गाते, वरांगनाएँ नृत्य करतीं और विविध वाद्य बजाये जाते थे । माता-पिता वस्त्र और आभरण भेंट में देकर स्वजनों को सन्तुष्ट करते थे । नामकरण भी माता-पिता ही किया करते थे (२।३।१-५) ।

बाल क्रीड़ा : माता-पिता अपनी सन्तान को शिशु अवस्था में हाथों पर रखते थे । बाल्यावस्था में बालक अपनी माता के स्तनों से भी क्रीड़ा करता था (२।३।९) ।

शिक्षा : बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध भी माता-पिता ही करते थे । कवि ने सन्तान के अति लाड़ को बहुदोषपूर्ण मानकर परस्पर में परामर्श करके शुभ मुहूर्त में उन्हें विद्याभ्यास हेतु उपाध्याय के पास भेजते थे (२।३।८-१२) ।

विद्याभ्यास के विषयों में कवि ने अ इ आदि स्वर तथा कवर्ग आदि से सम्बन्धित अक्षर भेद, छन्द, संस्कृत-प्राकृत की विधियाँ, लिपियाँ और गणित का ज्ञान, काव्य का ज्ञान, जैनदर्शन का ज्ञान, मंत्र-तंत्र, औषधि-ज्ञान, संगीत, नृत्य और वाहन विधि का उल्लेख किया है (२।३ घत्ता, २।४।१-८) ।

माता का पुत्र-स्नेह : माता को पुत्र का वियोग असह्य बताया गया है। रानी विजयादेवी पुत्र-वियोग में विलख-विलख कर रोती है। उसकी वेदना देखकर मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी रुदन करते बताये गये हैं (२।१।१-५)।

विमाता : वह स्त्री जिसने जन्म नहीं दिया किन्तु जिस सन्तान का उसने पालन किया है कवि ने उसे सौतेली माता की संज्ञा दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसका निच रूप दर्शाया गया है। अपने यहाँ आये और यौवन अवस्था को प्राप्त हुए अमरसेन बइरसेन पर ईर्ष्या वश दोषारोपण करके हस्तिनापुर नरेश की रानी देवश्री राजा से उन्हें मारने का आदेश कराने में भी संकोच नहीं करती (२।५।२-८, २।६।८-१०, २।८।२, २।११।२)।

इससे सिद्ध है सौतेली माता अपने द्वारा पोषित सन्तान पर वैसा स्नेह नहीं करती जैसा वह अपने औरस पुत्र को स्नेह देती है।

भ्रातृ-स्नेह : कवि ने इस ग्रन्थ में भ्रातृ-स्नेह का आदर्श प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ में धण्णंकर और पुण्णंकर दो भाई बताये गये हैं। इनमें बड़ा भाई अभयंकर सेठ के घर स्वयं काम करता है। वह अपने छोटे भाई को काम करने नहीं भेजता। धार्मिक चर्चा करने में बड़ा भाई अपने छोटे भाई से परामर्श करने में कोई संकोच नहीं करता। इस प्रकार कवि ने इन भाइयों में बड़े भाई को अपने छोटे भाई के प्रति हार्दिक स्नेह देते हुए बताया है (१।१३।९-१३)।

इसी प्रकार अमरसेन और बइरसेन दोनों भाइयों का पारस्परिक स्नेह भी उल्लेखनीय है। सघन वन में एक आम्रवृक्ष के नीचे छोटे-भाई बइरसेन का रात्रि में पहरा देना और बड़े भाई अमरसेन का विश्राम करना तथा राज्य प्राप्त करानेवाला फल अपने बड़े भाई को देना, बड़े भाई को भोजन कराने के पश्चात् भोजन करना, छोटे भाई का बड़े भाई के प्रति प्रकट किये गये स्नेह का परिचायक है (२।११।६, २।१२।१०, २।१३।५, ३।१।२-४)।

जैसा स्नेह छोटे भाई का अपने बड़े के प्रति ऊपर दर्शाया गया है ऐसा ही बड़े भाई का छोटे भाई के प्रति प्रकट किया गया स्नेह भी प्रस्तुत ग्रन्थ में बताया गया है।

बड़े भाई अमरसेन को अपने छोटे भाई बइरसेन के विश्राम का भी ध्यान रहना, रात्रि में जागकर उसे सुलाना और स्वयं पहरा देना, बिछुड़ जाने पर उसकी खोज कराना और मिल जाने पर उसे उचित सहर्ष

सम्मान देना, युवराज पद देना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं जिनसे बड़े भाई का अनुज-स्नेह प्रकट होता है (२।१२।१९-२०, ३।३।४-६, ३।४।४, ५।४) ।

नारी स्वभाव : प्रस्तुत ग्रन्थ में लज्जा नारी का आभूषण कहा है । कवि के अनुसार लज्जा विहीन स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होती हैं । वे अपने पति को कुछ भी कहने में संकोच नहीं करतीं । राजा यशोधर अपनी रानी के द्वारा इसीलिए मारे गये थे और इसीलिए ही रत्तादेवी ने अपने पति का घात किया था (२।१०।६-९) ।

कवि की यह भी मान्यता है कि प्राण कंठ गत हो जाने पर भी पुरुष अपनी गुप्त बात स्त्री से प्रकट न करे क्योंकि वह दूसरों के समक्ष उस गुप्त रहस्य को प्रकट किये बिना नहीं रहती । पुण्डरीक ब्राह्मण ने अपना भेद अपनी स्त्री को बताकर अनेक कष्ट उठाये थे (३।७) । भेद लेकर स्त्री दुःख ही देती है । चारुदत्त को परदेश में इसलिए भटकना पड़ा था । गोपवती का भी एक ऐसा ही उदाहरण है (३।१३।१-८) ।

वेश्या-स्वभाव : कवि ने कथा के माध्यम से वेश्या की कपट एवं लोभवृत्ति का निर्देश किया है, तथा बताया है कि वेश्यागामी पुरुष किस प्रकार दुःखी होता है । इस सम्बन्ध में उन्होंने बइरसेन का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

बइरसेन कंचनपुर की वेश्या के यहाँ आता है ! बिना किसी व्यापार के बइरसेन के पास प्रचुर धन देखकर वह इसका गुप्त भेद जानना चाहती है (३।४।५-७) और बइरसेन भी वह द्रव्य प्राप्ति का रहस्य उसे प्रकट कर देता है (३।६।१०-१२) । वेश्या-द्रव्य देनेवाले आम्रफल को लेकर बइरसेन को अपने घर से निकाल देती है । (३।७।५) ।

बइरसेन कथरी, पांवड़ी और लाठी पाकर पुनः कंचनपुर आया (४।३।७-९) । वेश्या उसे देखकर माया पूर्ण वचन कह करके घर ले जाती है तथा कपट पूर्वक उसकी आकांक्षागामिनी पांवड़ी ले लेती है (४।६) । बइरसेन बार-बार ठगे जाने से रूठ हुआ । लोहा लोहे से कटता है इस नीति के अनुसार वेश्या के कपट व्यवहार का उत्तर उसने कपट व्यवहार से ही दिया । बइरसेन द्वारा उसे गधी का रूप दिया गया तथा वह बहुत सतायी गयी (४।१२।६-१०) ।

वेश्या के स्वभाव का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वह लोक में छोटा या बड़ा नहीं जानती । वह केवल द्रव्य का विचार करती है । द्रव्यवान् को ही वह सन्मान देती है । जो धन हीन होता है उस पुरुष को

शीघ्र त्याग देती है तथा हाथ पकड़कर अपने घर से निकाल देती है। लोभान्ध होकर वह नये-नये लोगों को शरण देती है। वह अपनी नहीं होती। कोई भी उसका चरित्र नहीं जानता है (४।७।३-८)।

तस्कर-वृत्ति : कवि ने कथा के माध्यम से यह तथ्य उजागर किया है कि ठग को महाठग मिल ही जाता है। चोर चोरी करके दुःखी ही होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में किसी योगी को तीन विद्याओं—कथरी, यष्टि और पाँवड़ी का सिद्ध होना तथा चार चोरों द्वारा योगी का वध करके तीनों वस्तुओं का चुराया जाना बताया गया है। बटवारे पर चोर झगड़ते हैं। बडरसेन झगड़ा निपटाने का वचन देकर तथा चोरों से तीनों वस्तुएँ लेकर और पैरों में पाँवड़ी पहिन कर आकाश में उड़ जाता है। चोर हाथ मलते रह जाते हैं। माथा कूट-कूट कर रोते और करनी पर पछताते हैं (४।३।१-१६)।

इस प्रकार इस प्रसंग को देकर कवि ने समाज में चोरी न करने का भाव उत्पन्न करने का यत्न किया है जिसमें वे सफल हुए प्रतीत होते हैं।

दीन वचन : सज्जन पुरुष का कर्तव्य है कि वह अभिमान त्याग कर स्वाभिमान को रक्षा करे। पुरुषार्थी को दीन वचन युक्त नहीं होते। कवि को मान्यता है कि वन में हाथी, सिंह और सर्पों की सेवा करना अच्छा है, वृक्षों के पत्ते और कन्दमूल खा लेना अच्छा है, तृणों की शय्या पर सो लेना अच्छा है और वृक्षों की छाल पहिन लेना भी अच्छा है किन्तु दीनता भरे वचन बोलना ठीक नहीं। सज्जन यदि अर्थ विहीन होता है तो वह जंगल में भले रह लेता है किन्तु दीन वचन नहीं बोलता। जो बुद्धिमान् अभिमान रहित होकर स्वाभिमान की रक्षा करता है निश्चय से वह हाथी पर असवार होता है। भाई का धनहीन होना ठीक नहीं है (३।३।१३-१८)।

गुरु का स्वरूप और महत्त्व : कवि ने एक अक्षर का ज्ञान कराने-वाले को भी गुरु की संज्ञा दी है तथा महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है कि जो ऐसा नहीं मानता वह खान योनि में उत्पन्न होता है (३।१।१७-८, ११)। उन्होंने यह भी लिखा है कि गुरु का वध करनेवाला व्यक्ति मरकर नरक जाता है (३।१।१४)।

यहाँ गुरु का अर्थ अध्यापक है। ये गुरु नहीं हैं जिन्हें जैन अपना आराध्य मानते हैं।

मातंग : ये राजकीय कर्मचारी होते थे। राजा की आज्ञा से अपराधियों का वध करना इनका कार्य था। प्रस्तुत ग्रन्थ में ये राजा की

आज्ञा का पालन विवेक पूर्वक करते हुए बताये गये हैं। अमरसेन-बडरसेन कुमारों के बध की राजाज्ञा होने पर भी कुमारों को निर्दोष जानकर वे उनका घात नहीं करना चाहते। फलस्वरूप वे उन्हें अज्ञात स्थान में जाने को कहकर मुक्त कर देते हैं और कृत्रिम सिर ले जाकर राजा को कुमारों के मारे जाने का सन्देश दे देते हैं (२।६।९-१०, २।८।७-१०)।

इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि विवेक बुद्धि केवल उच्च वर्ण में ही नहीं निम्न वर्ण के लोगों में भी थी। जहाँ जव वे आवश्यक समझते समय-समय पर राजा के साथ कपट-व्यवहार भी करते थे। उनकी अवज्ञा करने में भी वे संकोच नहीं करते थे। यह सब वे केवल राजा की भलाई के दृष्टिकोण से करते थे, स्वार्थ-वश नहीं। कवि ने इस प्रसंग में उनकी दूरदृष्टि का अच्छा परिचय दिया है।

आर्थिक स्थिति

प्रस्तुत ग्रन्थ में रहियासपुर नगर की तत्कालीन स्थिति का कवि ने भली प्रकार उल्लेख किया है। प्रथम सन्धि के तीसरे कडवक में बताया गया है कि रहियासपुर के जिनालय ध्वजाओं से सुशोभित थे। उनकी शिखर पर पीत और पाण्डुर वर्ण की ध्वजाएँ फहराती थीं। भवन तोरणों और अट्टालिकाओं से सहित थे। राजमार्ग चतुष्पथों में विभाजित थे। उनमें कोलाहल रहता था। वहाँ चारों वर्ण के लोगों का निवास था। कहीं कोई दीन-दुःखी दिखाई नहीं देता था। सभी दिव्य भोग भोगते थे। जन-जन में स्नेह भाव था। लोग व्यसनी नहीं थे। सदाचार का इतना अधिक प्रभाव था कि नगर में कहीं चोर, चाड, कुसुमाल, दुष्ट, दुर्जन, क्षुद्र, पिसुन और हठी लोग नहीं थे।

बाजार में सोना, चाँदी, पीतल आदि का क्रय-विक्रय भी होता था। स्त्रियाँ भी बाजार आती थीं। मुख मार्जन हेतु पान खाने की प्रथा थी। पान की पीक के रंग से धरती रंगी हुई दिखाई देती थी। महिलाएँ स्वर्ण-भूषणों से सुसज्जित रहती थीं। शील धर्म का वे भली प्रकार पालन करती थीं। सुरक्षा की दृष्टि से नगर के बाहर तीन कोट थे। इस प्रकार नगर के बाजार, महिलाओं के स्वर्णभूषणों और नगर के भवनों से कवि कालीन समाज की आर्थिक सम्पन्नता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

आधुनिक बैंकों जैसी व्यवस्था उस समय नहीं थी। सुरक्षा की दृष्टि से धन भूमि के भीतर या भण्डारों में रखा जाता था और धन का

स्वामी वहाँ रहकर उसकी देख रेख करता था (११३१९, ३१११०) । रुहियासपुर नगर वर्णन से व्यापार आजीविका का प्रमुख साधन ज्ञात होता है । क्रय-विक्रय में मुद्रा के रूप में कौड़ियों का व्यवहार होता था (११२१) । मुद्रा के लिए द्रव्य और दीनार शब्द प्रयुक्त हुए हैं (३११२, १०)

भोजन

कवि ने खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय के भेद से आहार चार प्रकार का बताया है (११२२।४) । इनमें जो मुख्यतः भूख बुझाने के लिए चबा कर खाये जाते हैं वे पदार्थ खाद्य कहलाते हैं । कवि ने ऐसे अभक्ष्य पदार्थों में द्वि दल अनाज और मांस का उल्लेख किया है (१११९।६) ।

जिन पदार्थों के सेवन से स्वाद में वृद्धि होती है वे स्वाद्य पदार्थ कहलाते हैं । ऐसे पदार्थों में कवि ने गाजर, मूली, अचार, दही, बड़ा आदि के नामों का निर्देश किया है (१११९।४-६) ।

लेह्य पदार्थ चाँट कर खाये जाते हैं । अभक्ष्य पदार्थों में मधु एक ऐसा ही पदार्थ है (१११९।४) । पीने के योग्य पदार्थ पेय कहे जाते हैं । अभक्ष्य पदार्थों में मद्य (मदिरा) और घोल (शर्बत और मिक्की आदि) ऐसे ही पदार्थ बताये गये हैं । पानी भी पेय पदार्थ है (१११९।४, ६, ९) ।

कवि ने आम्रफल का उल्लेख भी किया है तथा उसके साथ स्वाद क्रिया को भी जोड़ा है (११२।१०) । इससे स्पष्ट है कि कवि ने उसे स्वाद्य पदार्थ माना है । चूस कर खाये जाने से इसे चूस्य पदार्थ भी कहा गया है ।

बाजार-वर्णन प्रसंग में कवि ने ताम्बूल भक्षण की भी चर्चा की है । (११२।२०) । यह स्वाद्य पदार्थ माना गया है । भोजन में छहो रसों के पदार्थ होते थे (३११२) ।

वस्त्र

कवि ने वस्त्रों के समयानुसार प्रयोगों का निर्देश किया है । उन्होंने मन्दिर के लिए धवल वस्त्रों के व्यवहार का (११२।११) और भोजन के समय वस्त्र बदलकर भोजन करने का उल्लेख (२।१।२) किया है । वृक्षों की छाल भी वस्त्र का काम करती थी (३।३।१४) । दो प्रकार के वस्त्रों का कवि ने उल्लेख किया है—देवंगई (३।१।४) और कुसमई वस्त्र (५।१।८।५) । ये वस्त्र राज घराने के या धनिक लोग पहिन्ते थे ।

आभूषण : स्त्रियाँ दायीं-बायीं दोनों और सोलह-सोलह आभूषण पहिन् कर शृंगार करती थीं (३।६।५) । कवि ने इन आभूषणों के नामों का

उल्लेख नहीं किया है। पुरुषों के आभूषणों में सिर पर पहिना जानेवाले मुकुट, हाथों के कंकण (कड़ा), कानों के कुण्डल, कटि प्रदेश की मेखला और पैरों के बजनेवाले नूपुरों का उल्लेख करते हुए बताया है कि इनका प्रयोग राजघराने के लोग करते थे (५।१।८।४-५)।

काव्योपकरण

रस, अलंकार, गुण-दोष आदि काव्य के उपकरण हैं। प्रस्तुत काव्य में इन उपकरणों का अनायास ही प्रयोग हुआ है।

रस : कवि ने ऐसी घटनाओं का नियोजन किया है जिनमें काव्यात्मक रसों का सुन्दर उल्लेख हुआ है। काव्य में शृंगार आदि नौ और वात्सल्य सहित दस रस माने गये हैं। प्रस्तुत काव्य में निम्न रसों के उल्लेख प्राप्त हैं—

शृंगार रस : प्रस्तुत काव्य के नगर, वन और नर-नारी के सौन्दर्य चित्रण में शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है महणा की पत्नी के गुणात्मक सौन्दर्य का उल्लेख करने वाली निम्न पंक्तियाँ—

तं पणइणि पणइ-णिवद्ध देह । णामें खेमाही पियसणेह ॥
 सुरसिंधुर-गइ सइवइ वि लील । परिवारहु-पोसणु सुद्धसील ॥
 णर-रयणहं णं उप्पत्तिखाणि । जा वीणा इव कलयंठि-वाणि ॥
 सोहमगरूव चेलणिय दिट्ठ । सिरि रामहु-सीया जिह वरिट्ठ ॥
 [१।५।१-४]

करुण रस : यह इष्ट विधोग जनित अवस्था में होता है। अपने पुत्र राजा के द्वारा मरवाये जाने के समाचार ज्ञात करके रानी विजयादेवी के विलाप प्रसंग में इस रस का कवि ने सुन्दर चित्रण किया है—

विजयदि रोवइ भुव हसोय । हा णरवइ किं किउ पइइ हेय ॥
 णउ याणिउ जत्ताजुत्त देव । दुट्ठि सुणि वयणइणि वहसेव ॥
 णिहोस अकज्जे किरण-तेय । माराविय णंदण रणि-अजेय ॥
 हा हा इ वदइय कियउ तुज्झु । इव मणह मणोरह पुज्ज तुज्झु ॥
 तह स्यणु सुणेपिणु अइस दुक्खि रोवंति भव्व तिरयंच-पक्खि ॥
 [२।९।१-५]

यहाँ विजयादेवी का शोक करना स्थायीभाव है। मृत पुत्र आलम्बन तथा पुत्रों के मरण में कारण स्वरूप राजा (देवदत्त) और रानी (देवश्री) उद्दीपन विभाव हैं। रानी विजयादेवी का रुदन, प्रलाप, हाहाकार करना, राजा (देवदत्त) की निन्दा करना आदि अनुभाव हैं। मोह,

स्मृति और चिन्ता संचारीभाव हैं। इस प्रकार इस अवतरण में कहरण रस के सभी अंगों का समावेश किया गया है।

रौद्र रस : रानी-देवश्री अमरसेन-वइरसेन के पराक्रम को न सह सकने से राजा से उनका वध कराने के लिए उनके द्वारा अपने शीलभंग करने का प्रयत्न करने सम्बन्धी मिथ्यारोपण करती है। यह सब सुनकर क्रोधावेग में हुई राजा की रौद्र मुद्रा का कवि ने निम्न पंक्तियों में सुन्दर चित्रण किया है—

तं सुणेवि पट्टु कूरह रुट्ठउ । णउ जाणइ पवंचु पिय झुट्ठउ ॥
हक्कारि वि मायंग रउइइं । कुमरह मारणत्थ खल-खुदइइं ॥
रे मायंगहु परतिय-सत्तहं । अमरसेणि वइसेणि कुपुत्तह ॥
मारहु वेएं महु णचिरावहु । विण्णि वि सिर खुडि महु दिक्खावहु
[२।६।७-१०]

यहाँ राजा का रूष्ट होकर क्रोधित होना स्थायीभाव है। अमरसेन-वइरसेन आलम्बन और रानी की चेष्टाएँ उद्दीपन भाव हैं। मातंगों को जोरों से बुलाना, कुमारों को मारकर उनके कटे हुए सिरों को दिखाने की उन्हें आज्ञा देना आदि अनुभाव हैं तथा आवेग, असूया, पत्नी-मोह आदि संचारी भाव हैं। कवि की इन पंक्तियों में इस रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

वीर रस : वइरसेन द्वारा वेश्या को गधी बनाये जाने और उसके परिजनों के सुरक्षा हेतु निवेदन करने पर राजा अमरसेन और वइरसेन के बीच हुए युद्ध-प्रसंग से कवि ने वीर रस का उल्लेख किया है—

तं णिसुणेविणु णरवइ कुद्धउ । णिय दलु मुक्कउ वइरि विरुद्धउ ॥
ते वयणाय वि कहहि असुद्धहं । मारु मारु पभणेहि विरुद्धहं ॥
तं जंपहि रे पाविय णिग्घण । कोलवाल किउ मारिउ दुज्जण ॥
तइ किउ लजिय रासहि कीई । इव सम्पत्ती तुव जम-दूई ॥
सुणिवइसेणि सुहुउ दुह-वयणइं । मारिय जट्टिणी वत्तं सयलइं ॥
के णट्टिय गय णरवइ सरणइं । के लज्जि वि गय वण तवयरणइं ॥
पडिउ भजाणउ पुरयणु णट्टुउ । णं हरि भीहहि गय-गणु भट्टुउ ॥
पुक्कारंत णरवइ णिसुणेप्पिणु । सरणाई णवयार धरेप्पिणु ॥
धायउ णरवइ सेणु लए विणु
जइ थिउ अरि जइसिरि संपत्तउ । जम रूवइ धावंतु तुरंतउ ॥
मारु मारु पभणंतु सु कुद्धउ । रे कहि जाहि जमग्गइ लद्धउ ॥
[४।१३।११-२१]

यहाँ अमरसेन और वइरसेन का युद्ध में विद्यमान उत्साह स्थायीभाव है। अमरसेन की वइरसेन को पराजित करने की चेष्टा उद्दीपन-विभाव और वइरसेन आलम्बन विभाव है। अमरसेन की सेना अनुभाव और साहस, गर्व तथा मारने का हेतु देते हुए मारो-मारो शब्दोच्चारण करना संचारी भाव हैं। युद्ध में पराजय होने पर सैनिकों का राजा की शरण में जाना, लज्जित होकर तपश्चरण करने वन चले जाना, भगदड़ मच जाना, और इस परिस्थिति में राजा का अकेले ही युद्धभूमि की ओर दौड़ जाना आदि प्रसंग का उल्लेख करके कवि ने युद्ध की स्वाभाविक स्थिति का भी सुन्दर दिग्दर्शन कराया है।

भयानक-रस : कवि ने वन-वर्णन प्रसंग में वन की स्वाभाविक स्थिति का भली प्रकार चित्रण किया है। वह निम्न प्रकार है—

वहुभूमि चइ वि गय वणि गहणि । जहि कुल-कुलति तरुवरस-वणि ॥
 जहि मणुव ण दीसइ सउण तहि । अइ सघणइ तण अंकुर वि जहि ॥
 जहि गुंजहि सीह भयंकराइ । दतिय चिक्कारहि मइ घणाइ ॥
 जहि फे करंति साओ भमंति । बहु कोल वसुह पुणु पुणु खणंति ॥
 कउसिय सद्दइ धू धू करंत । वाइसइ सद् तत्थइ करंत ॥
 सद्दल-सीह-चित्ताइ-रोज्झ । गइडे-संवर-मिय-महिस वुज्झ ॥
 लउगा-मज्जारइ सेहि कुंज्झ । अइ दुट्ट जीव जे मणि-विरुज्झ ॥
 कत्थइ हरिणहं हरि हारयंति । णउलाइ-सप्प-संगरु करंति ॥
 जहि-भूय-पिसायइ संचरंति । डाइणि-साइणि-जोयणि भमंति ॥
 जहि जमु संकइ गच्छंतएण । किं मणु यण मरहि सरंत एण ॥

[२१।१२-२१]

प्रस्तुत अवतरण में भय स्थायीभाव है। वृक्षों की सघनता एवं स्यार, सिंह, चीता, रोज, गैंडा, साँवर, हरिण, भैंसा, सेही आदि वन-पशुओं का सद्भाव आलम्बन तथा मनुष्यों का अभाव, सिंहों की गर्जना, हाथियों की चिक्कार, सुना कुत्तों का फे-फे करना, वन शूकरों का जमीन खोदना, उल्लूकों का धू-धू शब्द करना, कौओं का काँव काँव करना, सिंहों का हरिण पकड़ना, सर्प और न्योले का लड़ना, भूत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी और योगिनियों का घूमना आदि उद्दीपन भाव हैं।

अद्भुत रस : स्वर्ग में उत्पन्न जीव के वर्णन प्रसंग में इस रस की निष्पत्ति दिखाई देती है—

सणिकुमर-सगि ते वे वि जाय । उप्पायसिलाहिं वि जम्मु पाय ॥
विभिय जो कहिं ते दस-दिसाइं । कोयहं ठाणु वि किं पुण्णयाइं ॥
[२।२।१-२]

यहाँ स्वर्ग में उत्पन्न होने में विस्मय होना स्थायीभाव, स्वर्ग आलम्बन भाव और उत्पाद शिला पर उत्पन्न होना उद्दीपन भाव है । ससम्भ्रमित होना अनुभाव और भ्रान्ति व्यभिचारी भाव हैं ।

शान्त रस : प्रस्तुत काव्य में इस रस की बहुलता है अमरसेन-वइरसेन दोनों भाई वन में एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने के पश्चात् निम्न विचार करते हैं—

ते जाणहिं गच्छहिं भूमि भाय । ते पय चालहिं णं कु वियराय ॥
संसारु असारु वि मणि मुणेहु । हो लोय हो पुण्णासउ करेहु ॥
जि पावहु सासय-पउ वि सारु । ण वि जोयहु जें भव-दुहह-भारु ॥
[२।१।२४-२६]

इन पंक्तियों में दर्शाये गये अमरसेन वइरसेन के अन्तर्मुखी-परिणाम स्थायीभाव हैं । संसार की असारता का बोध आलम्बन भाव है । पुण्यास्रव और शाश्वत-पद की प्राप्ति के भाव उद्दीपन विभाव हैं और सांसारिक दुःख भार के प्रति उदासीनता यहाँ संचारी भाव है ।

वात्सल्य रस : कवि की इस रचना में वात्सल्य रस का भी समायोजन द्रष्टव्य है—

माया-पियरहो णेहु जणं तहं । वियसिय मृदुंहुं सयणहिं रंजंतइं ॥
करि कराइ जुवइहिं णिज्जंतइं । वालइ माय-थणे कीलंतइं ॥
[२।३।८-९]

यहाँ बालक के प्रति उत्पन्न स्नेह स्थायीभाव है । बालक आलम्बन तथा बालक की क्रीड़ाएँ—माता के स्तन से खेलना उद्दीपन विभाव हैं । माता-पिता का स्नेह प्रकट करना, स्त्रियों का बालकों को हाथों-हाथों पर रखना अनुभाव और स्वजनों का शिशु मुख देखकर हर्षित होना संचारी भाव है ।

अलंकार

काव्य के मुख्य दो अंग माने गये हैं—शब्द और अर्थ । ये दोनों अलंकारों से विभूषित होकर काव्य की उत्कृष्टता का बोध कराते हैं । दोनों के अलंकार पृथक्-पृथक् होते हैं । प्रस्तुत काव्य में प्राप्त अलंकार निम्न प्रकार हैं—

अनुप्रास : प्रस्तुत काव्य में अनुप्रास के पाँच भेदों में छेकानुप्रास और अन्त्यानुप्रास अलंकारों का एक साथ प्रयोग हुआ है। पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

मारु मारु पभणंतु सुकुद्धउ ।
रे कहि जाहि जमग्गइ लद्धउ ॥ ४।१३।२१

यहाँ 'मारु मारु' पद में म और र व्यंजनों के समुदाय का एक ही क्रम में पुनरावृत्ति होने से छेकानुप्रास अलंकार तथा पाद के अन्त में संयुक्त द और व्यंजनों सहित उ स्वर की आवृत्ति होने से अन्त्यानुप्रास अलंकार भी है। इस काव्य में इस अलंकार का प्रत्येक यमक में प्रयोग हुआ दिखाई देता है। वृत्यनुप्रास का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण स्वरूप निम्न यमक द्रष्टव्य है—

चउहट्टय चच्चर दाम जत्थ ।
वणिवर ववहरहि वि जिहि पयत्थ ॥ १।३।६

इस यमक में च और व वर्णों की अनेक बार तथा थ वर्ण की एक बार आवृत्ति हुई है। वर्णों की ऐसी आवृत्ति में वृत्यनुप्रास कहा है। एक ही स्थान से उच्चरित व्यंजनों के प्रयोग में श्रुत्यनुप्रास बताया गया है। कवि ने ऐसे व्यंजनों का प्रयोग भी बहुत किया है। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है एक यमक की पंक्ति—

'जिहि वियरहि वर चउवण्ण लोय' । १।३।१०

इस अर्द्धाली में तालु स्थान से उच्चरित ज, य, च वर्णों का प्रयोग होने से यहाँ श्रुत्यनुप्रास है।

उपमा : कवि ने उपमेय के साथ उपमानों के भी प्रायः उल्लेख किये हैं। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एहाणु कराइ विदुहु वंधवेहि । पहिराविय वत्थइ ससि समेहि ॥

—१।२।११

यहाँ वस्त्र चन्द्रमा के समान बताये गये हैं। वस्त्र उपमेय है और शशि उपमान। चन्द्रमा का वर्ण धवल माना जाने से उपमान शशि उपमेय-वस्त्रों की उज्ज्वलता (सफेदी) का सूचक है। उपमान और उपमेय दोनों का वर्ण समान होने से उपमा अलंकार है। यहाँ सम शब्द सादृश्यता का वाचक है।

स्मरणालंकार : चारण मुनियों को देखकर अमरसेन-बइरसेन को पूर्व भव में ऐसे मुनियों को अपने द्वारा आहार कराये जाने का स्मरण हो

आता है। कवि ने कथा के इस प्रसंग में स्मरणालंकार का सुन्दर प्रयोग किया है। द्रष्टव्य हैं निम्न पंक्तियाँ—

पुणु दिदृ कुमारह भउ सरे वि । पुव्वहं भवाइं इणु समु णिएवि ॥
विवहारिय घर सम्मावियाइं । भुंजाविय भोयणु अप्पु भाइं ॥
[५।६।१३-१४]

रूपक अलंकार : प्रस्तुत काव्य में कवि ने रूपकों का प्रयोग करके अपने भावों को स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ—

जो अइरवाल कुल कमल भाणु ।
सिंघल कुवलयहु वि सेयभाणु ॥ १।४।३

प्रस्तुत यमक में कवि ने चौधरी चीमा का परिचय प्रस्तुत किया है। उन्होंने उन्हें अग्रवाल कुल रूपी कमल के लिए सूर्य और सिंहल गोत्र रूपी कुवलय के लिए चन्द्रमा बताया है। जैसे कमल सूर्य-तेज को पाकर और कुवलय चन्द्र-रश्मियों को पाकर विकसित हो जाते हैं ऐसे ही अग्रवाल कुल रूपी कमल तथा सिंहल गोत्र रूपी कुवलय चौधरी चीमा से विकसित हुए थे। यहाँ चौधरी चीमा को कवि ने सूर्य और चन्द्र का रूपक दिया है। ये दोनों रूपक उपमेय के गुणों की अभिव्यञ्जना करते हुए काव्य-सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

उत्प्रेक्षा अलंकार : इस अलंकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं। कवि ने इसका प्रयोग ननु अर्थवाची संस्कृत शब्द 'ण' पूर्वक किया है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सट्टाल सतोरण जत्थ हम्म ।
मण-सुह संदायण णं सुकम्म ॥ १।३।५

प्रस्तुत पंक्तियों में रहियासपुर नगर के भवनों का वर्णन करते हुए उन्हें अट्टालिकाओं और तोरणों से युक्त बताया गया है। मन को ये भवन सुखकारी लगने से कवि ने कल्पना की है कि “ये भवन ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे सत्कर्म हों” अर्थात् इनसे मन को ऐसा सुख मिल रहा है जैसा सुख सत्कर्मों से प्राप्त होता है। यहाँ प्रस्तुत भवनों में अप्रस्तुत सत्कर्म की संभावना किये जाने से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

स्वभावोक्ति अलंकार : कवि ने प्रस्तुत काव्य में जीवों के स्वभावों की अभिव्यक्ति भी की है। बालक स्वभाव को बताने के लिए उन्होंने उसे

अपनी माता के स्तन से क्रीडा करता हुआ बताया है। पद्य निम्न प्रकार है—

करि कराइ जुवईहि णिज्जंतइ ।
वालइ माय-थणे कीलंतइ ॥ २।३।९

कवि ने भयानक रस के उदाहरण में प्रस्तुत अवतरण में वन-पशुओं के स्वभाव का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। सघन वन कैसा होता है कवि ने उसका जोता-जागता वर्णन किया है।

यमक अलंकार : कवि ने प्रस्तुत काव्य के एक ही पद्य में से ऐसे दो समान शब्दों का प्रयोग भी किया है जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं कवि की वे पंक्तियाँ—

इय चउधरियहं वयणें, वियसिय वयणें
पंडिण्णा हरसेविणु । १।७।

इस अवतरण में वयणें शब्द का दो बार व्यवहार हुआ है। इनमें प्रथम वयणें का अर्थ है वचन और दूसरे वयणें का अर्थ है—वदन (मुख)। इस प्रकार यहाँ यमक अलंकार की अभिव्यक्ति की गयी है।

श्लेष अलंकार : कवि ने ऋषभपुर नगर के वर्णन प्रसंग में इस अलंकार का यथेष्ट प्रयोग किया है। उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य हैं प्रस्तुत काव्य की दो पंक्तियाँ—

कर-पीडणु पाणिग्गहणु जहि । १।१२।२
पक्खवाउ जहि वयसंघार्यहि । १।१२।५

यहाँ प्रथम पंक्ति में करपीडणु शब्द में और दूसरी पंक्ति में पक्खवाउ शब्द में श्लेष है। इनमें करपीडणु के दो अर्थ हैं—(१) हाथ पकड़े जाने की पीड़ा। (२) टेक्स देने में उत्पन्न पीड़ा (कष्ट)। इसी प्रकार पक्खवाउ के दो अर्थ हैं—(१) पंख गिरना (२) पक्षपात (अपने-पराये का भेद-भाव)। इन पंक्तियों का अर्थ है—जहाँ कर-पीडा पाणिग्रहण में ही होती थी अर्थात् कर (टेक्स) देने में पीड़ा नहीं होती थी। जहाँ पंखों का गिरना पक्षियों के संघात से ही होता था अर्थात् पक्षपात (भेद भाव) लोगों में नहीं था।

भाषा

कवि माणिक्कराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ में दो भाषाओं का प्रयोग किया है—संस्कृत और अपभ्रंश। इनमें संस्कृत-भाषा में रचे गये श्लोकों का उल्लेख कवि ने दो प्रकार से किया है—(१) आशीर्वादात्मक विचारों को

व्यक्त करने के सन्दर्भ में और (२) अपने कथन के साक्ष्य में। इनमें आशीर्वादात्मक श्लोकों में प्रस्तुत रचना के प्रेरक चौधरी देवराज के प्रति मंगल कामनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। ये श्लोक सन्धियों के अन्त में आये हैं। इनकी संख्या दस है। आरम्भिक तीन तथा पाँचवीं और छठीं सन्धि के अन्त में एक-एक और चौथी सन्धि के अन्त में तीन तथा सातवीं सन्धि के अन्त में दो श्लोक अंकित हैं।

सन्धियों के मध्य में विषयों को और स्पष्ट करने के लिए नीति प्रद श्लोक आये हैं। इनकी संख्या इक्कीस है। ये प्रथम सन्धि में तीन, दूसरी सन्धि में सात, तीसरी सन्धि में सात, चौथी सन्धि में चार, पाँचवीं सन्धि में एक और सातवीं सन्धि में एक है।

श्लोकों की स्थिति निम्न प्रकार है—

सन्धि- क्रमांक	कडवक संख्या और श्लोक	सन्धि के अन्त में	कुल
१	२०—	१	४
	२१—	२	
२	४—	२	८
	६—	१	
	७—	२	
	१०—	१	
	१२—	१	
३	२—	१	८
	५—	१	
	१२—	३	
	७—	२	
४	२—	१	७
	४—	१	
	६—	१	
	७—	१	
५	१४—	१	२
६	—	—	१
७	९—	१	३
	२३	१०	३३

इन श्लोकों में कडवकों के मध्य अथवा अन्त में जिन श्लोकों का उल्लेख किया गया है वे इतर रचनाओं से लिये गये तथा सन्धि के अन्त में दिये गये वे श्लोक जिनमें चौधरी देवराज को मंगल कामनाएँ की गयी हैं स्वयं कवि के द्वारा रचे गये प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं श्लोकों पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कुछ पद्यों में छन्द और व्याकरण की अशुद्धियाँ भी हैं।

अपभ्रंश : कवि माणिक्यराज के द्वारा व्यवहृत भाषाओं में अपभ्रंश दूसरी भाषा है। प्रस्तुत भाषा में कवि ने इस ग्रन्थ में बुन्देली बोली के अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। अपभ्रंश-व्याकरण सम्बन्धी कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं—

१. 'ऋ' ध्वनि के स्थान पर अ इ ई उ ए और अर तथा रि के प्रयोग हुए हैं। उदाहरणार्थ शब्द निम्न प्रकार हैं—
 णच्चंति (नृत्यन्ति)—११११११ । घरि (गृहे)—४५११६ ।
 किय (कृत)—११९११ । अमिय (अमृत)—११९१८ ।
 दीसइ (दृश्यते)—३५११० । पुच्छइ (पृच्छति) ६४११४ ।
 उसवभपुर (ऋषभपुर) ११२११० । गेह (गृहम्) ४१०१३३ ।
 भायर (भातृ) २५१४ । रिसि (ऋषि) १५११५ ।
२. ऐ स्वर के स्थान में अइ और ए के प्रयोग । यथा—
 कइलास (कैलाश) ६१९१० । कइरव (कैरव) १४१३३ ।
 चेयालय (चैत्यालय) ५१४१३३ । देव (दैव) ५५११९ ।
३. औ स्वर के स्थान में 'उ' स्वर के प्रयोग । यथा—
 कउडी (कौडी) ५१११ । कउसिय (कौशिक) २१९१६ ।
 चउक्क (चौक) ११२१७ । चउपहि (चौपाई) १८१२२ ।
 चउधरि (चौधरी) १४१७ । चउरासी (चौरासी) ६१३१९ ।
४. 'उ' स्वर के स्थान में 'ओ' स्वर का प्रयोग । यथा—
 ओयरि (उतर कर) ११९२२ । ओच्छालइ (उच्छालइ) ११५१८ ।
५. 'औ' स्वर के स्थान में 'ओ' के प्रयोग । यथा—
 चोर (चौरः) ४३१११-१२ ।
६. श, ष और स के स्थान में 'स' के प्रयोग । यथा—
 लेसु (लेश्या) ७१५१३३ । आयास (आकाश) १२२२, ३१२२ ।
 आसा (आशा) ११६१२२ । आसीस (आशीष) ५४११६ ।
 दोसु (दोष) ११५१३३ । तिसु (तृषा) ११५११ ।

अवसर (अवसर) ११११२ । अंसु (आंसू) ६।४।९ ।

७. क के लिए य वर्ण का प्रयोग । यथा—

पयास (प्रकाश) ५।२।६ । सयल (सकल) १।७।३ ।

८. क के लिए उ स्वर का प्रयोग । यथा—

सउण (शकुन) २।९।१३ ।

९. ख के स्थान में क्ष, ह और ष के प्रयोग । यथा—

खीणु (क्षीण) १।२।८ । परोखि (परोक्ष में) १।९।१९ ।

सुह (सुख) १।३।५ । दुहिय (दुःखी) १।३।१५ ।

षडरस (खडरस) १।२।१४ । षाइस्सइ (खादिष्यति) १।१६।१२ ।

१०. 'ग' के स्थान में इ और य के प्रयोग । यथा—

अइरवाल (अग्रवाल) १।६।८ । वीयराय (वीतराय) २।७।१४ ।

११. घ के स्थान में ह के प्रयोग । यथा—

जलोह (जलोघ) १।९ । हरि (घर) ३।२।८ ।

१२. च के स्थान में य का प्रयोग । यथा—

वियरहि (विचरन्ति) १।३।१० ।

१३. ज के स्थान में य और इ के प्रयोग । यथा—

णिय (निज) १।४।१ । पइ (प्रजा) १।४।१ ।

१४. ण के स्थान में न के प्रयोग । यथा—

पुन्न (पुण्ण) १।१२।१५ । नवकार (णवकार) १।१९।१० ।

१५. त के स्थान में इ, य, उ, प के प्रयोग । यथा—

मइ (मति) ५।५।७ । गइ (गति) ७।३।१२ ।

गय (गत) १।२।६ । चैयणु (चेतन) १।७।८ ।

पडिहार (प्रातिहार्य) १।९।११ । उप्पत्ति (उत्पत्ति) १।५।३ ।

१६. थ के लिए ह के प्रयोग । यथा—अहवा (अथवा) १।७।११ ।

पासणाहु (पार्श्वनाथ) १।१।१३ । रह (रथ) १।४ ।

१७. द के स्थान में इ, उ, ए, य और व के प्रयोग । यथा—

आइणाह (आदिनाथ) १।६।१४ । भेउ (भेद) १।८।४ ।

पएस (प्रदेश) १।९।१३ । सिव पय (शिव-पद) १।१।६ ।

उवहि (उदधि) १।२।२ ।

१८. ध के स्थान में छ का प्रयोग यथा—

कोह (क्रोध) १।१।८ । मधुर (मधुर) १।४।६ ।

१९. अपवाद स्वरूप कुछ शब्दों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र न के स्थान में ण का प्रयोग हुआ है । अपवाद स्वरूप प्रयुक्त न युक्त शब्द—

तिन्नि ११५१३, नर ११५१०, चुन्न चुन्न ११५१७,
 नासा, कन्न ११५१०, वन्नी ११५११, नहु ११६१७,
 निक्कलसि ११६१९, नाहि ११६१४, नही ११६१९,
 मन्नइ ११६१२०, मन ११६१२२, नियम ११९१०, धन्न, ११९११५ ।

२०. प के स्थान में व और उ के प्रयोग । यथा—
 तव (तप) १२१८ । गोउर (गोपुर) ११२१९ ।
२१. फ के स्थान में ह का प्रयोग । यथा—
 सहलु (सफलु) ५१७१३ ।
२२. ब के स्थान में सर्वत्र व का प्रयोग हुआ है ।
२३. भ के स्थान में ह के प्रयोग । यथा—
 चंदप्पहु (चंद्रप्रभ) १११६ । आहरण (आभरण) ११९१६ ।
२४. य के स्थान में ज के प्रयोग । यथा—
 पुज्जु (पूज्य), सुज्जु (सूर्य) १११८ । जुत्तु (युक्त) ११५५ ।
२५. व के स्थान में इ का प्रयोग । यथा—
 कइ (कवि) १७१४ ।
२६. श के स्थान में ह का प्रयोग । यथा—
 दहदिहि (दशदिशि) १७१८ ।
२७. श्र के स्थान में स का प्रयोग । यथा—
 सावय (श्रावक) १११११ ।
२८. त्स और प्स के स्थान में च्छ के प्रयोग । यथा—
 वच्छलु (वात्सल्य) १२०१४ । अच्छर (अप्सरा) ४१२११ ।
२९. सामान्यतः र् युक्त वर्ण द्वित्व वर्ण में प्रयुक्त हुए हैं । यथा—चंद्रप्रभ—
 चंदप्पहु १११५, अनुक्रम में—अनुक्कमि १२१३, निर्ग्रन्थ—निगंथ
 १२११० ।
३०. सरेफ वर्ण द्वित्व रूप में सामान्यतः प्रयुक्त हुए हैं । यथा—सूर्य—
 सुज्जु १११७, धर्म—धम्म १११९, कर्म—कम्म १११२, निर्जित—
 णिज्जिउ १२१४, कीर्त्ति—कित्ति १२१८, हर्म्य—हम्म १३१५,
 मार्ग—मग्ग १३१७, वर्ण—वण्ण १३१०, पूर्ण—पुण्ण १३११, दुर्जन—
 दुज्जण १३१४ ।
३१. ल्य और व्य क्रमशः लल और व्व में प्रयुक्त हुए हैं । यथा—
 कल्याण—कल्लाण ११११५ । सल्य—सल्ल १३१३ ।
 भव्य—भव्व १२१५, दिव्य—दिव्व १३११०, काव्य—कव्वु १७ ।

३२. कुछ वर्ण रेफ युक्त नहीं होकर भी द्वित्व रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यथा—
खग्ग (खड्ग) ६।५ । पुग्गल (पुद्गल) १।१६।१३ ।
३३. कुछ संस्कृत शब्द पूर्णतः परिवर्तित होकर प्रयुक्त हुए हैं। यथा—
खुद्द (क्षुद्र) १।३।१४ । खुत्त (क्षुब्ध) ५।२७।१४ ।
पुह्द (पृथिवी) ५।२।१।२६ । खउ (क्षय) १।१७।८ ।
३४. शब्दों में वर्णों का क्रम भंग भी हुआ है। यथा—
रहस (हर्ष) १।९।१७ । विह्यसर (विहसकर) १।१० ।
३५. अकारान्त शब्दों में प्रथमा एवं द्वितीया के एक वचन रूपों में शब्दों के अन्तिम अ के स्थान में उ प्रयुक्त हुआ है। यथा—करमचंद्रु (करमचन्द्रः) १।४।७, दासु (दासः) १।४।७, चित्तु (चित्तः) १।४।९, हंसु (हंसः) १।४।१३ आदि ।
३६. तृतीया विभक्ति के एक वचन में एँ, ए और एण प्रत्यय शब्दों के अन्त में प्राप्त होते हैं। यथा—जँ (जेन) १।२।१, जेण (जेन) १।२।२, रूवँ (रूपेण) १।४, जिनचरणादयेण (जिनचरणोदयेन) १।४।९ आदि ।
३७. तृतीया विभक्ति के बहु वचन में एकार तथा हि प्रत्यय का आदेश प्राप्त होता है। यथा—
ललियक्खरेहिं (ललितच्छरैः) १।१०।१४ । सिहेहिं (स्मरैः) १।१०।१४ ।
३८. अकारान्त शब्दों में पञ्चमो विभक्ति के एक वचन में हं, एं और इ तथा सु प्रत्यय शब्द के अन्त में पाये जाते हैं। यथा—
तवहं (तपात्) १।२।१२ । वयणँ (वचनात्) १।७ ।
भावेँ (भावात्) १।६।३ । सद्देँ (शब्दात्) १।९।२० ।
तासु (तस्मात्) १।६।५ । उवरि (उदरात्) १।५।५ ।
३९. अकारान्त षष्ठी बहु वचन के रूपों में सु और हं प्रत्यय प्रयोग में आये हैं। यथा—
तासु (तेषाम्) १।२।३ । जोवहं (जीवानाम्) १।१८।१० ।
४०. क्रियाओं में संस्कृत-प्राकृत का प्रभाव है। कुछ क्रिया रूप ऐसे भी व्यवहृत हुए हैं जो आधुनिक भाषाओं से निर्मित हुए हैं। यथा—
पीटइ = पीटना है (१।१।४।४) । रोवइ = रोता है (२।९।१) ।
कड्डिज्जइ = काढ़ दे (४।५।७) । कहइ = कहता है (१।९।१४) ।
चडि = चढ़कर १।९।२१ । घटइ = घट जाता है १।१८।७ ।

४१. पूर्वकालिक कृदन्त के लिए क्रियाओं में इ, इवि, एइ, एप्पिणु, एविणु, एवि के प्रयोग किये गये हैं। यथा—

वन्द < वंद + इ = वंदि ११० । गम् < जा + इ = जाइ १११।१८ ।

ज्ञा— < जाण + इवि = जाणिवि ७९।७ । नम् < ण + इवि = णइवि १२२।१७ ।

लम् < लह + इवि = लहेवि ११७।१४ । धृ < धार + इवि = धारिवि ११ ।

च्यव् < चव + एइ = चवेइ ७४।१२ ।

कृ < कर + एप्पिणु = करेप्पिणु ११० ।

दा < द + एप्पिणु = देप्पिणु ११० ।

हर्ष < हरस + एविणु = हरसेविणु १।७ ।

धुण < धुण + एवि = धुणेवि ५।२।१८ ।

पत् < पड + एवि = पडेवि २।५।१८ ।

४२. कवि ने ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जिनका सम्बन्ध भारतीय भाषाओं से सरलता पूर्वक स्थापित किया जा सकता है। कुछ शब्द निम्न प्रकार हैं—

लाड (२।३।१०) = प्यार । डॉ० राजाराम जैन के अनुसार यह शब्द व्रज, बुन्देली, भोजपुरी, बघेली, मैथिली, अवधी और राजस्थानी बोलियों में आज भी ज्यों का त्यों पाया जाता है।^१ बुन्देली बोली के शब्दों को प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रचुरता है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द हैं—

चोर (१।३।१४), झत्ति (१।९।२०) = झट (शीघ्र) । घण (१।-१२।८) = स्तन । लहणा-देणा (१।१६।९) = लेना-देना । मूला (१।१९।४) = मूली । सूरण (१।१९।५) । बड़ा (१।१९।६) = दही-बड़ा । अथाण (१।१९।६) अथाना (अचार) ।

तुरंत (२।१।६) = तत्काल । संज्ञकाल (४।१।४) संजा (संध्या) । घरु दारु (४।१।८) = घर-द्वार । घर (४।३।१७) । जिणि (१।१८।१०) = नहीं अर्थ में प्रयुक्त जिन शब्द ।

आउ (२।२।४) = आयु । आजु (१।१४।३) = आज । उजड (१।-१७।४) = ऊजड़ । कउडो (५।११) कौड़ी । कल्ल (१।१६।४) = कल ।

१. रङ्ग-ग्रन्थावली भाग एक : सोलापुर ई० १९७५ का प्रकाशन, भूमिका पृ० ७२ ।

किलेस (७३) = क्लेश । गणगउर (११८।६) = गनगौर । घोल (१-१९।६) = मिश्रण । चउमास (१२२।६) = चौमासा । चउहुट्ट (५।१-१२) = चौराहा चंदोवा (५।४।१५) । छांह (१।१५।९) = छाया । जीउ (१।७।५) = जीव । जीमइ (१।१९।६) जीमता है । झुट्टु (२।६।७) = झूठा । थाण (२।५।१३) = स्थान विशेष । दाम (१।३।६) = द्रव्य । दाहिण (१।११।७) = दायां । परदेस (३।१३।२) । परदेसिउ (१।१६।८) = परदेशी । परभवि--(१।१९।१३) = पर भव में । परवसि (१।१५।१) परवश में । पहरुवा (२।११।६) = पहरेदार । पाणो (१।१४।४) = पानी । फिरि (२।७।१०) = फिर भाइ (१।५।१४) = भाई । भूलउ (५।१६।२) भूल । मण (३।९।३) = मन् । माला (६।७।९) = हार । मुणि (७।६।९) = मुनि । मुसेवि (४।१।८) मूस कर । राते (१।१९।५) रात । रोस (७।११।९) = क्रोध । वयरी (१।१६।१७) = वैरी । वल (५।५।१५) = ताकत । विलक्खइ (५।२।१८) विलखता है । वुड्ढि (५।१।१४) = वृद्धा । वोलइ (२।५।११) = बोलती है । सल्ल (५।१३।२) बाधा । हालि (१।१७।२) = तत्काल । हरिस (३।१२।१०) = हर्ष = गसेण ३।१।६ सीढि आदि ।

शैली

प्रत्येक कवि या लेखक को लेखन-शैली में कोई न कोई विशेषता अवश्य रहती है । पण्डित माणिकराज की लेखन-शैली रोचक है । पढ़ते समय आगे-आगे को विषय-वस्तु जानने को अभिलाषा बनी रहती है । कवि ने कथा को रोचक बनाने के लिए अन्य कथाओं को भी गुम्फित किया है ।

श्लेष के माध्यम से नगर-वर्णन रोचक बनाये गये हैं । उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है ऋषभपुर नगर वर्णन । इस प्रसंग में कवि ने लिखा है कि इस नगर में दण्ड (यष्टि) छातों में ही था अर्थात् प्रजा में दण्ड व्यवस्था नहीं थी । इसी प्रकार भग्नता-विधुरजनों में, मार-इक्षुसार पर, मद-हाथियों में, स्वच्छन्दता-सिंह में, करपीडन-पाणिग्रहण में, शारीरिक मलिनता-मुनियों में, याचना-शिशुओं में, कृपणता-मधुमक्खियों में, पक्षपात-पक्षि-संघात में, रक्तिमा-खगमुख में, कलह-रमण प्रसंग में, प्रियवियोग-नख-छेदन में, गहन-पूर्णमा के चाँद में, मानभंग-पर अनुराग में, निर्गुणता-इन्द्रधनुष में और शारीरिक कठोरता-स्त्रियों के स्तनों में ही थी । इसका तात्पर्य है ये दोष प्रजा में नहीं थे (१।१२।१-८) । कवि ने नगर-वर्णन प्रसंग में नगरों का और वन-वर्णन प्रसंग में वनों का सांगोपांग वर्णन किया है । वन वर्णन में

वन्य-पशुओं का न केवल उल्लेख ही किया है अपितु उनके स्वभावों को भी दर्शाया है। सभी प्रसंगों में स्वाभाविक स्थिति चित्रित की गयी है। उपमाओं के द्वारा विषयों को सरस बनाया गया है।

प्रस्तुत रचना कडवक-पद्धति से की गयी है तथा कडवकों में एक घत्ता के योग से सोलह मात्रिक पद्धडिया छन्द व्यवहृत हुआ है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

अमरसेणचरिउ-अप्रकाशित अपभ्रंश ग्रन्थ के आमेर शास्त्र भंडार में होने की जानकारी सर्वप्रथम मुझे आदरणीय डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर से प्राप्त हुई थी। उन्होंने बहुत समय पूर्व अप्रकाशित ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित की थी जिसमें इस ग्रन्थ का भी नाम था।

विधि का योग है। जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी में मेरी नियुक्ति हुई और मुझे आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर की पाण्डुलिपियों को देखने का अवसर हाथ लगा। यहाँ अमरसेणचरिउ की पाण्डुलिपि प्राप्त कर अतीव प्रसन्नता हुई।

प्राचीन लिपि के पढ़ने का अभ्यास न होने से आरम्भ में कठिनाई आई किन्तु स्व० मूलचन्द्र जी शास्त्री श्रीमहावीरजी का सहयोग मिलने से यह कठिनाई भी न रही। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ा और लिपि भी समझ में आने लगी। श्री शास्त्री जी के सहयोग से एक बार सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ गया और अर्थ भी लिखा किन्तु अर्थ को अशुद्धियाँ बनी रही। इसी बीच रङ्गूग्रन्थावली भाग एक देखने का अवसर मिला। पीछे दी गयी शब्दानुक्रमणिका देखकर प्रसन्नता हुई। इसकी सहायता से अर्थ को विसंगतियाँ दूर कीं।

इसके पश्चात् किया हुआ अनुवाद व्याकरण सम्मत प्रतीत नहीं हुआ अतः तीसरी बार फिर हिन्दी अनुवाद तैयार किया।

यह सच है कि जब सफलता का योग होता है तब निमित्त भी स्वयमेव मिल जाते हैं। सौभाग्य से जयपुर से विहार कर परम पूज्य आचार्य वात्सल्यमूर्ति १०८ श्री विमलसागर जी महाराज संघ श्रीमहावीरजी पधारे। उनसे मिलने और दर्शन करने के अवसर मिले। इसी बीच अभोक्षणज्ञानोपयोगी संघस्थ उपाध्याय १०८ श्री भरतसागर जी और आर्यिका स्याद्वादमती माता जी से भी परिचय हुआ। विद्वत्-भ्रमा होने से उनका मुझे स्नेह मिला। वह स्नेह ऐसा पल्लवित हुआ कि उन्होंने मुझे

साहित्यिक चर्चाएँ तथा परामर्श करने का अवसर भी दिया। संघ के श्री सोनागिरि पहुँचने पर आचार्य श्री के अभिनन्दनग्रन्थ में प्रकाशनार्थ लेख प्रेषित करने हेतु कहा गया। यथा समय लेख भेजकर मैंने गुरु-आज्ञा का पालन किया। इस सबका यह परिणाम हुआ कि मैं संघ का और अधिक स्नेह-पात्र बन गया।

सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जो महाराज की हीरक जयन्ती के मांगलिक अवसर पर परम पूज्य ज्ञानदिवाकर उपाध्याय मुनि श्री भरतसागर जो महाराज की सूक्त-बृक्त और परम पूज्या आर्यिका स्याद्वादमती माता के संकल्प के परिणामस्वरूप ७५ जैन ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना निर्मित हुई।

मेरे निवेदन पर अब तक अप्रकाशित अपभ्रंश भाषा की रचना 'अमरसेनचरित' को भी योजना में सम्मिलित किया गया। उपाध्याय श्री और आर्यिका माता के इस श्रुत-स्नेह के प्रति मैं विनत भावों से उनके चरणाविन्दों में क्रमशः नमोऽस्तु और वन्दामि निवेदन करता हूँ।

जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी के संयोजक श्री ज्ञानचन्द्र जी 'खिन्दूका' और निदेशक प्रो० प्रवीणचन्द्र जी जैन की सौजन्यता से मुझे 'अमरसेनचरित' की फोटो प्रति प्राप्त हुई अतः उनकी इस आत्मीयता एवं सौजन्य के लिए मैं संयोजक और निदेशक महोदयों का हृदय से आभारी हूँ।

परमादरणीय डॉ० दरबागीलाल जी 'कोठिया', बीना, डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर, डॉ० कमलचन्द्र सोमानी, डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर, डॉ० राजाराम जैन, आरा, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, नीमच और स्व० श्री मूलचन्द्र जी शास्त्री, श्रीमहावीरजी ने इस कार्य में समय समय पर योग्य परामर्श देकर अनुगृहीत किया है। मैं इन विद्वानों के स्नेह पूर्ण मार्गदर्शन के प्रति विनत भावों से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

ब्र० प्रभा पाटनी के पत्रों ने कार्य में उत्साह बढ़ाया है। आलस्य को पास नहीं आने दिया। कार्य शीघ्र पूर्ण करने की तत्परता बनाये रखने में वहिन पाटनी का योगदान स्मरणीय रहेगा। उन्हें मेरा सादर नमन है।

प्रकाशनमाला के संयोजक ब्र० पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री प्रत्यक्ष और परोक्ष में सदैव प्रेरणा स्रोत रहे हैं। इस योजना में उनका मुझे सदैव सहयोग मिला है अतः सस्नेह उनका भी मैं आभारी हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पलता जैन बी० ए०, जामाता श्री विनय-कुमार एम० ए० (दमोह) और पं० हरिश्चन्द्र शास्त्री जैनदर्शनाचार्य,

मुरैता, पुत्र-पंकज जैन, और मंजू (विनीता) बी० ए०, संजू (सरिता) बी० ए०, भारती एम० ए०, मुक्ती तथा ज्योति पुत्रियों का इस सन्दर्भ में जो विविध प्रकार से सहयोग मिला है उसे भुलाया नहीं जा सकता। मैं सभी के अभ्युदय की कामना करता हूँ।

आदरणीय पिता वैद्य छोटेलाल जी के विद्या-स्नेह और दानवीर स० सि० कुन्दनलाल जी जैन, सागर की उदारता के परिणामस्वरूप ही मुझे इस कार्य के करने की क्षमता प्राप्त हुई है। मैं इन पुनीत आत्माओं को सविनय प्रणाम करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

श्री गणेश दिगम्बर जैन विद्यालय, सागर और श्री दि० जैन वर्णी गुरुकुल पिसनहारी मढिया, जबलपुर के उपकारों को कैसे भुलाया जा सकता है। परम पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा संस्थापित इन विद्यालयों में मुझे अध्ययन करने का सुयोग मिला है। मैं इन विद्यालयों और पूज्य वर्णी जी का ऋणी हूँ।

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् सोनागिरि (म० प्र०) का भी आभारी हूँ जिसकी अनुकम्पा से प्रस्तुत रचना प्रकाशित हो सकी है। शुद्ध, सुन्दर और स्वच्छ मुद्रण के लिए मुद्रणालय के व्यवस्थापक महोदय भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं उन महानुभावों के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने जाने, अनजाने इस कृति के सम्पादन, अनुवाद तथा प्रकाशन में स्नेह सहयोग दिया है। मैं उन लेखकों का भी आभारी हूँ जिनकी रचनाओं का अध्ययन इस कार्य में सहायक हुआ है।

प्रमादवश या अज्ञानवश त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। मैं प्रस्तुत रचना में हुई अशुद्धियों के लिए विद्वान् पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। सुधी पाठकों से मेरा सविनय अनुरोध है कि वे मुझे त्रुटियाँ अवश्य सूचित करने की कृपा करें जिससे कि आगामी संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके।

डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

दि० १५/१२/९०, शनिवार

अमरसेणचरिउ



सिरि पंडियमणि-माणिक-विरइउ

अमरसेणचरिउ

संधि-१

[१-१]

ध्रुवक

पणविवि तित्थंकर, सुहकारणु वर, कहमि मोक्खसुहु-रसभरिउ ।

भवियहँ सुहकारणु, दुक्खणिवारणु, हउं सिरि अमरसेणचरिउ ॥

सिरि रिसहणाहु जिणुसुइणिहाणु । सयल वि तित्थंकरजिणुपहाणु ॥१॥

सिरि अजिउणाहु वरसोक्खकारि । जिणु सयलदोसदुग्गइणिवारि ॥२॥

संभउ तित्थंकर सुहणिहाणु । अहिणंदणु भवियहँ विग्घणासु ॥३॥

सिरि सुमइणाहु मइसुट्ठुलीणु । पउमप्पहु परमप्पर्याहि लीणु ॥४॥

गयरायदोस जिणुवर सुपासु । हउं पायभत्तु तुहु अरुहदासु ॥५॥

चंदप्पहु जिणु सुहवरु वि कंजु । जिणु पुप्फयंतु तिल्लोयवंदु ॥६॥

जिणु सीयलु सयलव्वयपवीणु । सेयंसु वि सिवपयणिच्चलीणु ॥७॥

वासवेण महिउ जिणु वासुपुज्जु । विमलु वि विमलयरगुणेहिं सुज्जु ॥८॥

तित्थयरु अणंतु वि अंतच्चुक्कु । अरिक्कोहमाणमयसयलमुक्कु ॥९॥

जिणु धम्मु वि धम्मागमणिहाणु । सिरि संतिजिणेसरु जयपहाणु ॥१०॥

सिरि कुंशु पालयउ विमलणाणु । अरणाहु वि लोयालोयजाणु ॥११॥

सिरि मल्लिणाहु गइकम्मवाहु । मुणिसुव्वउ सिवरमणीहि-णाहु ॥१२॥

पुणु णमि जिणेंदु कम्महं कयंतु । सिरि णेमिणाहु भयवंतु संतु ॥१३॥

सिरिपासणाहु बहुविग्घणासु । पुणु वड्ढमाणु चउगइ वि णासु ॥१४॥

जसु कल्लाणहं खित्तु वि पवित्तु । जि पयडिउ जिणवरधम्मसुत्तु ॥१५॥

घत्ता

ए सयल वि तित्थंकर, हुव होसहिं धर, ते सह पणविवि पुहमि वर ।

पुणु अरुहहं वाणी, तिजयपहाणी, णियमणि धारि वि कुमइहरा ॥१॥

श्री पण्डितमणि-माणिक्यक विरचित अमरसेनचरित

सन्धि--१

[१-१]

तीर्थकर-स्तुति एवं अर्हन्त-वाणी-वन्दना

घत्ता—मैं (कवि माणिक्यकराज) परमसुख के कारण-स्वरूप तीर्थकरों को प्रणाम करके मोक्षसुख रूपी रस से पूरित और भव्य जनों को सुख देने तथा दुःखों का निवारण करने में कारण स्वरूप श्री अमरसेन चरित्र का वर्णन करता हूँ ॥१॥

जिन-श्रुत के निधान सभी तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभनाथ, सभी दोषों और दुर्गतियों का निवारण तथा परमसुख के करने वाले जिनेन्द्र श्री अजितनाथ, सुखों के निधान तीर्थकर सम्भवनाथ, भव्यजनों के विघ्नों का नाश करनेवाले अभिनन्दननाथ, श्रेष्ठ विचारों में लीन श्री सुमतिनाथ, परमपद में लीन पद्मप्रभ, राग-द्वेष से रहित जिनेन्द्र सुपार्ष्व-नाथ, कमल को विकसित करनेवाली चन्द्रमा की किरणों के समान सुखकारी जिनेन्द्र चन्द्रप्रभ, तीनों लोकों में वन्द्य जिनेन्द्र पुष्पदन्त, सम्पूर्ण व्रतों में प्रवीण जिनेन्द्र शीतलनाथ, शिवपद में नित्य लीन रहनेवाले श्रेयांसनाथ, इन्द्र द्वारा अर्चित जिनेन्द्र वासुपूज्य, विमलतर गुणों से सूर्य स्वरूप विमलनाथ, क्रोध, मान, माया रूपी शत्रुओं और मरण से मुक्त अनन्तनाथ, धर्म और आगम-ज्ञान के भण्डार जिनेन्द्र धर्मनाथ, जग में प्रधान जिनेश्वर श्री शान्तिनाथ, विमलज्ञानधारी और चीटी आदि क्षुद्र जन्तुओं पर दया करनेवाले श्री कुन्थुनाथ, लोकाकाश और अलोकाकाश के ज्ञाता अरनाथ, कर्म-व्याधि से रहित श्री मल्लिनाथ, शिवरमभी के स्वामी मुनिसुव्रत, इसके पश्चात् कर्मों के कृतान्त-स्वरूप जिनेन्द्र नमि, भयभीतों के शान्तिदाता श्री नैमिनाथ, बहुविघ्नों का नाश करनेवाले श्री पार्ष्वनाथ आर चारों गतियों के नाशक, जिनके कल्याणकों के पवित्र क्षेत्र हैं, तथा जिन्होंने धर्मसूत्र रूप में प्रकट किया उन जिनवर वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ । मैं (कवि) अर्हन्तों का दास और उनके चरणों का भक्त हूँ ॥१-१५॥

घत्ता—इन सभी तीर्थकरों को और जो इस धरणी पर हो चुके हैं तथा आगे होंगे उन सभी को प्रणाम करने के पश्चात् तीनों लोकों में प्रधान, कुमति को दूर करनेवाली अर्हन्तों की वाणी को निज हृदय में धारण करके (उसे नमस्कार करता हूँ) ॥१॥

[१-२]

पुणु गोयमुगणहरु णमउ णाणि । जें अक्खिउ सम्मइ जिणह वाणि ॥ १॥
 पुणु जेण पयत्थइं भासियइं । भवउवहितरणपोयणमुहाइं ॥२॥
 पुणु तासु अणुक्कमि मुणिपहाणु । णिय चेयणत्थ तम्मउ सुजाणु ॥३॥
 हुय बहुसददत्थह सुइणिहाणु । जि इंदुद्धरुणिज्जिउ पंचवाणु ॥४॥
 त्रिण्णाणकलालयपारुपत्त । उद्धरिय भव्व जे सम वि सत्त ॥५॥
 संतइय ताह मुणिगच्छणाहु । गय रायदोस संजइय साहु ॥६॥
 जें ईरिय गंत्थहकहपवीणु । णिय झ्णाणें परमत्पयह (हि) लीणु ॥७॥
 तवतेयणियत्तणु [किउ वि] खीणु । सिरिखेमकित्तिपट्टिहिपवीणु ॥८॥
 सिरि हेमकित्ति जि ह्यउ णामु । तहु पट्ट वि कुमर वि सेणु णामु ॥९॥
 णिगंथदयालउ जइवरिट्ठु । जि कहिउ जिणागमभेउ सुट्ठु ॥१०॥
 तहु पट्टिणि विट्ठउ वुहपहाणु । सिरि हेमचंडु मयतिमिरभाणु ॥११॥
 तं पट्टि धुरंधरु वयपवीणु । वर पोमणंदि जो तवहं (हुं) खीणु ॥१२॥
 तं पणविवि णियगुर सीलखाणि । णिगंथु दयालउ अमियवाणि ॥१३॥
 दुणुपभणामि कह सवणाहिराम । आयण्णहु जा सदत्थराम ॥१४॥

घत्ता

गोयम एवें जा कहिय, सेणियस्स सुहदायणि ।
 जा वुहयणचित्तामणिय, धम्ममारसहु तरंगिणि ॥२॥

[१-३]

महिवीढि पहाणउ गुणवरिट्ठु । सुरह वि मणविभउ जणइ सुट्ठु ॥१॥
 वर तिणिसालमंडिउ पवित्तु । णं इह पंडिउसुरपारपत्तु ॥२॥
 रहियासु वि णामें भणिउं इट्ठु । अरियणजणाह हियसल्लु कट्ठु ॥३॥
 जहि सहहि णिरंतर जिणणिकेय । पंडुरसुवण्णधय सुहसमेय ॥४॥
 सट्टालसतोरण जत्थ हम्म । मणसुह संदायण णं सुकम्म ॥५॥
 चउहट्टय चच्चरदाम जत्थ । वणिवर ववहरहि वि जहि पयत्थ ॥६॥

[१-२]

गौतम-गणधर की स्तुति एवं गुरु-स्मरण

ज्ञानी गौतम-गणधर को नमस्कार करने के पश्चात् जिसके द्वारा अर्हन्त वाणी सम्यक् रूप से कही गयी, भवसागर से पार होने को सुखकर नौका के समान पदार्थ बताये गये, उनके अनुक्रम में निज आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जानकर उसमें तन्मय रहनेवाले प्रधान मुनि आगम के शब्द और अर्थ के भण्डार हुए, जिसके द्वारा चन्द्रमा को धारण करनेवाले (शिव) और (कामदेव के कथित) पाँचों बाण जीते गये, विज्ञान और कला के भण्डार तथा उसके असीम ज्ञान को प्राप्त जिसके द्वारा समान रूप से भव्य जीव पार लगाये गये, राग-द्वेष से रहित संयमी उस साधु-सन्तति के मुनिवृन्द के स्वामी जिसके द्वारा प्रवीणतापूर्वक (इस) ग्रन्थ-कथन की प्रेरणा की गयी, निज ध्यान (और) परमपद में लीन होकर (जिसने) तप-तेज से निज तन क्षीण किया उन प्रवीण श्री खेमकीर्ति के पट्ट में जिसका हेमकीर्ति नाम था, उसके पट्ट (में) दयालु यतियों में वरिष्ठ निर्ग्रन्थ जिसके द्वारा भली प्रकार जिनागम के भेद कहे गये वे कुमारसेन उनके पट्ट पर बैठे बुद्धिमानों में प्रधान मदरूपी अन्धकार के लिए सूर्य स्वरूप श्री हेमचन्द्र, उनके पट्ट में व्रतों में धुरन्धर प्रवीण और तप से क्षीण, शील की खदान, दयालु, अमृत के समान वाणीवाले निर्ग्रन्थ अपने गुरु श्रेष्ठ पद्मनन्दि को प्रणाम करने के पश्चात् शब्द और अर्थ से सुन्दर कर्ण-सुखद कथा कहता हूँ, श्रवण करें ॥१-१४॥

घत्ता—जो बुद्धिमानों को चिन्तामणि रत्न और धर्मरस रूपी नदी के समान है, राजा श्रेणिक की सुखदायिनी वह कथा गौतम-गणधर ने इस प्रकार कही है ॥२॥

[१-३]

रुहियास (रोहतक) नगर-वर्णन

पृथिवी-मण्डल में प्रधान, गुणवरिष्ठ (और) देवताओं के मन में भी भली प्रकार विस्मय उत्पन्न करनेवाला, श्रेष्ठ और पवित्र तीन प्राकारों से सुशोभित इस पृथिवी मण्डल पर पार प्राप्त देव-पण्डित बृहस्पति के समान तथा बैरियों को हृदय की कठिन शल्य स्वरूप प्रतीत होनेवाला, जहाँ पांडुर एवं स्वर्ण-वर्णवाली शुभ ध्वजाओं से युक्त जिन-मन्दिर निरन्तर शोभायमान रहते हैं, जहाँ सत्कर्मों के समान मन को सुख देनेवाले अट्टालिकाओं और तोरणों से युक्त भवन हैं, जहाँ चारों ओर द्रव्य की चर्चा और श्रेष्ठ

मगण-गण-कोलाहल समत्थ । जहिं जण णिवसहिं संपुण्ण अत्थ ॥७॥
 जहिं आवणम्मि थिय विविहभंड । कसवट्टिहिं कसियहिं भम्मखंड ॥८॥
 जहिं वसहिं महायण सुद्धवोह । णिच्चंचिय पूया-दाण-सोह ॥९॥
 जहिं वियरहिं वरचउवण्णलोय । पुण्णेण पयासिय दिव्वभोय ॥१०॥
 ववहारचार संपुण्ण सव्व । जहिं सत्त वसणमयहीण भव्व ॥११॥
 सोवण्णचूडमंडियविसेस । सिंगारभारकिय णिरवसेस ॥१२॥
 सोहगणिलय तिणधम्मसोल । जहिं माणिणि माणमहग्घलील ॥१३॥
 जहिं चोरचाडकुसुमाल दुट्ट । दुज्जण सखुद्वलपिमुणधिट्ट ॥१४॥
 णवि दीसहिं कहि महि दुहियहीण । पेम्माणु रत्त सव्व जि पवीण ॥१५॥
 जहिं रेर्हिं हय-पय-दलिय-मग्गु । तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्गु ॥१६॥

घत्ता

सुहलच्छिज सायर, णं रयणायर, बुहयणजुउ णं इंवउर ।
 सत्थत्थहिं सोहिउ, जणमणमोहिउ, णं वर णयरहं एहु गुरु ॥३॥

[१-४]

तहिं साहिसिकन्दरु सामि सालु । णिय पइपालइ अरियणभयालु ॥१॥
 तं रज्जि वसइ वणिवरु पहाणु । दुत्थियजणपोसणु गुणणिहाणु ॥२॥
 जो अइरवालु-कुल-कमल-भाणु । सिंघल कुवलयहु वि सेयभाणु ॥३॥
 मिच्छत्तवसणवासण-विरत्तु । जिणसासणिगंथह पायभत्तु ॥४॥
 चौधरियणाम चीसा सतोसु । जो वंसह मंडणु सुयणपोसु ॥५॥
 तं भामिणि गुणगणसीलखाणि । सालहाही णामें महरवाणि ॥६॥
 तं गंदणु णिरुवम-गुण-णिवासु । चउधरियकरमचंदु अरुहदासु ॥७॥
 जिणधम्मोवरि जे वद्धगाहु । णिव हियइ इट्ठु पुरयणहं णाहु ॥८॥

व्यापारी जहाँ पदार्थों का व्यापार करते हैं, मार्ग लोगों के कोलाहल से पूर्ण रहते हैं, जहाँ धन-सम्पन्न लोग रहते हैं, जहाँ दुकानों में विविध प्रकार की सामग्री भरी पड़ी रहती है, (जहाँ) कसौटियों पर भौम्यखण्डों (स्वर्ण, रजत आदि) को कसा जाता है, जहाँ नित्य अर्चना, पूजा, दान से सुशोभित शुद्ध-निर्मल-बुद्धि से सम्पन्न महाजन निवास करते हैं, जहाँ उत्तम चारों वर्ण के लोग पुण्य से प्राप्त दिव्य-भोग भोगते हुए विचरण करते हैं, जहाँ सभी आचार-व्यवहार से परिपूर्ण हैं, भव्य पुरुष (जहाँ) सप्त व्यसनों और मद से रहित हैं, सोने के कणों से विशेष रूप से मण्डित (और) सभी प्रकार के शृंगार किये हुए सौभाग्य की निधान, जैनधर्म और शीलगुण से युक्त जहाँ की मानिनी नारियाँ मानपूर्वक श्रेष्ठ लीलार्थें किया करती हैं, जहाँ चोर, कपटी, लुटेरे, दुष्ट, दुर्जन, क्षुद्र, खल, पिशुन, धृष्ट, दुखी एवं अनाथ जन पृथिवी पर दिखाई नहीं देते। सभी जन प्रवीण और प्रेमासक्त हैं। जहाँ घोड़ों के खुरों से दलित मार्ग सुशोभित रहते हैं, धरातल पान के रंग में रंगा रहता है (ऐसा एक) रहियास नाम का सुन्दर (नगर) कहा है ॥१-१६॥

घत्ता—सुख, समृद्धि एवं यश के लिए मानो यह रत्नाकर था, बुध-जनों से युक्त मानों यह इन्द्रपुरी ही था। शास्त्रार्थों से सुशोभित तथा जनमन को मोहित करनेवाले सर्वश्रेष्ठ नगरों का मानों यह गुरु ही था ॥३॥

[१-४]

ग्रंथ-प्रणयन-प्रेरक चौधरी देवराज की वंश-परम्परा

वैरियों को भय उत्पन्न करनेवाले शाहंसाह राजा सिकन्दर उस नगरी में अपनी प्रजा का पालन करता है। उस राज्य में दुखी जनों का पोषक, गुणों का निधान और व्यापारियों में प्रधान व्यापारी रहता है। वह अग्र-वाल अन्वय रूपी कमल के लिए सूर्य और सिंहल (गोत्र) रूपी पानी में होनेवाले नीले कमल के लिए चन्द्रमा के समान (था)। (वह) मिथ्यात्व, सप्त-व्यसन (और) इन्द्रिय-वासनाओं से विरक्त तथा जिन-शासन और निर्ग्रन्थों के चरणों का भक्त था। (उसका) नाम चौधरी चीमा था। वह (अपने) वंश का भूषण और सुजनों का पोषक तथा (उन्हें) संतुष्ट रखने-वाला था। माल्हाही नाम की उसकी स्त्री थी। (वह) मोठी वाणी बोलती थी। गुणों के समूह और शील की खदान थी। उसका पुत्र चौधरी करम-चन्द अर्हन्तों का सेवक और अनुपम गुणों का निवास-स्थल था। जिसके

जिणचरणोदण वि जो पवित्तु । आयमरसरत्तउ जासुचित्तु ॥९॥
 उद्धरिउ चउद्विह-संघभारु । आयरिउ वि सावयचरिउ चारु ॥१०॥
 चउ-दाणवंत्तु णं गंधहत्थि । वियरेइ णिच्च जो धम्मपंथि ॥११॥
 सम्मत्तरयण-लंकिय सरीरु । कणयायलुव्व णिक्कंपु धीरु ॥१२॥
 सुहि परियणकइरव-वणहि हंसु । जिणवरसहमज्जे लद्ध संसु ॥१३॥
 तं भामिणि दिउचंदही-मियच्छि । जिणसुय-गुर-भत्तिय-सील-सुच्छि ॥१४॥
 तं जायउ णंदणु सीलखाणि । चउ महणा णामें अमियवाणि ॥१५॥
 धण-कण-कंचण-संपुण्ण संतु । पंडियहं वि पंडिउ गुणमहंतु ॥१६॥

घत्ता

दुहियणदुहणासणु, बुहकुलसासणु, जिणसासणरहधुरधवलु ।
 विज्जालच्छीघरु, रूवें णं सरु, अहणिसु किय विह उद्धरणु ॥४॥

[१-५]

तं पणइणि पणइ णिवद्धवेह । णामें खेमाही पियसणेह ॥१॥
 सुरसिन्धुरगइ सइ वइ वि लील । परिवारहु पोसणु सुद्धसील ॥२॥
 णर-रयणहं णं उप्पत्तिखाणि । जा वीणा इव कलयंठि वाणि ॥३॥
 सोहगरूप-चेलणिय दिट्ठु । सिरि रामहु सीया जिह वरिट्ठु ॥४॥
 तंहि उवरि उवण्णा रयण चारि । णं णंत-चउवकसुरूव-धारि ॥५॥
 तं मज्झि पढमु वियसिय सुवत्तु । लवखण-लवखं किउ वसणचत्तु ॥६॥
 अतुलियसाहसु सहसेकगेहु । चाएण कण्णु-संपईहं गेहु ॥७॥
 धीरें-गिरि गंभीरें-सायरु । णं धरणीधरु णं रवि-ससिसुरु ॥८॥

द्वारा जैनधर्म पर देह आवद्ध की गयी है, (जो) पुरजनों के स्वामी राजा के हृदय को इष्ट था। जो जिनेन्द्र के चरणोदक से पवित्र (था)। जिसका चित्त आगम-रस में मग्न रहता था। जिसने चारों प्रकार के संघों का व्यय-भार वहन किया था और श्रावक के आचार को भली प्रकार पाला था। जो नित्य धर्म के मार्ग में विचरता था। चारों प्रकार के दान से ऐसा प्रतीत होता था मानो (वह) गन्धहस्ति हो। जिसने अपनी देह सम्यक्त्व-रत्न से अलंकृत की थी। (जो) कनकाचल के समान निष्कम्प और धैर्यवान् था। परिजन रूपी श्वेत कमल-वन में वह सुधी हंस स्वरूप था। जिनेन्द्र-भवतों के बीच में जिसने प्रशंसा प्राप्त की थी। उसको मृगनयनी दिउ-चन्दहो स्त्री थी। (वह) जिन-श्रुत और गुरु की भक्त तथा शील से पवित्र थी। उसने शील की खदान, अमृत के समान मिष्ठ भाषा-भाषी चौधरी महणा नाम का पुत्र उत्पन्न किया। वह धन-धान्य-स्वर्ण से सम्पन्न, पंडितों का पंडित और गुणों से महान् तथा शान्त (था) ॥१-१६॥

घत्ता—वह दुखी जनों के दुःखों का नाश करनेवाला, बुधजनों के समूह का शासन करनेवाला, जिन-शासन रूपी रथ की धवल धुरी, विद्या और लक्ष्मी का घर, रूप से मानों समुद्र था। (इसने) अहर्निशि वैभव का विकास किया था ॥४॥

[१-५]

चौधरी देवराज का कौटुम्बिक-परिचय

(महणा की) खेमाही नाम की पत्नी देह में निबद्ध (प्राणों के समान) प्रेमी-प्रीतम (महणा) से प्रेम करती थी ॥१॥ देवगंगा की गति के समान मन्दगामिनी, व्रतों से लीला करनेवाली सती, शील से पवित्र (वह) परिवार का पोषण करनेवाली थी ॥२॥ मनुष्य रूपी रत्न उत्पन्न करने की मानो खदान थी। वाणी-बोलने में वीणा वाद्य तथा कोयल के समान थी ॥३॥ अपने गुहावने सौन्दर्य तथा वस्त्रों से श्री राम की सीता जैसी श्रेष्ठ दिखाई देती थी ॥४॥ उसके उदर से चार (पुत्र) रत्न उत्पन्न हुए। (वे ऐसे प्रतीत होते थे) मानो अनन्त चतुष्टय ही मनुष्य रूप धारण करके आ गये हों ॥५॥ उन चारों में प्रथम पुत्र प्रसन्न मुख, लक्षावधि लक्षणों से युक्त, व्रसनों से मुक्त, अतुलित साहसी, सहस्रों को अकेले ही पकड़ लेनेवाला, गृह-सम्पदा के त्याग से (दानी) कर्ण के समान, पर्वत के समान धैर्यवान्, समुद्र के समान गम्भीर होने से ऐसा प्रतीत होता था मानों शेष नाग या विष्णु हों, देवी

णं सुरतरु पइपोसणु सुहहरु । णं जिणधम्मपुपयडु थिउ वसवरु ॥१॥
 जि णियजसि पूरियदाणि महि । जो णिय-सुहपालउ सुयण सुहि ॥१०॥
 दिउराजु णामु चउधरिय सुहि । जिणधम्म-धुरंधरु धम्मिणिहि ॥११॥
 विण्णाण-कुसलु वीयउ सुपुत्तु । जो मुणइ जिणेसर-धम्मसुत्तु ॥१२॥
 सुपवीण राय दावार कज्जि । गंभीरु ज सायरु बहु गुणज्जि ॥१३॥
 क्षाणु चउधरिय विसुद्धभाइ । जो णिवमणु-रंजइ विविहभाइ ॥१४॥
 अण्णु वि तीयउ रिसिदेव भत्तु । गिहभार-धुरंधरु कमलवत्तु ॥१५॥
 चुगना णामे चउधरिय उत्तु । जो करइ णिचव उवयारु तत्तु ॥१६॥
 पुणु चउथउ णंदणु कुलपयासु । अवगमिय सयल विज्जाविलासु ॥१७॥
 जिणसमयामयरस-तित्त चित्तु । छुट्टा णामे चउधरिय उत्तु ॥१८॥

घत्ता

ए चउ भाइय, जिणमइराइय, दिउराजु णामु गुरुवउ सुमई ।
 णाणा सुह विलसइ, जइयण-पोसइ, णिय-कुल-कमलज्जु पुहई ॥५॥

[१-६]

अण्णाहि दिणि जिणवरगंथ-दत्थु । सम्मत्तरयणलंकिय हियत्थु ॥१॥
 गरु अरुह-गेहि दिउराजु साहु । चउधरिय राय-रंजण-पयासु ॥२॥
 भावे वंदिउ तहं पासणाहु । पुणु जिणगंथाणहं णविवि साहु ॥३॥
 सिद्धंतअत्थ भाविय णणेण । पुरयणसुहयारउ सुरधणेण ॥४॥
 तहं विट्ठउ पुणु सरसइ-णिवासु । माणिककराजु जिणगुरहं दासु ॥५॥
 तेण वि संभासणु कियउ तासु । जो गोठि पयासइ बहु सुयासु ॥६॥
 तं जिण-अंचण-पसरिउ भुवेण । अक्खिउ वुह सूरानंदणेण ॥७॥

सूर्य-चन्द्र हो ॥६-८॥ सुख पूर्वक प्रजा का पोषण करने से ऐसा प्रतीत होता था मानों कल्पवृक्ष हो, जैनधर्म को स्थिर रखने और उसकी प्रभावना करने से ऐसा प्रतीत होता था मानो कुवेर हो ॥९॥ जिसके द्वारा दान और अपने यश से पृथिवी भर दी गयी थी। जिसने अपने सुख के समान सुखों से सुधी और सुजनों का पालन किया ॥१०॥ उसका नाम चौधरी सुधी देवराज था। वह जैनधर्म की निधि था। जैनधर्म का भारवहन करने में धुरन्धर था ॥११॥ विज्ञान में कुशल, जिनेन्द्र द्वारा भाषित धर्मसूत्रों को जानने वाला, राजकार्यों एवं व्यापार कार्यों में कुशल, गम्भीर, यशागार, बहु गुणज्ञ, राजा के मन को विविध भाँति से आनन्दित करनेवाला, निर्मल परिणामों ज्ञासू चौधरी दूसरा सुपुत्र था ॥१२-१४॥ ऋषि और देवभक्त, गृहस्थी का भारवहन करने में धुरन्धर, कमल के समान मुखवाला, नित्य उपकार करनेवाले तीसरे पुत्र का नाम चुगना चौधरी कहा गया है ॥१५-१६॥ कुल का नाम प्रकाशित करनेवाला, सम्पूर्ण विद्या-विलास का प्राप्तकर्ता, जिन-सिद्धान्त रूपी अमृत-रस से तृप्त चित्तवाला चौधरी छुट्टा नाम से चौथा पुत्र कहा गया है ॥१७-१८॥

घत्ता—जिनमति से सुशोभित ये चार भाई थे। (इनमें चौधरी) मतिमान देवराज नाम का बड़ा भाई था। पृथिवी पर अपने कुल का कमल-स्वरूप वह नाना प्रकार के सुख-विलास करता हुआ यति जनों का पोषण करता था ॥१-५॥

[१-६]

चौधरी देवराज और कवि माणिक्यराज का ग्रन्थ-प्रणयन-विषयक विचार-विमर्श

दूसरे दिन आगम आदि जिनेन्द्र द्वारा कहे गये ग्रन्थों में दक्ष, सम्यक्त्व रूपी रत्न से अलंकृत हृदयवाला चौधरी देवराज साहु राग-रंजित होकर पैदल ही जिनमन्दिर गया ॥१-२॥ वहाँ साहु देवराज ने भावपूर्वक वन्दना की तथा जिन-ग्रन्थों को नमन करने के पश्चात् सरस्वती-भवन में उन्हें सिद्धान्तग्रन्थों के अर्थ को मन से भाते हुए, स्वर रूपी धन से (उपदेश से) पुरजनों को मुखकारी, जिनगुरु के दास माणिक्यराज दिखाई दिये ॥३-५॥ माणिक्यराज ने भी—जो बहुश्रुतों की गोष्ठी को प्रकाशित किया करते थे, उसके (देवराज के) साथ सम्भाषण किया ॥६॥ जिनेन्द्र भगवान् की अर्चना के लिए प्रसारित भुजाओं वाले बुधसूरा के पुत्र (माणिक्यराज)

भो अइरवालकुलकमलसूर । ब्रुहयण-जणाण-मण-आसपूर ॥८॥
 जिणधम्म-धुरंधर गुणणिकेय । जसपूर दिसंतर कियस सेय ॥९॥
 चउधारिय वि महणासुय सुणेहि । कलिकालु पयलु णियमणि धरेहि ॥१०॥
 दुज्जण अवियट्ट वि दोसगाहि । वड्ढंति पउर पुणु पुहइ माहि ॥११॥
 गइ सुकइत्तणि पुणु वद्धगाहु । णिय हियइ धरेप्पिणु पासणाहु ॥१२॥
 सत्थत्थकुसललइरसहभरिउ । सिरि अमरवइरसेणाहु वि चरिउ ॥१३॥
 तउ वंसु गरिट्टउ पुहइ मज्झि । णं आइणाह हीणहं दुसज्झि ॥१४॥
 जहं जायपुरिसवर तवहं धारि । वरसीहमल्ल पमुहाइसारि ॥१५॥

घत्ता

तं वयणु सुणेप्पिणु, मणिपुलएविणु, अक्खइ देवराजु ब्रुहहो ।
 भो माणिकक पंडिय, सील अखंडिय, वयणु एकु महु सुणहि लहु ॥६॥

[१-७]

णिय गेहि उवण्णउ कप्पविक्खु । तं फलु को णहु बंच्छइ समुक्खु ॥१॥
 पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु । को णिससारइ पुणु वि गयरेणु ॥२॥
 तहं पइं किउ महु पुणु सइं पसाउ । महु जम्मु सहलु भो अज्जजाउ ॥३॥
 महु धण्णु जम्मु परिसउ चित्तु । कइयण-गुण दुल्लहु जेण पत्तु ॥४॥
 वहु जीणि अणंताणंतकालु । भवि भमइ जीउ मोहेण बालु ॥५॥
 कहमवि पावइ तारुणभाउ । वम्महं वसेण सो वइरभाउ ॥६॥
 णवि जाणइ जुक्ताजुत्त-भेउ । णउ सत्थु ण गुरु अरहंतु-देउ ॥७॥
 धावइ दहदिहि दविणत्ति-खिण्णु । णउ भावइ चेयणु परहभिण्णु ॥८॥
 लोहें बद्धउ अलियउ रसंतु । परधणु परजुवई मणरसंतु ॥९॥
 मिच्छित्तु वि समरसपाणत्तित्तु । णउ कहमवि जिणवरधरमु पत्तु ॥१०॥

द्वारा कहा गया ॥७॥ हे अग्रवाल—कुलरूपी कमल के लिए सूर्य के समान, पण्डित जनों के मन की आशा को पूर्ण करनेवाले, जैनधर्म में धुरन्धर, गुणों के आगार तथा यश के प्रसार से दिशा-दिशान्तरों को धवल बनानेवाले, चौधरो महणा के सुपुत्र सुनो, अपने मन में कलिकाल प्रकट हो गया है ऐसा वेचार धारण करें ॥८-१०॥ दोषों को ग्रहण करनेवाले दुर्जन और मूर्ख पृथिवी पर प्रचुरता से बढ़ रहे हैं ॥११॥ हे साहु ! मेरी बात सुनो, अपने मन में पार्श्वनाथ को धारण करो ॥१२॥ शास्त्रार्थ में कुशल (हे चौधरी) श्री अमरसेन-वडरसेन के चरित को लय और रसों से भरो ॥१३॥ पृथिवी पर उनका श्रेष्ठ वंश ऐसा प्रतीत होता है मानों होन पुरुषों को दुस्साध्य गदिनाथ का वंश हो, जहाँ श्रेष्ठ तप धारण करनेवाले बाहुबलि जैसे पुरुष, ममुख स्त्रियाँ, और जैन आचार्य सिंह जन्मे ॥१४-१५॥

घत्ता—उसके (पंडित माणिककराज के) वचन सुनकर मन में पुलकित होकर देवराज कहता है हे बालब्रह्मचारी बुद्धिमान पण्डित माणिककराज मेरी एक छोटी सी बात सुनो ॥१-६॥

[१-७]

१० माणिककराज के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अमरसेन-वडरसेन का चरित-श्रवण हेतु निवेदन एवं पं० जी द्वारा स्वीकृति

अपने घर में उत्पन्न कल्पवृक्ष के सुखद फल को कौन नहीं चाहता ? ॥१॥ यदि पुण्यकर्म से कामधेनु प्राप्त हो जाय तो धूलि उड़ानेवाले हाथी तो आश्रय देकर उसे कौन घर से निकालेगा ? ॥२॥ आपने मेरे प्रति स्वयं हृषा की है । हे (कविवर) आज मेरा जीवन सफल हो गया ॥३॥ कविवरों के दुर्लभ गुण जिससे प्राप्त हुए वह मेरा जन्म धन्य है और चित्त मसन्न है ॥४॥ यह अज्ञानी जीव मोहवश अनन्तानन्त काल तक संसार की विविध योनियों में भ्रमण करता है ॥५॥ जिस किसी प्रकार जब वह तरुगाई को प्राप्त करता है तो काम के वशीभूत होकर वैर भाता है ॥६॥ उचित और अनुचित का भेद भी नहीं जानता । वह न अर्हन्तदेव को जानता है, न शास्त्र को और न गुरु को ॥७॥ धन के लिए खेद-खिन्नित होकर दसों दिशाओं दौड़ता है किन्तु पर से भिन्न चेतन का ध्यान नहीं करता ॥८॥ लोभ में बँधकर असत्य भाषण करता हुआ परधन एवं परस्त्रियों का मन में स्मरण करता हुआ, मिथ्यात्वरूपी विषयरस के पान में नृप्त होता हुआ किसी भी प्रकार जिनधर्म को प्राप्त नहीं करता ॥९-१०॥

अहवा वि पत्तु णउ मुणइ तत्तु । तं विहलउ हारइ ता णरत्तु ॥११॥
 रयणुव्व दुलहु सावयहु जम्मु । महपुण्णे मइ लद्धउ सुकम्मु ॥१२॥
 भो पंडिय भणि महु लहु चरित्तु । सिरि अमरसेणि-वरसेणि सुत्तु ॥१३॥
 ते सवण घण्णि जे सुणहि वाणि । संदेहु किंपि मा चित्तिठाणि ॥१४॥

घत्ता

इय चउघरियहं वयणें, वियसिय वयणें, पंडिएण हरसेविणु ।
 तें कव्वु-रसायणु, सुहसयदायणु, पारद्धउ मणु देविणु ॥७॥

[१-८]

अच्छहु दुज्जणं वूरि वसंतइ । कामकोहमयलोहासत्तइं ॥१॥
 दुज्जण-सप्पहु एयं अवत्थइं । छिद्द-णिहाल ण पइ पय सत्थइं ॥२॥
 दुज्जण चल्लीणी व सम सीसइ । उत्तम पत्तहं संगु ण दीसइ ॥३॥
 पत्त-अपत्तहं भेउ ण जाणहिं । विसयासत्तइं अत्थइं माणहिं ॥४॥
 बइ दुज्जण-जणणीयइ भव्वउ । तो परिहरियइ मणुव सगव्वउ ॥५॥
 दुज्जणु विसयकसायं रत्तइ । अच्छहु सो पुणु कामें मत्तइ ॥६॥
 जो भव्वयणु सीलगुणवंतइं । विसयकसायराय-परिचत्तइं ॥७॥
 सोयदाय जो इंदिय दंडइं । दहधम्मइ-रयणत्तइ मंडइं ॥८॥
 सो भव्वु वि खडतिय पउ णिहिं पालइं । पत्तहं दाणु देइ अणिवारइ ॥९॥
 सो भव्वयणु वि मह दयकिज्जहु । कम्मपयडि चूरि वि मुक्किज्जहु ॥१०॥
 इह कह दुलंघ मह तुच्छमई । णउ मुणउच्छंदु गाहा दुवई ॥११॥
 जिणमग्गु ण जाणउ मिच्छरई । णउ चउपहि दोहा पद्धडिय गई ॥१२॥
 वायरणु तक्कु ण उर वीर-सामि । णउ दिट्ठउ कहव ण सुणित ठामि ॥१३॥

यदि प्राप्त कर भी लेता है तो तत्त्व नहीं जानता । विफल होकर वह मनुष्यता को हार जाता है ॥११॥ समुद्र में गिरे हुए रत्नों के समान श्रावक-कुल में जन्म दुर्लभ है । महान् पुण्य से मुझे यह सत्कार्य प्राप्त हुआ है ॥१२॥ हे पंडित ! मुझे श्री अमरसेन और वइरसेन का चरित सूत्ररूप में शीघ्र कहो ॥१३॥ वे श्रवण (कर्ण) धन्य हैं जो चित्त स्थिर करके जिनवाणी सुनते हैं । इस विषय में अपने हृदय में कोई सन्देह मत करो ॥१४॥

धत्ता—इस प्रकार चौधरी के वचन सुनकर पंडित माणिक्यराज ने प्रसन्नमुख से हर्षित होकर सैकड़ों प्रकार के सुखों को देनेवाले अपने काव्य रूपी रसायन को मन देकर आरम्भ किया ॥१-७॥

[१-८]

दुर्जन-स्वभाव-दर्शन, कवि का लाघव प्रदर्शन, कलिकाल-स्थिति तथा ग्रन्थ-प्रणयन-निश्चय

काम, क्रोध, मान और लोभ में आसक्त दुर्जन पुरुषों से दूर निवास करना अच्छा होता है ॥ ॥ दुर्जन और सर्प स्वभाव से एक हैं । छिद्र देखकर सर्प जैसे हितकारी दूध को त्याग देता है इसी प्रकार दुर्जन हितैषी प्रजा का भी साथ नहीं देता (त्याग देता है) ॥२॥ दुर्जन सार वस्तु का त्याग कर देनेवाली चलनी और लघु आघात से टूट जानेवाले काँच के समान होता है । वह उत्तम पात्रों के साथ दिखाई नहीं देता ॥३॥ पात्र और अपात्रों का वे भेद नहीं जानते । विषयों में आसक्त रहते हैं और धन को मान्यता देते हैं ॥४॥ यदि दुर्जन की माता सुजन होती है तो वह ऐसे मनुष्य को गर्व पूर्वक त्याग देती है ॥५॥ दुर्जन विषय-कषायों में मग्न रहता है । अच्छा हुआ तो फिर काम में उन्मत्त रहता है ॥६॥ जो भव्य जन शीलगुणवान् हैं, विषय-कषायों के राग को वे त्याग देते हैं ॥७॥ जो शोकप्रद इन्द्रिय-दमन करता है, दस धर्म और रत्नत्रय से अलंकृत रहता है ॥८॥ वह भव्य पुरुष निधिप्रां पाकर तीन खण्ड पृथिवी का पालन करता है और अनिवार्य रूप से दान देता है ॥९॥ ऐसे भव्य जन मुझ पर दया करो । (मेरी) कर्म प्रकृतियों को चूरकर (मुझे) मुक्त करो ॥१०॥ यह कथा दुर्लङ्घ्य है, मेरी तुच्छबुद्धि है, मैं गाथा और दुवई छन्द नहीं जानता हूँ ॥११॥ जिनमार्ग नहीं जाना है, मिथ्यात्व में रति है, चौपाई, दोहा और पद्धड़िया छन्द तथा गति नहीं जानता हूँ ॥१२॥ हे महावीर स्वामी ! व्याकरण और तर्क हृदय में नहीं हैं । कथा न देखी है और न किसी स्थान पर

णउ लिहि अट्टारह मुणित भेउ । णउ मुणउं सद्दु सुह-असुह भेउ ॥१४॥
 वीलंतहो महुपरि खलइ वाय । ललिप्रक्खरु जंपिरु साणुराय ॥१५॥
 किउ रयउ सत्थु इत्थु जि महत्थु । महु संसा परिवड्ढइ हियत्थु ॥१६॥
 कलिकाल-मज्झि आवइ दुसज्झि । जण वुवियड्ढह दालिद्वज्झि ॥१७॥
 मिच्छत्तलित्त दुव्वसणसत्त । धम्मणेण चत्त गयपाणमत्त ॥१८॥
 ए रिसजणोह घरि घरि अमेह । पयडंति वि अवगुण वि गतणेह ॥१९॥
 दीसंति दुरासाय विविह भेय । हंढहि चउगइ-जिणमइर हेय ॥२०॥

घत्ता

सोयारें वज्जिउ, जिणु-जय पुज्जिउ, वोसुज्झिउ सम्मइं णि रहु ।
 सो विवणम्मण थक्कउ, गणहर मुक्कउ, किं पुणु अम्हारि सुहु णइं ॥१-८॥

[१-९]

जइ तुच्छबुद्धि कियकम्ममहु । धिट्ठत्ते पयडउ सुकह इहु ॥१॥
 आयण्णहु भवियण थिरभणेण । संकप्पु-वियप्पु वि मुइ खणेण ॥२॥
 इह जंजूवीवें भरहवित्तु । रसखंडहमंडिउ वर पवित्तु ॥३॥
 तहं मगहवेसु सोहइ वरिट्ठु । तह मज्झि वसइ राइगिहु मणिट्ठु ॥४॥
 धणकण समिद्धु वुहयणहं जुत्तु । णं सुरख्वांगदपुर आइ पत्तु ॥५॥
 णिवसांहि चउवगइ अरुहभत्त । जिणु पुज्जहि राहि वि अचलचित्त ॥६॥
 तहं राणउं सेणित्तं पयहिपालु । सुहि भुंजइ णिव सिरि अरिभयालु ॥७॥
 तहु राणी चेऽण-रुवखाणि । जिणसासणभत्तिय अमियवाणि ॥८॥
 परसप्पर रज्जु करंत सुहिं । मण इंच्छिउ रइसुहु करहिं दिहिं ॥९॥
 तावहि विपुलिद गिरिंद सिहरि । अइसइमंडिउ जहु महइहरि ॥१०॥
 दसअट्टदोसरहियउ जिणेंदु । पडिहार-अट्ट संजुउ अणेंदु ॥११॥

सुनी है ॥१३॥ लेखन के अठारह भेद में नहीं जानता हूँ । शब्दों के शुभ और अशुभ हेतु (भी) नहीं जानता हूँ ॥१४॥ बोलते हुए वायु स्खलित हो जाती है (तो भी) अनुराग पूर्वक ललित अक्षरों (से) कहता हूँ ॥१५॥ इस महान शास्त्र से मुझे स्नेह है किन्तु मेरे हृदय में शंका बढ़ रही है ॥१६॥ कलिकाल में कठिनाई आती है । लोग कुविचारी और दरिद्रता से दग्ध, मिथ्यात्व से लिप्त, दुर्व्यसनों में आसक्त, धर्म से च्युत और प्राण चले जाने पर भी मदिरा-पान में मत्त हैं ॥१७-१८॥ बुद्धिहीन और स्नेहविहीन ऐसा जनसमूह घर-घर में अवगुणों को प्रकट करता है ॥१९॥ विविध प्रकार के दुराशयों दिखाई देते हैं । वे जिनमत से रहित होकर चारों गतियों में भ्रमण करते हैं ॥२०॥

घत्ता—सोच-विचार त्याग करता हूँ । इन्द्रिय-जयी जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ । दोषों का त्याग करके सम्यकत्व का निर्वाह करता हूँ । उदासीनता पूर्वक मन स्थिर करके गणधर मुक्त हुए तो फिर क्या हमें सुख नहीं (होगा) ? अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ॥१-८॥

[१-९]

कथा-प्रारंभ : वीर-समवशरण का विपुलाचल पर आगमन और वहाँ श्रेणिक का गमन

कृत कर्म महान् है और बुद्धि यद्यपि तुच्छ है (तो भी) यह सुकथा घृष्टतापूर्वक प्रकट करता हूँ—कहता हूँ ॥१॥ हे भव्यजन ! क्षण भर में संकल्प और विकल्प त्याग करके स्थिर मन से सुनो ॥२॥ इस जम्बूद्वीप में श्रेष्ठ और पवित्र छह खण्डों से सुशोभित भरतक्षेत्र है ॥३॥ उसमें मगध देश है और मगध देश के मध्य में स्थित मनभावन श्रेष्ठ राजगृही नगर सुहावना लगता है ॥४॥ धन-धान्य से समृद्ध और बुधजनों से सहित वह नगर ऐसा प्रतीत होता है मानो देव और विद्याधरों का नगर ही आकर प्राप्त हो गया हो ॥५॥ उसमें अर्हन्त के भक्त चारों वर्ग के लोग रहते हैं । राहों भी (वहाँ) स्थिर चित्त से जिनेन्द्र की पूजा करता है ॥६॥ उस नगर में शत्रुओं को भय उत्पन्न करनेवाला तथा प्रजा का पालन करनेवाला राजा (श्रेणिक) राज्य लक्ष्मी को सुखपूर्वक भोगता है ॥७॥ उसकी रानी चेलना अमृत के समान मिष्टभाषिणी, जिनशासन की भक्त और सौन्दर्य की खदान है ॥८॥ वे दोनों सुखपूर्वक राज्य करते हुए विभिन्न दिशाओं में परस्पर में मन-इच्छित रति-सुख भोगते हैं ॥९॥ उसी समय विपुलाचल पर्वत के शिखर पर अतिशयों से मण्डित, इन्द्र के द्वारा पूजित, अठारह दोषों से रहित, आठ प्रातिहार्यों से सहित आनन्दकारी जिनेन्द्र तीर्थकर

समसरणु आउ महावीरतिथु । तं अइसइउववणु फलिउ सुत्थु ॥१२॥
 णिउज्जल-पएस भयभस जलजुत्त । वणवालें जोइ वि रहसचित्त ॥१३॥
 तहं लेवि विफुल्लफल वर पवित्त । धरि णिवइ वि अगइ कहइ वत्त ॥१४॥
 भो सुणिइ लेस रायाहिराय । विपुलद्धिंहि वीर वि सह समाय ॥१५॥
 तं सुणि वि राउ संतुट्ट तहु । दिण्णइं बहु वत्थाहरण लहु ॥१६॥
 उट्टिउ सिहासण रहसजुत्तु । सिरि वीरजिणेंदहं पायभत्तु ॥१७॥
 पयसत्तजाइं जं दिसहि जिणु । परमेसरु पणविउ णाणकिरणु ॥१८॥
 वंदिउ परोखि सेणिय णिवेण । आणंदभेरि दावियखणेण ॥१९॥
 तं सट्ठें पुरयणु मिलिउ भत्ति । जिणवंदण अच्चण जायभत्ति ॥२०॥
 चेलणसमेउ गउ च्चडि वि राउ । गउ समवसरण जह वीयरउ ॥२१॥
 ओयरि वि गर्यंदहं पियस जुत्तु । समसरणि पइट्टुउ जिणुथुणंतु ॥२२॥

घत्ता

संबेयाउरुराउ, रुवजलोह तिसायउ ।
 गामोच्चारु कुणंतु, पभणइं इयह यमायउ ॥१-९॥

[१-१०]

जय कम्मघणाघण चंडपवण । जय मयणदाह-उल्लहवणघण ॥१॥
 जय विसय-वि-सय-वीसय-विसार । जय ण वि माणिय संसार-सार ॥२॥
 जय सोलहवणण सुवणण-मुत्ति । जयमारिय-भव जाणिय भवित्ति ॥३॥
 जय जोयण-गामिणि मगणवाणि । जय अंगदित्ति जिय सुज्जखाणि ॥४॥
 जय जय सोयविच्छ-समलंकिय । जयतिच्छत्त चमरोह ज संकिय ॥५॥
 जय पुपफविट्ठि-पाडिय वि सुमण । जय धम्मचक्क हिय कुगइगमण ॥६॥
 गंधोयविट्ठि णिच्चं पडंति । जय सुरणरविसईस वि णमंति ॥७॥
 ते (पय) धणण वि तुवतिथि जंति । ते पाणि सहल पूया-रयंति ॥८॥

महावीर का समवशरण आया । उसके अतिशय से उपवन भली प्रकार फल गया ॥१०-१२॥ निर्जल स्थान प्रचुर जल से युक्त हुए । वनपाल का मन (यह सब) देखकर हर्षित हुआ ॥१३॥ वहाँ से श्रेष्ठ पवित्र फल-फूल लेकर और राजा के आगे रखकर वह समाचार कहता है ॥१४॥ हे राजाधिराज ! कुछ सुनिए विपुलाचल पर भगवान् महावीर का संघ आया है ॥१५॥ ऐसा सुनकर राजा ने उसे शीघ्र अनेक वस्त्र और आभूषण देकर संतुष्ट किया ॥१६॥ श्री जिनेन्द्र महावीर के चरणों का भक्त वह राजा सहर्ष सिंहासन से उठा ॥१७॥ जिस दिशा में ज्ञान-किरणवाले जिनेन्द्र थे उस दिशा में आगे को ओर सात पद चलकर परमेश्वर महावीर को प्रणाम किया ॥१८॥ राजा श्रेणिक के द्वारा परोक्ष में वन्दना की गयी और क्षण भर में आनन्दभेरी बजवाई गयी ॥१९॥ आनन्दभेरी के शब्दों से पुरजन शोघ्र जिनेन्द्र की वन्दना, अर्चना, यात्रा और भक्ति हेतु एकत्रित हुए ॥२०॥ राजा चेलना के साथ हाथी पर चढ़कर जहाँ वीतराग (महावीर) का समवशरण आया था वहाँ गया ॥२१॥ प्रिया के साथ हाथी से नीचे उतर कर वहाँ उसने समवशरण में प्रवेश किया और जिनेन्द्र महावीर की स्तुति की ॥२२॥

घत्ता—सौन्दर्य के प्यासे पुरुषों को जलाशय स्वरूप संवेगातुर राजा युगल रूप से नामोच्चारण करते हुए आकर इस प्रकार कहता है ॥१-९॥

[१-१०]

राजा श्रेणिक की वीर-वन्दना एवं स्तुति

कर्मरूपी सघन बादलों को प्रचण्ड वायु के समान, कामरूपी अग्नि की जलन शान्त करने को बरसने वाले मेघ के समान, विषय रूपी सर्प के विष को दूर करनेवाले, संसार को सार-स्वरूप नहीं माननेवाले, सोलह शृंगार का त्याग करनेवाले, स्वर्ण आदि का त्याग करनेवाले, मारीच की पर्याय में निज भविष्य को जाननेवाले, एक योजन तक पहुँचनेवाली अर्द्ध-मागधी भाषा-बोलनेवाले, देह की दीप्ति से सूर्य की खदान को जीतनेवाले, अशोक वृक्ष से अलंकृत, तीन छत्र और चँवर-समूह से यश अंकित करनेवाले हे वीर ! आपकी जय हो ॥१-५॥ नित्य गन्धोदक की वर्षा होती है । इन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्र भी नित्य नमस्कार करते हैं । देव पुष्प-वर्षा कर रहे हैं, कुगति-गमन से मन को रोकने में समर्थ धर्मचक्र वाले वीर ! आपकी जय हो ॥६-७॥ वे कार्य आपके धन्य हैं जो तीर्थकरत्व को जन्म देते हैं ।

ते सोय धण्ण गुणगण-सुणंति । ते णयण धण्ण तव जुइणि यंति ॥९॥
 सा रसणा तुव गुणलोलुलइ । सो साहु इत्थु तुव पडि चलइ ॥१०॥
 तं वित्तु वि तुव पयपुज्जलम्मु । तुहुं णिवसहितं हियवउ समग्गु ॥११॥
 तुव णागकिरणु उज्जोयएण । णट्टु वि मिच्छय कोसियसएण ॥१२॥
 तुहुं परमप्पउमहु पउ वि देहिं । महु दुग्गइ-पडतइ-अवहरोहिं ॥१३॥
 इय थुइ विरइवि ललियक्खरोहिं । जो ण वि विद्धउ वम्महं सरोहिं ॥१४॥

घत्ता

ति पयाहिण देप्पिणु, भत्तिकरेप्पिणु, वंदिउ जिणवरु-णाण-मउं ।
 गोयम-पमुहजईसर, वंदि विहयसर, णर-कोट्टम्मि वइट्टउ ॥१-१०॥

[१-११]

तं जइयहं सावय सुणिउं धम्मु । जें लब्भइ सुरणरसिवहं गम्मु ॥१॥
 पुणु अवसरु पाइ वि णिववरेण । पुच्छिउ सम्मइ ललियक्खरेण ॥२॥
 गोवालवाल जो जायहीण । किम गउ सुरलोय वि भणु पवीण ॥३॥
 धण्णंकरु णामें इय सुणेवि । वीराणइं गोयमु भणइ सोवि ॥४॥
 हो राणा णिसुणाहिं सावहणु । जंवूदीउ वि दीवहं पहाणु ॥५॥
 तहु मज्झि वि कणयायलु सुहाइं । विहि भूमाणें किउ दंडुणाइं ॥६॥
 तहु दाहिणदिसि भरहं क वरिसु । सुरणरविज्जाहरजणियहरिसु ॥७॥
 नहिं णयरइं संति मणोहराइं । पुण्णायणायतरुवरघणाइं ॥८॥
 जहिं कमलिणि हंसहि मंडियाइं । सोहंत णिरंतर सर-वराइं ॥९॥
 जहिं गोउल सोहहि गोहणाइं । सर सोहहि सियवत्तय घणाइं ॥१०॥

वे हाथ सफल हैं जो (आपकी) पूजा रचाते हैं ॥८॥ वे कर्ण धन्य हैं (जो) गुणी जनों के समूह को सुनते हैं। वे नेत्र धन्य हैं (जो) आपकी छवि के दर्शन करते हैं ॥९॥ वह रसना (धन्य है जो) आपके गुणों में आसक्त दिखाई देती है। यहाँ साधु पुरुष वही है जो आपका अनुगमन करता है ॥१०॥ धन वह है जो आपके चरणों की पूजा के काम आता है। हृदय वह है जहाँ आपका और सम्पूर्ण ब्रतों का आवास होता है ॥११॥ आपकी ज्ञानकिरण के प्रकाश से मिथ्यात्व वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे प्रकाश के आगे उल्लू पक्षी ॥१२॥ आप परमपद मुझे भी दें। दुर्गति में पड़ने से (पहले) मुझे छीन लो अर्थात् बचाओ ॥१३॥ इस प्रकार जो कामवाण से विद्ध नहीं हुए उन वीर की ललित अक्षरों से (श्रेणिक) स्तुति करता है ॥ १४ ॥

घत्ता—तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा भक्ति करके ज्ञानमय जिनेन्द्र (वीर) की वन्दना की। (इसके पश्चात्) यतीश्वरों में प्रधान गौतम-गणधर की विहंसकर वन्दना करके (श्रेणिक) मनुष्यों के कक्ष में बैठ गया ॥१-१०॥

[१-११]

राजा श्रेणिक का ग्वालवाल के सम्बन्ध में प्रश्न और गौतम-गणधर द्वारा समाधान

(राजा श्रेणिक समवशरण में) वह मुनि और श्रावक-धर्म सुना जिससे देव और मनुष्य मोक्ष-गमन प्राप्त करता है ॥१॥ इसके पश्चात् उचित अवसर पाकर राजा के द्वारा भली प्रकार ललित अक्षरों से पूछा गया ॥२॥ हे प्रवीण ! जो निम्न जाति का था वह अहीर का बालक सुरलोक (स्वर्ग) क्यों गया ? बताइए ॥३॥ गौतम-गणधर भी ऐसा सुनकर (महावीर को नमन करते हुए) कहते हैं—उस बालक का नाम धण्णंकर है ॥४॥ हे राजन् ! सावधान होकर सुनो—द्वीपों में जम्बूद्वीप एक प्रधान द्वीप है ॥५॥ उसके मध्य में कनकाचल सुशोभित होता है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता ने भूमि को मापने के लिए दण्ड का निर्माण किया हो ॥६॥ उसकी दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र है जहाँ देव, मनुष्य और विद्याधरों के घर हैं ॥७॥ जहाँ सुन्दर नगर हैं, पुण्यायतन स्वरूप सघन वृक्ष हैं ॥८॥ जहाँ हंस और कमलों से मण्डित सरोवर निरन्तर सुशोभित रहते हैं ॥९॥ जहाँ गो-धन से गोकुल सुशोभित होता है, सफेद बदक पक्षियों से तालाब

मंथाणइ मंजीरय-रवेण । णच्चंति मोर पहसियसिरेण ॥११॥
 जहिं संति समिद्धइं पट्टणाइं । मढदेव विहारइ संघणाइं ॥१२॥

घत्ता

जहिं सारि वल्लि केयारहिं, अइसुकुमारहिं, गुमगुमंतच्छप्पयसरहि ।
 णं कीरहिं भयभीर्याहिं, रक्खिय हल्लिणिहिं, झंये-विणु णीलंसुर्याहि ॥१-११॥

[१-१२]

छत्तसु-दंडु विहुरेहि-भंगु । सारिक्खु मारि मउगयहं वग्गु ॥१॥
 हरिसुच्छिदु (पुर) दीसंति त्तिहिं । करपोडणु-पाणिगगहणु जहिं ॥२॥
 मलिणत्तणु जहिं मुणिवरगत्तहिं । वयतवनियमशीलगुण-जुत्तहिं ॥३॥
 डिर्भाहिं पुत्तियाहं जहिं मग्गणु । क्विणत्तणु मह्यालहिं णिवसुणु ॥४॥
 पक्खवाउ जहिं वय-संघार्याहिं । जत्तसुलोहु खग्गमुहरार्याहिं ॥५॥
 कलहु ण वर जहिं रमणियसंगंहिं । पियविओउ जहं णहच्छेपं त्तिहिं ॥६॥
 गहणु जत्थ पुण्णिमससिम्तिहिं । माणभंगु जहिं पर अणुरत्तहिं ॥७॥
 णिग्गुणत्तु जहिं सुरवइचापछि । कद्धिणत्तणु जहिं पउमिणि थणर्याहिं ॥८॥
 णउ सत्तविसणमहिं इक्कु कोइ । वज्जरइजिणेसरुपरमजोइ ॥९॥
 इह लोयपत्तिद्धउ पुर वरिट्ठु । उसब्भपुरु णामें सुरहइट्ठु ॥१०॥
 वहु विभवसमिद्धउ वरपवित्तु । कइयण सट्ठथह सोहदित्तु ॥११॥
 णं सुरहनिवासह सोहदित्तु । तं सुरहं-गेह-उप्पम हरंतु ॥१२॥
 णं सम्मायउ सुरवइहिं पुरु । णं महि पउमिणि संपत्तु वरु ॥१३॥

शाभता है ॥१०॥ दधि मन्थन करते समय मथानी चलाने से उत्पन्न मथानी में बंधी हुई छुद्र घण्टियों की आवाज से हर्षित सिर से मोर नाचते हैं ॥११॥ जहाँ समृद्ध पट्टण हैं । मठ और देव-विहार संघ के लिए हैं ॥१२॥

घत्ता—जहाँ अति सुकुमार मैना पक्षी लताओं पर क्रीडा करते हैं । भँरे तालाब में गुन-गुनाते हैं । (पिंजड़े में बन्द तोते ऐसे प्रतीत होते हैं) मानो वे भयभीत होकर नीलाम्बर धारी हलधर को कह रहे हैं कि उन्हें निरापद स्थान में रखो जहाँ उन पर आक्रमण न हो सके, आक्रमण न करो, न कराओ ॥१-११॥

[१-१२]

ऋषभपुर-नगर-वर्णन

जिस नगर में दंड छतरियों (छातों) में, भग्नता विधुर जनों में, मारपीट गन्ने के सार अंश में और मद हस्ति-वर्ग में ही था (जन समुदाय में नहीं) ॥१॥ वहाँ सिंह ही स्वच्छन्द दिखाई देते हैं । (मनुष्य नहीं), जहाँ करपोडन पाणिग्रहण में है (अन्यत्र नहीं) ॥२॥ जहाँ मलिनता—व्रत, तप, नियम और शील गुण से युक्त मुनि की देह पर है (अन्यत्र नहीं) ॥३॥ याचना—शिशु बालक-बालिकाओं में है (अन्य किसी में नहीं) । हे राजन् सुनो ! कृपणता—मधु-मक्खियों के छत्ते में या काल (यम) में है (अन्यत्र नहीं) ॥४॥ जहाँ पक्षपात पक्षियों के संघ में ही है (अन्यत्र नहीं), लोभ-यात्रा (तीर्थाटन) का है (वैभव आदि का नहीं), राग—पक्षियों के मुँह में है (मनुष्यों में नहीं) ॥५॥ जहाँ कलह—(द्वन्द) स्त्री-सहवास में है (श्रेष्ठ पुरुषों में नहीं) । जहाँ प्रीतम का वियोग नखों के छेदन में है (स्त्रियों में नहीं) ॥६॥ ग्रहण जहाँ पौर्णमासो के चन्द्र मात्र का होता है (किसी अन्य का नहीं) मान-भंग—जहाँ पर वस्तु के अनुराग से ज्ञाता है (अन्य किसी कारण से नहीं) ॥७॥ जहाँ निर्गुण इन्द्रधनुष है (अन्य कोई नहीं), कठिनता (कड़ापन) जहाँ स्त्रियों के स्तनों में है (अन्यत्र नहीं) ॥८॥ सप्त व्यसनों में कोई एक व्यसन भी नहीं है । जिनेश्वर की परमज्योति-रति को छोड़कर कोई रति (राग) नहीं है ॥९॥ इस लोक में प्रसिद्ध ऐसा नगरों में प्रधान ऋषभपुर नामक नगर है । वह देवों को भी प्रिय है ॥१०॥ वह वैभव से समृद्ध, श्रेष्ठ और पवित्र है । कविजन शब्द और अर्थ से शोभते हैं ॥११॥ वह ऐसा प्रतीत होता है मानों देवों के निवास से सुशोभित हो । उसके भवन देव भवन की उपमा को धारण करते हैं ॥१२॥ श्रेष्ठ सम्पदा रूपी लक्ष्मी से पृथिवी पर ऐसा प्रतीत होता है मानो इन्द्र का नगर ही

चउ दिसिहि जत्थ विसालु सालु । सोहइ रयणिहि विहुणिय तमालु ॥१४॥
 परिहा जहि संठिय पवर भाइ । विसहरि दीहत्थिय कुडिलभाइं ॥१५॥
 सइ चित्तुव परपुरिसहं अलंघु । गंभीर सुथिर वुहमइ महग्घु ॥१६॥
 जहि सोहइ मढदेउलविहारु । चच्चर चउक्कतोरण सुसारु ॥१७॥
 वेसायण तुल्लइं जहि वणाइं । णहि लगइ तिलयंजण वराइं ॥१८॥
 मत्तावारणइं वि राइयाइं । सोहंति जत्थ वर गोउराइं ॥१९॥
 जहि संति मणोहरु रायमग्गु । तंओलरंगरगिय धरग्गु ॥२०॥

घत्ता

इय पुरह पहा णउं, विणयसयाणउं, परधनु-हरणें पंगुमहि ।
 पर पियद संधउ, पर कह गुंगउ णउ वंदिय जण-दाणहि ॥१-१२॥

[१-१३]

णामें अरिमद्दणु णिउ पयंडु । जिं अइवलराय ह लियउ दंडु ॥१॥
 तहु पट्टमहादे रुवखाणि । पाडलगइ गमणिय अमियवाणि ॥२॥
 णामें देवलदे सुहणिहाणि । जिणगुरुपयभत्तिय सीलखाणि ॥३॥
 णिव-सुविह मंति मतित्थजाणु । णियसेवय पुरयण महि पहाणु ॥४॥
 तहु अभयंकरो वि विवहारी । णिवसइ रिद्धिसहिउ सुयधारी ॥५॥
 पर-उवयारो-सम्माइट्ठी । आराहइ णियहिय परमिट्ठी ॥६॥
 तं भामिणि कुसला वइयसुच्छ । जिणधम्मासत्तिय चत्तमिच्छ ॥७॥
 तं गिहि अच्छहि वे कम्मकरा । धणंकर-पुण्णंकर-भायवर ॥८॥
 गरुवउ गिहकम्म करेइ तहिं । लहुवउ धणरक्खिय उववणेहिं ॥९॥
 विण्णि वि विणयंकर सलिलचित्त । अभयंकर-सेट्ठिहि अश्वभत्त ॥१०॥
 सुहि अच्छहि वणिघर हियसचित्त । विण्णि वि वंधव तह करहि वत्त ॥११॥
 इह पुन्नपाव-अंतरु वरिट्ठु । एयइ सुहि एयइ सहहि कट्ठु ॥१२॥
 एयइ वि रंक भूवइ वि एक्क । भोयइं भुंजहिं रइसुह णिसंक ॥१३॥

अवतरित हुआ हो ॥१३॥ जहाँ रात्रि में चारों दिशाओं में ऊँचे साल और हवा में झूमते हुए तमाल वृक्ष शोभते हैं ॥१४॥ जहाँ स्थित श्रेष्ठ परिखा दीर्घाकार सर्पकुण्डली के समान शोभती है ॥१५॥ वह परिखा सती स्त्री के चित्त के समान पर पुरुषों से अलङ्घ्य, गम्भीर, और महान् बुधजनों के समान सुस्थिर है ॥१६॥ जहाँ परमार्थ स्वरूप निर्मित मठ, देवालय, विहार और चौराहों पर चौक तथा तोरण शोभते हैं ॥१७॥ जहाँ नभस्पर्शी श्रेष्ठ तिलक और अंजन वृक्षों से वन अलंकारगृह के समान (शोभते) हैं ॥१८॥ जहाँ राजा के गमनागमन के लिए मदोन्मत्त हाथी और गोपुर (दरवाजे) शोभते हैं ॥१९॥ जहाँ मनोहर राजमार्ग का धरातल पान की पीक के रंग से रंगे हुए हैं ॥२०॥

घत्ता—इस नगर का राजा विनयवन्त और चतुर है। पराया धन हरने में पृथिवी पर वह पंगु, परस्त्रियों को देखने के लिए अन्धा और दूसरों की कथा कहने में गूंगा है किन्तु लोगों को दान देने में उसे पाबन्दी नहीं है ॥१-१२॥

[१-१३]

ऋषभपुर के राजा अरिमर्दन, श्रेष्ठी अभयंकर और उसके कर्मचारी धण्णंकर-पुण्णंकर का परिचय एवं पुण्य-पाप-फल वर्णन

अतिबलशाली राजाओं को जिसके द्वारा दण्ड धारण किया गया (वह) अरिमर्दन नाम का प्रचण्ड राजा है ॥१॥ देवलदे नाम की उसकी पटरानी सौन्दर्य की खदान, गुलाबी वर्णवाली, गजगामिनी, मिष्ट-भाषिणी, सुख-निधान, शील की खान, और जिनेन्द्र तथा गुरु के चरणों की भक्त है ॥२-३॥ पृथिवी पर वह प्रधान राजा मंत्रियों से मंत्रणा ज्ञात करके भलो प्रकार अपने नगरवासियों को सेवा करता है ॥४॥ वहाँ श्रुतज्ञ और ऋद्धियों से सम्पन्न, परोपकारी और सम्यग्दृष्टि अभयंकर व्यापारी रहता है। वह निज हृदय से परमेष्ठी की आराधना करता है ॥५-६॥ उसकी स्त्री कुशल, व्रतों से पवित्र, जिनधर्म में आसक्त और मिथ्यात्व हीन है ॥७॥ उसके घर में धण्णंकर और पुण्णंकर दो भाई कर्मचारी रहते हैं ॥८॥ बड़ा भाई वहाँ गृहकार्य करता है और छोटा भाई उपवन धन की रक्षा करता है ॥९॥ दोनों विनीत, सरलचित्त और सेठ अभयंकर के परम भक्त हैं ॥१०॥ दोनों भाई हर्षित मन से सेठ के घर सुखपूर्वक रहते हैं और वार्तालाप करते हैं ॥११॥ यहाँ पुण्य और पाप में बड़ा अन्तर है। एक से (जीव) सुख (भोगता है) और एक से कष्ट सहता है ॥१२॥ एक रंक है और एक भूपति है (जो)

विणिण वि णिय पउमिणि विसय-सत्त । सुहु-डुहु कियकम्मं हंति भक्त्त ॥१४॥
 जं णिच्चल-मइं तवयरण होई । भुंजइ सुर-संपइ सुरहलोइ ॥१५॥
 पुणु णरपउ पाइ वि तउ करेहि । किय कम्महणि वि सिवपउ लहेइ ॥१६॥

घत्ता

एकइ ह्यगयघड, कीडाहिं चडि धरा, रह झंपाण जाण-चडाहिं ।
 सुक्किय अइपुण्णह, भडधप्रघण्णह, अगगइ धावेहि विविह भत्तीहि ॥१-१३॥

[१-१४]

सावयकुलि कहम वि लह वि जम्मु । जइ जीव न पालिसि जिणहं धम्मु ॥१॥
 जिम जिम भवभमिणिहि लहसि दुक्ख । तिम तिम पच्छतावइ पडिसि मुक्खर
 पाच्छइ पच्छतावइ कवण काजु । ते फसइ (ण) जे तू करिसु आजु ॥३॥
 गइपाणो पहलउ पालिबंधु । गइसप्पहि पोढइ लीह अंधु ॥४॥
 जिणि सुक्ख अणंतर दुक्ख होइ । ते सुक्ख धरि ज्यो हियइ कोइ ॥५॥
 अइमिट्ट सरिस आहारअंति । तक्काल वमणु जिमते लसंति ॥६॥
 संसार म जाणिसि जीव सुक्ख । मधुविंदु सरिस गिरिमेरु दुक्ख ॥७॥
 सुरनरतिरियादिक गति मज्जारि । सहियाजि दुक्ख ते तउ संभारि ॥८॥
 ईसा-विसाय-मय-कोह-माणु । चिंतंतु चवण देवहं विमाणु ॥९॥
 सइ खंडहि हियडउ फुट्टजंत । जइ सत्तधाउ संघडिउ हुन्त ॥१०॥
 छम्मास चवणु पुणु चिंत होइ । जं दुक्ख न सक्कइ कहमि कोइ ॥११॥
 इक्क इक्क तीइ अवहर विलंति । एइ सेविकण्ह राजो रहंति ॥१२॥
 मणु अत्तणि खयखसखासरोग । पियमायपुत्तबंधव-विजोग ॥१३॥
 वह-बंधण-ताडणमसि हणाय । दालिह-दुक्ख परिभव घणाय ॥१४॥

निश्चित होकर रति-सुख आदि भोग भोगता है ॥१३॥ दोनों अपनी स्त्रियों में विषयासक्त हैं । हे भाई ! सुख और दुःख कृतकर्मों से होते हैं ॥१४॥ जिसकी निश्चल मति तपश्चरण में होती है (वह) स्वर्गलोक की देव-सम्पदा को भोगता है ॥१५॥ इसके पश्चात् मनुष्य पर्याय पाकर तप करता है और कृत-कर्मों को नाश कर शिवपद पाता है ॥१६॥

घत्ता—एक परिश्रम करके (जिसने) अति पुण्य किया है वह घोड़े, हाथी, रथ, पालकी वाहनों पर चढ़कर पृथिवी पर क्रीड़ा करता है । योद्धा ध्वजा धारण करके विविध भक्ति के साथ उसके आगे दौड़ते हैं ॥१३॥

[१-१४]

धर्णकर-पुण्णकर का जीव-दशा और मनुष्यगति के दुःखों के सम्बन्ध में चिन्तन

जीव यदि किसी प्रकार श्रावक-कुल में जन्म प्राप्त कर लेता है (तो वह) जिनेन्द्र के धर्म को नहीं पालता है ॥१॥ वह मूर्ख जैसे-जैसे संसार-भ्रमण करते हुए दुःख पाता है वैसे-वैसे उसे पछताना पड़ता है ॥२॥ हे भाई ! पीछे पछताने से क्या लाभ ? जिससे उसमें फँसना न पड़े वह (कार्य) तू आज ही कर ॥३॥ पानी बाहर निकलने के पहले पार बाँधो या बाँध की रक्षा करो । सर्प निकल जाने पर अंधा पुरुष ही लकीर पीटता है ॥४॥ जिन सुखों के पश्चात् दुःख होता है उन सुखों को ज्यों ही कोई हृदय में धारण करता है, वे सुख अति मिष्ट आहार के पश्चात् जीमते ही तत्काल होनेवाले वमन के समान दिखाई देते हैं ॥५-६॥ संसार में जीव को सुख मधु की एक बूँद के बराबर और दुःख मेरु पर्वत के बराबर जानो ॥७॥ हे भाई ! आपने देव, मनुष्य और तिर्यच गतियों में जो दुःख सहे हैं उन्हें सम्हालो ॥८॥ ईर्ष्या, विषाद, माया, क्रोध और मान (आदि के कारण) देवों के विमान से च्युत (होने के सम्बन्ध में) चिन्तन करो ॥९॥ सप्त धातुओं से निर्मित हुआ हृदय भी फूट जाता है । (उसके) सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं ॥१०॥ छह मास से च्युत होने की चिन्ता होने लगती है । उस समय के दुःखों को मैं कहने में समर्थ नहीं हूँ अथवा कह नहीं सकता हूँ ॥११॥ जो सेवा करती हुई पंक्तिबद्ध सेविकाओं के समान रहती हैं वे देवांगनाएँ एक-एक कर दूर जाते हुए विलीन हो जाती हैं ॥१२॥ मनुष्य पर्याय में क्षय, खाँसी और श्वांस रोग तथा माता-पिता, पुत्र और बान्धवों का वियोग है ॥१३॥ बध-बन्धन, ताड़न, असि-प्रहार, दरिद्रता और तिर-

संकोइय सयलउ अंगवंग । अहमुख बहु असुई पूयसंग ॥१५॥
 गभवासि नरय सय दुक्ख हुंतु । जिउ वसइ अहिउ नवमास संतु ॥१६॥
 पडिलोम तहग्गिहि पर जलंति । समकालसुईचंपे वि दिति ॥१७॥
 जा वेयण तह अट्ठगुणीय । जम्मक्खणि णंत गुणी भणीय ॥१८॥

घत्ता

इय नरयहि दुक्खु समो सहि वि, कट्ठि कट्ठि तहि णीसरए ।
 अइ पाविं गहियउ मुक्खु जिउ, पुणु तिरियत्तणि संपडए ॥१-१४॥

[१-१५]

तिरियत्तणि सीयातवु सहंति । तिसु-भुक्ख-पमुख ढरवसि पडंति ॥१॥
 गलकंबलच्छेयक संकुसार । निल्लच्छण-कंधिहि पुट्टि-भार ॥२॥
 इग-तिन्नि अयर तित्तीस-जाणि । जिउ सहइ नरइवहुदुह अयाणि ॥३॥
 एगंति सीउ एगंति तापु । तहं वज्जतुंड-डंसह वियापु ॥४॥
 घण-घायघोर-मुगगर-पहार । अवरुप्पर तिक्वकुमार-मार ॥५॥
 करवित्तिहि किज्जइ दुण्णिखंड । कुम्भीकडाह वेयण-पचंड ॥६॥
 पापण जिम किज्जइ चुन्न-चुन्न । सूली पोइज्जइ अकयपुन्न ॥७॥
 भेदिज्जइ गइवरदंतेघाय । अंवरि ओच्छालइ धरवि पाय ॥८॥
 सेवंति तत्थ असिपत्तच्छाहं । पवणिहि डझंतहं पत्त साह ॥९॥
 नरयाण पडइ तिणिच्छिन्नभिन्न । कर अंगुलि नासा अहर-कन्न ॥१०॥
 वेसानर वन्नी पुत्तलीय । आलिगण दिज्जइ वलिवलीय ॥११॥
 गालियकथोर जिम परजलंत । पाइज्जइ जलमुह मोडयंत ॥१२॥
 तहं अंगमंसुकप्प वि सरोसु । घालिज्जइ तहं मुंह कह वि दोसु ॥१३॥

स्कार आदि के अनेक दुःख हैं ॥१४॥ सभी अंगोपांग संकुचित करके अशुचि पीप के साथ अधोमुख होकर जीव को नौ मास या उससे अधिक समय तक गर्भवास में नरक के सैकड़ों दुःख होते हैं ॥१५-१६॥ दूसरे विरोधी गृहस्थ वहाँ जलते हैं । ईर्षा करते हैं । वे सुख के समय सुई के समान चुभते हैं ॥१७॥ यह वेदना गर्भवास-वेदना से आठ गुनी अधिक होती है और जन्म के क्षणों की वेदना तो अनन्त गुनी कही गयी है ॥१८॥

घत्ता—इस प्रकार नरक के समान दुःखों को सहकर बड़ी ही कठिनाई से वहाँ से निकलता है । इसके पश्चात् यह मूर्ख जीव बहु पाप करके तिर्यच-गति को प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

[१-१५]

तिर्यच और नरकगति के दुःखों का वर्णन

तिर्यच्चगति में (जीव) प्रमुख रूप से परवशता वश अरई आदि कील के नुकीले अंश से छेदे जाने, गलकम्बल आदि के भेदे जाने, प्रजननशक्ति के विनाश हेतु अण्डकोश दबाये जाने, कंधे और पुट्टों के ऊपर भार लादे जाने (से उत्पन्न दुःख) और शीत-ताप तथा भूख-प्यास सहते हैं ॥१-२॥ अज्ञानी जीव नरक के एक और तीन से तैंतीस सागर पर्यन्त बहुत दुःख सहता है ॥३॥ वहाँ एक बार लगातार शीत और एक बार में लगातार ताप सहता है । वज्र के समान मजबूत चोंचवाले डांस दुःख पहुँचाते हैं ॥४॥ घनघोर घनों की मार, मुद्गरों के प्रहार और ऊपर से कुल्हाड़ी की तीव्र मार (सहता है) ॥५॥ करोंत से देह के दो खण्ड कर दिये जाते हैं । कुम्भीकड़ाह में पकाये जाने से प्रचण्ड वेदना (होती है) ॥६॥ सूखे पत्र के समान चूर-चूर कर दिया जाता है । पापियों को फाँसी के फंदे में पिरोया जाता है ॥७॥ हाथीदाँत से भेदन कराया जाता है, पैर पकड़कर आकाश में उछलवाया जाता है ॥८॥ वहाँ गर्म हवाओं से जलते हुए जीव तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों और शाखाओं वाले वृक्षों की छाया का सेवन करते हैं ॥९॥ नरक प्राप्त हो जाने पर मधु सेवियों के हाथ की अँगुलियाँ, नासिका ओठ और कान छिन्न-छिन्न कर दिये जाते हैं ॥१०॥ वैश्यागामियों को अग्नि से तपाई गयी लाल वर्ण की (लौह) पुतलियों से बलपूर्वक आलि-गन कराया जाता है ॥११॥ दूसरों से ईर्षा करनेवाले और मदिरा पीने वालों को उनका मुँह मोड़कर गला हुआ रांगा जल के रूप में पिलाया जाता है ॥१२॥ वहाँ मांस खानेवालों को क्रोधपूर्वक दोष बताते हुए अंगों

महु मज्जमंस परती-बिलासि । एह फलु संपज्जइ नरयवासि ॥१४॥
 कक्कस-सिल-उप्परि जेम वत्थु । अप्फालिय सेवइ तिम अवत्थु ॥१५॥
 पारा जिम किज्जइ खंडखंड । बलि पाव भोगवसि मिलइ पिंड ॥१६॥
 चउगइ-भमंत मइ तिक्खतिक्ख । पिच्छत्तमोहि सहियाजि दुक्ख ॥१७॥
 ते समरवि समरवि मनहमाहि । करि सुगुरु वयणु मनपडि सिवाहि ॥१८॥

घत्ता

इम जीउ णि चउगइ, जोणियले, भमइ वि मोहासत्तऊ ।
 जि मज्झि दुवचोवाणहउ, वहु पज्जाय वि लितु मुयंतउ ॥१-१४॥

[१-१६]

जीविउ-धण-जुवण अथिरु जाणि । अंजलि-जल-उप्पम कर वखाणि ॥१॥
 खिणि-खिणि तुट्टइ तण्णवि करंत । इकि हसइ इक्कि दीसहि रुयंत ॥२॥
 खणि मित्तआइ-पहु-विसइ-कालु । धम्महं वि लवंतं आलमालु ॥३॥
 जं कल्लि करंतउ करि सु अज्जु । लब्भइ कि न लब्भइ कल्लि कज्जु ॥४॥
 पिय-माय-पुत्त-माया क्षमालि । जिउ पडिउं कुडंवा तणइ जालि ॥५॥
 न वि करतउ संकइ किमइ पापु । पुणु दुक्ख सहइ एकलउ आपु ॥६॥
 लब्भइ नहु वसिवा जाणि गेहि । हियडाम न बंधसित्तिणिस गेहि ॥७॥
 उट्टायइ चित्तिहि वसइ जेम । परदेसिउ पंथिउ वसइ तेम ॥८॥
 उगिसइ दिवस सो इक्क अंधु । निक्कलसि जेणि वडियारि कंधि ॥९॥
 वेहाघ झाडि पहु वि सिमसाणि । सरिसउ न कॅपि परमत्थ जाणि ॥१०॥
 विणु मुज्झ केम होसइ कुटुंब । इणि चित्त म करि धम्महं विलंबु ॥११॥
 दिण इक्क दुण्णि इक घडिय रोइ । खाइस्सइ पीसइ वलिसहू कोइ ॥१२॥

का मांस काटकर उनके मुँह पर मारा जाता है ॥१३॥ इस प्रकार नरक वास में मद्य, मांस और मधु तथा परस्त्रीविलास के सेवन से यह फल प्राप्त होता है ॥१४॥ जो अभक्ष्य भक्षण करते हैं उन्हें वहाँ कर्कश पत्थर पर हाथ से वैसे ही पछाड़ा और पीटा जाता है जैसे वस्त्र ॥१५॥ पारा जैसे खंड-खंड किये जाने पर भी पुनः मिलकर एक हो जाता है ऐसे ही यहाँ कुकर्म और भोग-विषयों के वशीभूत मनुष्यों का पिंड खंड-खंड होकर भी मिल जाता है ॥१६॥ मिथ्यात्वी और मोही प्राणी चारों गतियों में भ्रमण करते हुए तीक्ष्ण दुःख सहता है ॥१७॥ अतः गुरुओं की वाणी मन में ही स्मरण करो। मन में पड़ी गुरु-वाणी शिवंकरा होती है ॥१८॥

घत्ता—दुर्वचन रूपी बाणों से आहत होकर जिसके द्वारा बहुत पर्याँ धारण की गयीं और त्यागों गयीं ऐसा मोहासक्त जीव इस प्रकार चारों गतियों की श्रोनियों में भ्रमण करता है ॥१-१५॥

[१-१६]

घणंकर-पुणंकर भाइयों का सांसारिक-चिन्तन और कर्त्तव्यबोध

बुद्धिमानों ने जीवन, धन और यौवन को अंजुलि के जल के समान अस्थिर बताया है ॥१॥ नया रखने का यत्न करते हुए भी वह क्षण-क्षण में क्षीण होता है। (संसार में) एक हँसते हुए और एक रोते हुए दिखाई देता है ॥२॥ मित्रता, प्रभुत्व और इन्द्रिय-विषयों का समय भी क्षणिक है। मृत्यु से घिरे हुए हे जीव ! मृत्यु को धर्म से काटो ॥३॥ कल कार्य प्राप्त होता है या नहीं (क्या भरोसा) अतः कल करनेवाले कार्य को आज (ही) करो ॥४॥ माता-पिता, पुत्र, ये सब माया जाल हैं। उसमें पड़ा हुआ जीव कुटुम्ब का विस्तार करता है ॥५॥ पाप करते हुए किसी प्रकार की शंका भी नहीं करता और फिर आप अकेला दुःख सहता है ॥६॥ हे गृहस्थ ! उन्हें प्राप्त करता है अथवा निश्चय से नहीं इस ज्ञान के वशी-भूत होकर अत्यन्त आसक्ति से उनमें हृदय को न बाँधो ॥७॥ जैसे परदेशी पथिक उदासीन चित्त से अर्थात् अपना न मानकर (पराये घर में) रहता है ऐसे ही पराया घर मानकर उदासीन चित्त से घर में रहो ॥८॥ सूर्योदय हो जाने पर वह एक अन्धा ही है जो बाहर निकलकर कन्दरा में गिरता है ॥९॥ स्मशान में सारहीन ध्यान करनेवाले के समान कोई भी परमार्थ को नहीं जानता है ॥१०॥ मेरे बिना कुटुम्ब का भरण-पोषण कैसे होगा ऐसा विचार करके धर्म की प्राप्ति में विलम्ब मत करो ॥११॥ (वियोग होने पर) एक दो दिन एक घड़ी रोकर फिर सभी कोई खाने-पीने लगेंगे

दुक्खियउ करंतउ धंम देहु । हो इति म करि पुगल [वि] सणेहु ॥१३॥
 अप्पणउ नाहि भाडइ वहंति । वाहियइ धम्मि तं चेव तं तु ॥१४॥
 समुदाउ न संवल न वि मुहुत्तु । जिउ करत पयाणु न सउण सत्तु ॥१५॥
 नवलंत चलाऊ लहइ कोइ । लब्भइ जइ उट्टइ रोइ रोइ ॥१६॥
 वयरीवसि पडिया समरखित्ति । कायर परि मरत न होइ कित्ति ॥१७॥
 भडिवाउ सुजसु-भरु मह-महंतु । स लहिज्जइ सूरत्तणि मरंतु ॥१८॥
 संसारि नही अप्पणउ कोइ । लहणा देणा लगि मिलिउ जोइ ॥१९॥
 जिउ पडिउ कुंडवावत्तिगत्ति । सूयरहमाहि मन्नइ पट्टत्ति ॥२०॥
 जइ कालि कुंडवउ-संकलाउ । तउ सीगिहि संकल उत्तरीउ ॥२१॥
 लइ संजम अप्पउ तारि-तारि । आसा-वासिणि मन पडि संसारि ॥२२॥

घत्ता

सुकुडंब-कज्जि बहु पाउ जिउ, करइ ण अप्पउ चेयइ ।
 बहु सीउण्हइ तावइ सहए, णउ अप्पुमरणुमणि वेयइ ॥१-१६॥

[१-१७]

अधिकारिउ-जीविउ-कम्मराउ । पेरिउ करंतु पडि यउ अवाइ ॥१॥
 वंदिहरि-कुडंबइ वंदि घालि । रक्खियउ न सक्कइ वालि हालि ॥२॥
 गल-संकल-घरणी-वाहु-दंड । पगि पुत्तु-नेह वेडी-पचंड ॥३॥
 हथकडग-मित्त-पिय-माय-भाय । जिउजडिउ ण सक्कइ वलि वि पाय ॥४॥
 झडिपडियति संकल कम्म जोगि । जइ तुट्ट वंदिजण वयणु लोगि ॥५॥
 पुरिसत्तणु करि-अरिहंतु-णहि । कायरपण पडिसि म वलिअ गाहि ॥६॥

॥१२॥ हे दुःख करनेवाले ! देह से धर्म हो ऐसा करो, पुद्गल से स्नेह मत करो ॥१३॥ देह अपनी नहीं है, सभी किराये के समान उसे धारण किये हुए हैं, वह धर्म में बाधा पहुँचाता है तो त्याग दो ॥१४॥ जब जीव (चेतन) प्रस्थान करता है तब न समुदाय का सहारा रहता है न मुहूर्त का, न शकुन का और न शक्ति का भी ॥१५॥ उसे जाते हुए बलपूर्वक कोई पकड़ नहीं पाता। जो भी आता है रो-रो कर उठ जाता है (चला जाता है) ॥१६॥ युद्धक्षेत्र में कायर वैरी के वश में होकर मर जाते हैं परन्तु (उनकी) कीर्ति नहीं होती है ॥१७॥ जो योद्धा शूरवीरतापूर्वक मरता है वह सुयश से परिपूर्ण होकर महान् पुरुषों के द्वारा पूजा जाता है (आदर पाता है) ॥१८॥ संसार में अपना कोई नहीं है। लेन-देन तक ही मिलन-संयोग है ॥१९॥ जीव कुटुम्ब रूपी भँवर के गर्त में पड़ा हुआ है। सूकर के समान प्रभुता मानता है ॥२०॥ कुटुम्ब-बाँधने को साँकल स्वरूप है। उस साँकल (जंजीर) को शीघ्र उतारो, और मृत्यु पर विजय करो ॥२१॥ आशाओं और इन्द्रिय-वासनाओं में पड़े हुए हे मन ! तू संसार में संयम लेकर अपने को तारो-तारो (अपना कल्याण करो। भवसागर से तर जाओ) ॥२२॥

घत्ता—हे जीव ! (तू) कौटुम्बिक भलाई के लिए अनेक पाप करता है। शीत और ताप को सहता है, अपने मरण का भी मन में विचार नहीं करता किन्तु अपने चेतन की भलाई के लिए (कुछ) नहीं करता है ॥१-१६॥

[१-१७]

जीव की कौटुम्बिक स्थिति, कर्म, पुण्य-पाप का स्वभाव तथा सम्यग्दर्शन धारण करने का परामर्श

कर्मराज जीव का अधिकारी है। वह अपराधियों के पास जाकर उन्हें पेरता है। उन पर आघात करता है ॥१॥ वह कुटुम्ब रूपी बन्दीघर में बन्द करके आघात करता है। उस समय विद्याधर बाली भी रक्षा नहीं कर सकता है ॥२॥ पत्नी बाहु-दण्ड रूपी गले की साँकल है और पुत्र-प्रेम रूपी पैरों में प्रचण्ड बेड़ी है ॥३॥ मित्र, माता-पिता और भाई रूपी हाथ में हथकड़ियाँ हैं। मूर्ख जीव शक्ति पाकर भी इस जेल से मुक्त नहीं हो पाता है ॥४॥ लोक में मुनियों के वचन हैं कि कर्म योग से अर्थात् उद्यम करने से बन्दीयों की साँकल टूटकर झड़ जाती है ॥५॥ (अतः) अर्हन्त के मार्ग में पुरुषार्थ करो। शक्ति पाकर कायरपन में मत पड़ो, कायर मत

जिम जिम काया अणुहवइ सुक्ख । तिम तिम जाणेवउ अधिक बुक्ख ॥७॥
जाणंतु सहइ जइ दुक्ख देहु । खउ पाव-पुग्गउ विति एहु ॥८॥
इम जाणि अथिरु संसार-वक्कु । संजम करि अप्पउ पाव-मुक्कु ॥९॥
परिहरि कोहाइ कसाय-चारि । पसरंतु पंच इदिय निवारि ॥१०॥
वाहिरि-अब्भतरि तव-विहाणि । करि पुग्गह संचय कम्महाणि ॥ १॥
अह पालि न सक्कइ जइचरित्तु । तउ दूढ करि सावयधम्मि चित्तु ॥१२॥
पंचेदियत्तु मणुयत्तखित्तु । आयरिय जणे सुकुलत्त वित्तु ॥१३॥
गुरुदेवहं सो मग्गी लहेवि । इक चित्ति सुद्ध जिणधम्म सेवि ॥१४॥
रे जीव म जाणिसि वलि लहेसु । मणुयत्तणि सावयकुलि-पवेसु ॥१५॥
चित्तामणि लद्धु समुद्धमज्झि । पडियउ वलि लब्भइ केम वुज्झि ॥१६॥

घत्ता

सम्मत्तु-धरिज्जइ पाणपिउ, पणवीस वि दोसहि चुक्कउ ।
गुण अट्टसहिउ गाएहि मणि, वसु अंगेहि सहिक्कउ ॥१-१७॥

[१-१८]

दय-मूलधम्म अरिहंत-देउ । णिग्गंथ-सुगुरु समत्त एउ ॥१॥
गुरु-वयण-जाणि मिच्छत्त-मग्गि । कुदेउ-कुगुरु-पुट्टिंहि म लग्गि ॥२॥
सिज्झइ-मुग्गिणद चारित्तु-भट्टु । सिज्झइ कुल-सावय-मग्गु-नट्टु ॥३॥
संमत्तहीण सिज्झइ न जेण । अरिहंतु इक्कु मणि धरिउ तेण ॥४॥
सीयल-गो-गा-चामुंड-चंडि । खितपाल-विनायक-पमुहच्छंडि ॥५॥
गणगउरवच्छवारसि-विसासि । ए फलु संपज्जइ नरइवासि ॥६॥
वडसाइति कुलदेवति सराधु । करना सम्मत्तु वि घटइ आधु ॥७॥
संसारचक्कि जे रमहि देव । किम मुकतिहि-कारिण तीहिं सेव ॥८॥
सग्गंथ जि बुड्डइ अप्पभारि । ते गुरु किम सक्कइ परह तारि ॥९॥
जिणि धम्मि होइ जीवहं संघारु । किम लब्भइ तिणि संसारवारु ॥१०॥

बनो ॥६॥ ज्यों ज्यों यह देह सुख का अनुभव करती है त्यों त्यों अधिक दुःख जानो ॥७॥ यदि देह दुःख सहता है तो जानो कि पापों का क्षय करके यह पुण्य प्राप्त करता है ॥८॥ इस प्रकार संसार को वक्र और अस्थिर जानकर संयम को धारण करके अपने को पापों से मुक्त करो ॥९॥ क्रोध आदि चारों कषायों का त्याग करके पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रसार का निवारण करो ॥१०॥ बाह्य और आभ्यन्तर तप करके कर्मों की निर्जरा और पुण्य का संचय करो ॥११॥ अथवा यदि चारित्र का पालन नहीं कर सकता है तो श्रावक के धर्म में चित्त दृढ़ रखो ॥१२॥ मनुष्यक्षेत्र के आर्यखण्ड में विद्यमान मनुष्यों के अच्छे कुल और पंचेन्द्रियत्व को पाकर गुरु के द्वारा गृहीत जो मार्ग है वह प्राप्त करके एक चित्त से शुद्ध जैनधर्म का पालन करो ॥१३-१४॥ हे जीव ! यह न जानो कि यह मनुष्य-देह और श्रावक के कुल में प्रवेश फिर प्राप्त कर लोगे ॥१५॥ समुद्र के बीच में गिरा हुआ चितामणि रत्न देखो कैसे फिर प्राप्त होता है ॥१६॥

घत्ता—(अतः) प्राणप्रिय पच्चीस दोषों से रहित, आठ गुण और आठ अंगों से सहित अकेले इस सम्यग्दर्शन को मन में धारण करो ॥१-१७॥

[१-१८]

सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व-वर्णन

धर्म वह है जिसका मूलाधार दया है, देव-अर्हन्त हैं और सुगुरु निर्ग्रन्थ साधु । इन सत्य तत्वों पर श्रद्धा करो ॥१॥ गुरु-वाणी को जानो । मिथ्यात्व मार्ग में और कुगुरु तथा कुदेव के पीछे मत लगे ॥२॥ चारित्र से भ्रष्ट मुनीन्द्र और कुल के मार्ग से च्युत होकर भी श्रावक सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥३॥ किन्तु सम्यक्त्व-विहीन सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता । अतः जिससे (सम्यक्त्व ही) ऐसे एक अर्हन्त को मन में धारण करो ॥४॥ शीतला माता, गो-माता, नाँदिया बैल, चामुण्डा और चण्डी देवी, क्षेत्रपाल और विनायक देवों को प्रमुख रूप से त्यागो ॥५॥ गणगौर और वत्सवारसा आदि में विश्वास करने के फल स्वरूप नरक-वास प्राप्त करता है (होता है) ॥६॥ वरसा और कुलदेवता आदि में श्रद्धा करने से सम्यक्त्व आधा घट जाता है ॥७॥ जो देव संसार-चक्र में रमता है उनकी सेवा मुक्ति का कारण कैसे (हो सकती) है ॥८॥ जो सपरिग्रही गुरु अपने ही भार से डूब रहा है वह गुरु दूसरों को कैसे पार लगा सकता है ॥९॥ जिस धर्म में जीवों का घात होता है उस धर्म से संसार से पार होना कैसे प्राप्त होता

कुलधम्म सुट्ठ अप्पणउं पालि । परधम्मकुच्चरानिद टालि ॥११॥
 वरि कियउ भलउ चंडालकम्म । परनिद न भासिसि परहमम्म ॥१२॥
 परमप्पउ लब्भइ अप्पिचिंति । संसारु अणंतउ परहचिंत ॥१३॥

घत्ता

वसु-मूलगुणइं पालंतयहं, सत्त वसण-परिहारु जि किज्जइ ।
 सम्मदंसण णिम्मलेण, पढमी पडिमा एम धरिज्जइ ॥१८॥

[१-१९]

इम जाणि सुकरि जो होइ जुत्तु । दूसयइ-राग-दोसिहि न चित्तु ॥१॥
 इणि सत्त-नरय-संगम-विचारि । जूआदिक सत्तइ विसण वारि ॥२॥
 वावीस अब्भक्ख-अणंतकाय । वत्तीस वि वज्जहु बहु-अपाय ॥३॥
 महु-मज्ज-मंस-मक्खन म भक्खि । गज्जर-मूलादि-कलोट-रक्खि ॥४॥
 सूरण-पिडालू-पिंड-जाति । वेयंगण वज्जहु जिमणु-राति ॥५॥
 घोल-वडा-संधाणउ अथाण । विदलन्न केम जीमइ सुजाण ॥६॥
 आम वि दहियइं विदलन्नु होइ । तं असणे पाउ भणंति जोइ ॥७॥
 पावेण णरयवासउ वि याण । तत्थ वि महवुक्खें पच्च माण ॥८॥
 अणच्छाणिउ-पाणी-नहाण-धोणि । संपज्जइ जलयर-जीव-जोणि ॥९॥
 हियडाम मिलिह नवकार-मंतु । करि पच्चखाण नियमह संजुत्त ॥१०॥
 पडिकमणउं सामाइकु संभालि । पोसह वइ विकथाति टालि ॥११॥
 वावियइ जुधणु सत्तेहं खित्ति । संबलि जाणोवउ पे परत्ति ॥१२॥
 वे वियइ जु वलि वीवाहि-गाहि । इणि भवि परभवि तिणि आहि-वाहि ॥१३॥
 करि करुण अलिउ मण (जीउ) वुल्लि । परधणु-तिणु परतिय-माय तुल्लि ॥१४॥
 धण-धन्न-खित्त-परिगह-पमाणु । परिहरि कूडातुल कूडमाणु ॥१५॥
 इउ भासिउ जिणवरि घम्म-लेसु । आराहि जेम तुट्टइ किलेसु ॥१६॥
 लद्धी सामग्गी पुन्न-जोगि । पम्माउ करिसि तउ पडिसि सोगि ॥१७॥

है (अथवा कैसे संभव है) ॥१०॥ इतर धर्मों की कुचर्चा और निन्दा को टालकर अपने कुलधर्म का भली प्रकार पालन करो ॥११॥ चाण्डाल का कार्य भी करना पड़े तो वह भले ही भली प्रकार कर लो परन्तु परनिन्दा न करो और न दूसरों के मरण का कारणभूत वचन या गुप्त बात कहो ॥१२॥ पर-चिन्तन से अनन्त संसार और आत्म-चिन्तन से परमपद प्राप्त होता है ॥१३॥

पत्ता—अष्ट मूलगुणों का पालन करते हुए सप्त व्यसन का त्याग कोजिए और निर्मल सम्यग्दर्शन पूर्वक पहलो प्रतिमा धारण कोजिए ॥१-१८॥

[१-१९]

सप्त व्यसन, अनन्तकाय, अभक्ष्य और अकर्तव्य विचार-विमर्श

इस प्रकार जान करके जो आचरणीय हैं उनमें संलग्न हो जाओ । रागदोष से चित्त दूषित मत करो ॥१॥ सप्त नरक प्राप्ति के कारण जानकर इन जुआ आदि सातों व्यसनों को त्यागो ॥२॥ बाईस अभक्ष्य और बत्तीस अनन्तकाय को भी छोड़ो । वे बहुत हानिकर हैं ॥३॥ मधु (शहद), मद्य (मदिरा), मांस, मक्खन, गाजर-मूली, कंदरूआ आदि (जमीकन्द), राख-भाटी मत खाओ ॥४॥ सूरन, पिडालू और पिंग जाति के पदार्थ, बैंगन तथा रात्रि-भोजन छोड़ो ॥५॥ घोल, बड़ा (दही-बड़ा) संधान अचार और द्विदल पदार्थ जानकार लोंग कैसे जीमते हैं (जीमेंगे) ॥६॥ कच्चे दूध को जमाकर बनाये गये दही में द्विदल पदार्थों का मिश्रण द्विदल कहलाता है । उसे खाने में यति पाप बताते हैं ॥७॥ पाप से नरकवास जानो । वहाँ भी महान् दुःख से (जीव) पकाया जाता है ॥८॥ अनछना पानी नहाने-धोने में लेने से जोव जलचर-योनि प्राप्त करता है ॥९॥ नियम लेकर प्रत्याख्यान करके णमोकार मंत्र हृदय में धारण करो ॥१०॥ विकथाओं को टालकर प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रोषध व्रत को सम्हालो ॥११॥ जीवों के द्वारा जो धन खेत में बोया जाता है वह परलोक का सम्बल जानो ॥१२॥ वर और बधू दोनों पक्ष के जो लोग फिर विवाह आदि में व्यय करते हैं वे इस भव में और आगामी भव में मानसिक व्याधियाँ पाते हैं ॥१३॥ दया करके झूठ मत बोलो । पराये धन को तृण सम और परस्त्री को माता के समान (समझो) ॥१४॥ धन-धान्य और खेत आदि परिग्रह का प्रमाण करो । कम-ज्यादा तौलना-मापना छोड़ो ॥१५॥ जिनेन्द्र ने इस प्रकार धर्म का संक्षिप्त स्वरूप कहा है । उसकी आराधना करो जिससे कि क्लेश (दुःख) टूटते हैं । नष्ट हो जाते हैं ॥१६॥ सम्पदा पुण्य के योग से

जिणधम्महं विणु न वि सक्क सुक्खु । जिणधम्महं विणु न वि होइ मुक्खु ॥१८
इउ परमक्खर इउ परम-मंति । मिच्छत्त-वयणु मन पडिसि भंति ॥१९॥

घत्ता

मिच्छत्तु विच्छंडहि जीव तुहँ, जिम तुट्टइ संसारु ।
मणुय सग्गि सुह पाइ करि, पावहि मोक्ख-दुवारु ॥१-१९॥

[१-२०]

इउ च्चिति वि विण्णि वि भाय तंहि । हम णिक्कंमिय जिणधम्म-रहि ॥१॥
इह विवहारी धणु इत्थु लोइ । जो दिणि-दिणि मुणिवर-दाणु देइ ॥२॥
जिणु-अंचइ वसुविह-दव्व-लेइ । जण-पोसइ सत्तू-कार-देइ ॥३॥
साहम्मियवच्छलु करइ सोइ । सहसत्तुदयालउ-हियइ होइ ॥४॥
अरहंतुच्छंहि णउ णमइ कासु । जिणवर-वय-धारिय-तिण्ह दासु ॥५॥
हम पुण्णहीण जिणधम्म-चत्त । वहु पावपंक खुब्भिय णिरुत्त ॥६॥
संसार-भवणव-पडिउ जीउ । णीसरइ ण विणु जिणधम्म-कील ॥७॥
इउ च्चिति वि जिणवर-धम्म-नत्त । अच्छहि सुहज्झाणें लीणचित्त ॥८॥
णउ दूहहि सुत्तुह कहव तंहि । कीरंति केर विवहारियंहि ॥९॥
अण्हि दिणि च्चितउ साहु तंहि । ए विण्णि भव्व जिणभत्त-मणि ॥१०॥
किज्जइउवाउणिच्छरहि खणि । ॥११॥
किय कम्म असुह कप्पेहि रउ । जि संपज्जइ इणि सुरहपउ ॥१२॥
अण्हि दिणि च्चिति वि चेयालइ । सेट्ठि लेवि गउ भाय वि हालइ ॥१३॥
पणविउ विस्सकित्ति मुणिसारउ । काम-कुरुह कप्पणह कुठारउ ॥१४॥
जो भव्वहं भव-उवहि उतारउ । सायवाय जो वाणि वियारउ ॥१५॥
जो धमत्थ-क्षाण-मउणेहि थक्कु । सावयहं धम्मु ईरहि णिसंकु ॥१६॥

प्राप्त हुई है । प्रमाद करोगे तो शोक में पड़ोगे ॥१७॥ जैनधर्म के बिना न इन्द्र-सुख होता है और न ही मोक्ष ॥१८॥ ये ही परम अक्षर है और यह ही परम मंत्र है । हे भाई ! मिथ्यात्व वचनों में मत पड़ो ॥१९॥

घत्ता—हे जीव ! तू मिथ्यात्व का परित्याग कर जिससे कि संसार-भ्रमण टूटे । समाप्त हो और मनुष्य पर्याय तथा स्वर्ग के सुख प्राप्त करके मोक्ष का द्वार प्राप्त करो ॥१-१९॥

[१-२०]

धण्णंकर-पुण्णंकर का निजातभावलोकन, अभयंकर का उनके प्रति चिन्तन और मुनि विश्वकीर्ति द्वारा श्रावक-धर्म वर्णन

इस प्रकार दोनों भाई वहाँ (अभयंकर के घर) विचारते हैं कि हम जैनधर्म में रहकर भी निकम्मे हैं (आत्मकल्याण के लिए कुछ नहीं करते) ॥१॥ इस लोक में यह व्यापारी-अभयंकर सेठ धन्य है जो प्रतिदिन मुनि को (आहार) दान देता है ॥२॥ अष्ट द्रव्य लेकर विधि पूर्वक जिनेन्द्र की पूजा करता है । मनुष्यों को काम देकर जीवों का पोषण (रक्षा) करता है ॥३॥ वह साधर्मियों पर वात्सल्य (भाव) स्नेह करता है, हृदय से हजारों जीवों पर दया करता है ॥४॥ अर्हन्त-देव के सिवाय किसी अन्य देव को नमन नहीं करता । जिनेन्द्र के वचनों को अथवा व्रतों को जो धारण करते हैं वह उनका सेवक है ॥५॥ हम पुण्यहीन हैं, जो धर्म त्यागकर बहु पाप रूपी पंक के नीचे निमग्न हैं ॥६॥ भव-सागर में पड़ा हुआ संसारी जीव बिना जैनधर्म रूपी कील (का सहारा लिए वहाँ से) नहीं निकलता है ॥७॥ ऐसा विचार करके जैनधर्म में नत (वे दोनों) तल्लीन चित्त से शुभ ध्यान में बैठ जाते हैं ॥८॥ वे किसी भी प्रकार से वहाँ प्राणियों को नहीं दुखाते । व्यापारी सेठ अभयंकर के यहाँ (ही) क्रीडा करते हैं ॥९॥ उनके सम्बन्ध में (एक) दिन सेठ ने विचार किया—ये दोनों (भाई) भव्य हैं, जिनेन्द्र के भक्तों में मणि के समान श्रेष्ठ हैं । उपाय करता हूँ और क्षण भर में (भव-सागर से) पार लगाता हूँ ॥१०-११॥ जिससे इन्हें देव-पद प्राप्त हो वह अर्जित अशुभकर्म रूपी मल को काटता हूँ ॥१२॥ किसी दूसरे दिन विचार करके सेठ दोनों भाइयों को तत्काल लेकर चैत्यालय गया ॥१३॥ काम रूपी दुर्वृक्ष को काटने के लिए कुठार स्वरूप सारभूत मुनि विश्वकीर्ति की प्रणाम किया ॥१४॥ भव्य जनों को संसार-सागर से तारनेवाले और स्याद्वाद-वाणी के विचारक, धर्मध्यान के लिए मौन पूर्वक स्थित वे मुनिराज शंका विहीन होकर श्रावक-धर्म

किज्जइ सामायउ तिण्णि-काल । पोसहउवासु किज्जइ सुहाल ॥१७॥
जिणपूण-पहाणु-विलेवणाइं । वंभवउ पालइ रउ-हराहिं ॥१८॥

घत्ता

धम्मु वि दह लक्खणु, सिवपउ दक्खणु,
दाण चउक्कइ दिज्जहिं ।
सत्तुह दय किज्जइ, गंथ-सुणिज्जइ,
किज्जइ सावय एह विहिं ॥१-२०॥

[१-२१]

॥ उक्तं च ॥ सो जयउ जेण विहियं, संवच्छर चाउ मासि पध्वेसु ।
णिधम्म सावयाणं, जेण पसायेण धम्ममए ॥ छ ॥
॥ दोहा ॥ इउ णिसुणेप्पिणु सुद्धमई विवहारीहिं वि तेण ।
तं दुह भायहं कम्मकर, एहाणु कराविउ तेण ॥
॥ यतः ॥ स्नानं नाम मनः प्रसाद जननं दुःस्वप्न-विध्वंसनं,
शौचस्यापतयां मलापहरणं सवद्धनं तेजसा ।
रूपोद्योतकरं सिरसुखकरं कामाग्नि-संदीपनं,
स्त्रीणां मन्मथमोहनं श्रमहरं स्नाने दसेते गुणा ॥ छ ॥
एहाणु कराइ वि दुहुबन्धवेहिं । पहराविय वत्थइं ससि-समेहिं ॥१॥
गउ रयणमइय-वर पडिम जेत्यु । वसु दव्वइं गिण्हिं वि जो महत्थु ॥२॥
जावहिं कम्मकर पुज्जणत्थ । विवहारिय गिएहइ फुल्ल सुत्थ ॥३॥
अट्ठे कम्मेरह देइ तत्थ । णउ लइहिं भव्व परदत्व-वत्थ ॥४॥
बुज्जइ विवहारिय किं एण लेहु । महु मण अच्चरिउ पुणुसदेहु ॥५॥
ते भणहिं जस्स हम फुल्ल लेहिं । तहु पुणु होइ हमि तं ण तेहिं ॥६॥
णउ अलिउ वयणु हमि भणिउ लोइ । वज्ज-रइ जिणेसरु-परमजोइ ॥७॥
जो भोयणकाले चरुअ सेइ । तस्स वि सरीरि वहु तित्ति होइ ॥८॥
तहं धम्म-अधम्महं एहु भेउ । जो करइ सु तिप्पइ सुकिय हेउ ॥९॥

पालने को प्रेरित करते हैं ॥१५-१६॥ (वे कहते हैं कि—) कर्म-मल को दूर करनेवाले ब्रह्मचर्य को पालो, त्रिकाल सामायिक करो, सुखकारी प्रोषध उपवास करो और अभिषेक तथा विलेपनपूर्वक जिनेन्द्र की पूजा करो ॥१७-१८॥

धत्ता—शिव-पद प्रदायी दश लक्षण धर्म (धारो), चारों प्रकार के दान दो, प्राणियों पर दया करो, आगम-ग्रंथ सुनो, यही श्रावकधर्म की विधि है । पालन कीजिये ॥१-२०॥

[१-२१]

[पूजा में पर द्रव्य-व्यवहार सम्बन्धी धण्णंकर-पुण्णंकर के विचार तथा मुनि विश्वकीर्ति का उपदेश]

कहा भी है—जिसके प्रभाव से धर्म विहीन श्रावक धर्ममय हो जाते हैं वह वर्षगांठ महोत्सव जिसके द्वारा चातुर्मास के पर्वों में मनाया जाता है वह जयवन्त हो ॥

दोहा—ऐसा विशुद्धमति मुनि विश्वकीर्ति से सुनकर उस व्यापारी अभयंकर सेठ के द्वारा दोनों कर्मचारी भाई नहलाये गये ।

क्योंकि—स्नान में दस गुण होते हैं—

(१) मानसिक प्रसन्नता का उत्पादक (२) अशुभ स्वप्नों का विनाश (३) शोकहारी (४) मलिनता को दूर करनेवाला (५) तेज-संवर्द्धक (६) सौन्दर्य का उद्योतकर (७) सिर के लिए सुखकर (८) कामाग्नि का उत्तेजक (९) स्त्रियों का मन्थन-मोहन और (१०) श्रमहर ।

सेठ अभयंकर दोनों भाइयों को स्नान कराकर और चन्द्रमा के समान श्वेत उज्ज्वल वस्त्र पहनाकर तथा बहुमूल्य अष्ट द्रव्य लेकर जहाँ रत्नमयी श्रेष्ठ प्रतिमा (श्री वहाँ) गया ॥१-२॥ जाते हुए सेठ कर्मचारियों को पूजा में चढ़ाने के लिए सुन्दर और स्वच्छ फूल ले लेता है ॥३॥ वहाँ वह आवे फूल कर्मचारी भाइयों को देता है । (किन्तु) वे भव्य दोनों भाई पर द्रव्य और वस्त्र नहीं लेते हैं ॥४॥ सेठ (उनसे) पूछता है (द्रव्य) क्यों नहीं लेते ? मेरे मन में आश्चर्य और सन्देह (प्रकट हो रहा) है ॥५॥ वे भाई कहते हैं (हे सेठ) यदि हम आपके फूल लेते हैं तो इससे आपका पुण्य होता है हमारा नहीं ॥६॥ हमने झूठ नहीं कहा है । जिनेश्वर की परम-ज्योति पर हमारी वज्र के समान दृढ़ प्रीति है ॥७॥ भोजन के समय जो नैवेद्य (पकवान) का सेवन करता है उसके ही शरीर में तृप्ति होती (सभी को तृप्ति प्राप्त नहीं होती) ॥८॥ धर्म और अधर्म में यही भेद है ।

णउ लेहि साहु-परदव्वु तेण । आराहहि जिणु नियथिर मणेण ॥१०॥
 तं सुणि विवहारी ओसु जाउ । ए भव्वइं जिण मण-सुद्धभाउ ॥११॥
 मण-वयण-काय परउत्थ-चत्त । णित्थरहि भवंकुहि वेइ भत्त ॥१२॥
 णिय जयवर-पासह विणिण-भाय । जिण-धम्ममुपरि जिणि चित्तु लाय ॥१३॥
 ॥ उक्तं च ॥ बहुमाणो वंदणयं, गुण-थुइ लहु उवसग्ग-णिगोहणं ।

उवयारदाणमेवय, गुरुय्या पंचविहा होइ ॥१॥

पुणु पुणु विवहारिय पणमि गुरु । पुणु मुणिवर ए दो भाय णिरु ॥१४॥
 णउ पुज्जहि जिणवरु मज्झु दव्वु । तं कारणु वुज्जहि साहु-भव्वु ॥१५॥
 तं णिसुणि भणइ गुरु अमियवाणि । तइ-णाण-सज्जुत्तउ सीलखाणि ॥१६॥
 भो कम्मकर जिणणाह पूय । ॥१७॥
 तुनि किण्ण करहु दुग्गइं हरीय । जें सुर-गर-फणिपउ लहहि जीय ॥१८॥
 तं णिसुणि वि धणकर-पुण्णकरु । अक्खहि परिउत्तरु सुच्छु णिरु ॥१९॥
 णिय दव्वहं कुसुमइं हंमि लेहं । अंचहि जिणसामि उं थुइ करेहि ॥२०॥
 तं णिसुणिभणइ जइ किंचि दव्वु । जइ अत्थि तुम्ह पहि करहु भव्वु ॥२१॥

घत्ता

इक्कइ कम्मकर, भणित्तु महुर गिर,

महुपहि कउडीय पंच जई ।

तं मोलाहं कि लब्भइ तंहि,

कुसुम अमोल्लइ मुणि सुमई ॥१-२॥

॥ गुरुवत्तं ॥ यतः ॥ जले तैलं खले गुह्यं, पात्रे दाने मनागपि ।

प्राग्ने सास्त्रे स्वयं जाति, विस्तारव सुसकित्तः ॥

॥ उक्तं च ॥ यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीणः, स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणा कांचनमाश्रयति ॥छ॥

जो पुण्य कार्य करता है वही परम तृप्ति को पाता है ॥९॥ यही कारण है कि हे सेठ ! हम पर द्रव्य नहीं लेते । अपने स्थिर मन से जिनेन्द्र की आराधना करते हैं ॥१०॥ ऐसा सुनकर मेठ को दुःख उत्पन्न हुआ । (वह विचारता है कि) ये भाई भव्य हैं, शुद्धभाववाले हैं, (उनके) मन में जिनेन्द्र (विराजमान) हैं ॥११॥ मन, वचन और काय से पर-वस्तु का त्याग करके भवत ये दोनों भाई भवसागर से शीघ्र पार हो जानेवाले हैं । उस पर निकल जाने वाले हैं ॥१२॥ जैनधर्म पर जिन्होंने चित्त लगाया है उन दोनों भाइयों को वह सेठ यतिवर विश्वकीर्ति के पास ले गया ॥१३॥ कहा भी है— बहुत मान-सम्मान सहित वन्दना करना, गुण-स्तुति करना, उपसर्गों का (निवारण करना), दोषों का गोपन करना और उपकार के लिए गुरु को दान देना इस प्रकार गुरुपूजा पाँच प्रकार की होती है ।

सेठ अभयंकर बार-बार गुरु से कहता है । हे मुनिवर ! ये दोनों भाई निश्चय से मेरी द्रव्य से जिनेन्द्र को नहीं पूजते हैं । हे साधु इन भव्य (पुरुषों से) इसका कारण पूछो ॥१४-१५॥ ऐसा सुनकर तीन ज्ञान के धारी, शील की खदान गुरु अमृतमय-वाणी से कहते हैं—हे कर्मचारी भाई ! जिननाथ को पूजो ॥१६-१७॥ जिससे जीव सुरेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र पद पाता है, दुर्गति को हरनेवाली जिनेन्द्र की पूजा तुम क्यों नहीं करते ॥१८॥ ऐसा सुनकर धण्णंकर और पुण्णंकर भली प्रकार प्रत्युत्तर स्वरूप कहते हैं— हे स्वामी ! निज द्रव्य से हम फूल लेते हैं और जिनेन्द्र की पूजा तथा स्तुति करते हैं ॥१९-२०॥ ऐसा सुनकर यति विश्वकीर्ति कहते हैं—हे भव्य ! यदि तुम्हारे पास कुछ द्रव्य है तो (पूजा) करो ॥२१॥

घत्ता—उन दोनों कर्मचारियों में एक कर्मचारी ने मधुर वाणी से कहा— हे यति ! मेरे पास पाँच कौड़ियाँ हैं । हे विद्वान् मुनि ! उन कौड़ियों के मूल्य से अमूल्य पुण्य कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ॥१-२१॥ गुरु ने कहा— जल में तैल, दुष्ट पुरुष को कथित रहस्य, सत्पात्र को दिया गया किञ्चित् दान और बुद्धिमान को दिया गया शास्त्र स्वयमेव ही सुशक्ति से फ़ैल जाते हैं ॥

कहा भी है—जिसके (पास) धन होता है वही मनुष्य कुलीन, वही पंडित, वही श्रुतज्ञ और गुणवान तथा वह ही वक्ता और दर्शनीय होता होता है । यथार्थ में सभी गुण द्रव्याश्रित हैं अथवा द्रव्य का आश्रय लेते हैं ॥छा॥

[१-२२]

तं नि (णि) सुणि वि वीयउ भणइं वाय । हउं किं करेमि णिहि-हीणु जाय । ११॥
 एकइ ण वराडी जाइ महु । किउ पुज्जउ गुरु तिल्लोय-पहु ॥२॥
 यउ अक्खउ विण्णि वि भाय णिरु । वउ लिहि जईपहि दुरियहरु ॥३॥
 चउ विह आहारह णेसु किउ । णिसुणंत भव्वयण अइ सुहिउ ॥४॥
 पुणु विण्णि भाय गुरु कहि सुमई । किउ अण्ण-पयारह पुणु हवई ॥५॥
 तइं अक्खइ म्मुणि चउमासि एसु । अट्ठाहियणंदीसुर-पव्व एसु ॥६॥
 किज्जइ णिम्मलु वउ रउ-हरेसु । जिण-पुज्जा किज्जइ तउ करेसु ॥७॥
 तं णिसुणि वि मण-वय-काय वे वि । संथिय उवासु निय गुरु-समीवि ॥८॥
 णवयार-गुणंहि एयग्ग चित्त । जं राहइं सुर-णर सिवह-पत्त ॥९॥
 गय सुज्जगम्मि णिय साहु सत्थ । किय एहाणु पहिरि चंदुज्ज-वत्थ ॥१०॥
 कउडियइं पंच तहं देवि तत्थ । लिय फुल्ल सुयंधइं रहसि सुच्छ ॥११॥
 जिणु-सुइ-गुरु पुज्जि वि थुइ करेवि । सुहज्जाणं सामायउ सरे वि ॥१२॥
 पुणु भोयण-वेलइ सेट्ठि सत्थ । उवविट्ठ वेवि चरु भुंजणत्थ ॥१३॥
 तिण्ह भायण सेट्ठिणि धित्तु भोजु । षडरस सजुत्तुच्छुह डमणुज्जु ॥१४॥
 सुपरोसिउत्तहं भव्वु जोइं । णित्थरिहइ णिय किय पुण्ण लोइ ॥१५॥
 तहं चिर्ताहि णियमण सुद्ध भाय । जइ पत्तु मिलइ इव को वि आय ॥१६॥
 तं देहि भोजु तं णइ वि पाय । ॥१७॥
 इय चित्ति वि भावहि भावणाइं । जा मोक्ख-सोक्ख-उप्पाय णाइं ॥१८॥
 तं पुण्णहं चारण-जुयल आय । तव-तेय-दिवायर मयण-घाय ॥१९॥
 सिद्धहं दंसणु वरु देवयाइं । गुरु णिव समाणु जसु पिहमिमाहं ॥२०॥

[१-२२]

[धर्णकर-पुर्णकर का विश्वकीर्ति मुनि से व्रत-ग्रहण तथा चारण-युगल को आहार-दान एवं पुण्य-महिमा]

ऐसा सुनकर दूसरा भाई कहता है—मैं द्रव्य-हीन हो गया हूँ, क्या करूँ ॥१॥ मैं एक कौड़ी भी उत्पन्न नहीं करता हूँ अर्थात् मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। हे गुरु ! तीन लोक के स्वामी की मैं कैसे पूजा करूँ, उन्हें कैसे पूजूं ॥२॥ मुनि ने दूसरे (इस निर्धन) भाई से कहा—यति से पापहारी व्रत ग्रहण करो ॥३॥ वह भव्य पुरुष यह सुनते ही अति सुखी हुआ। उसने चारों प्रकार के आहार (त्याग) का नियम किया (लिया) ॥४॥ इसके पश्चात् वे दोनों भाई मतिमान् गुरु से कहते हैं—दूसरे प्रकार से यह कैसे होता है ? ॥५॥ मुनि कहते हैं—इस चातुर्मास में आष्टाद्विक नन्दीश्वर पर्व में पाप-मेल को दूर करनेवाले निर्मल व्रत को कोजिए, जिनेन्द्र की पूजा कीजिए और तप करो ॥६-७॥ मुनि से ऐसा सुनकर मन-वचन और काय से वे दोनों भाई अपने गुरु के पास उपवास में बैठ गये ॥८॥ जिसकी आराधना से देव और मनुष्य मोक्ष पाते हैं उस णमोकार मन्त्र को वे दोनों भाई एकाग्रचित्त होकर जपते हैं। मन्त्र की आवृत्ति करते हैं ॥९॥ सूर्योदय होने पर वे दोनों अपने सेठ (अभयंकर) के साथ गये। उन्होंने स्नान और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत वस्त्र धारण करके पाँचों कौड़ियाँ वहाँ (सेठ को) देकर तथा सहर्ष (सेठ से) सुगन्धित सुन्दर-स्वच्छ फूल लेकर जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और गुरु की पूजा-स्तुति करके सामायिक करने के पश्चात् भोजन का समय होने पर सेठ के साथ वे दोनों भाई पकवान खाने बैठे ॥१०-१३॥ सेठानी छहों रसों से युक्त, क्षुधा का दमन करनेवाला भोजन लेकर और ज्ञानी, भव्य उन दोनों भाइयों को लोक में किये अपने पुण्य से परोसकर (भव-सागर से) पार हो जाती है (भव-सागर से पार होने का बन्ध कर लेती है) ॥१४-१५॥ वे निर्मल परिणामी भाई तब विचारते हैं—यदि कोई भी पात्र आकर मिल जाता है तो उनके चरणों की वन्दना करके यह भोजन उन्हें दें ॥१६-१७॥ ऐसा चिन्तन कर वे भाई मोक्ष-सुख के समान सुख की उपाय स्वरूप (सोलह) भावनाओं को भाते हैं ॥१८॥ उनके पुण्य से कामजयी तप रूपी तेज से सूर्य स्वरूप दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आते हैं ॥१९॥ उन सिद्ध यतियों के दर्शनार्थ देव आते हैं। वे गुरुओं को अपने नृप इन्द्र के समान किन्तु यश से पृथक्/भिन्न विचारते हैं/मानते हैं ॥२०॥

गय दब्बु वंसु महि णट्ठयाहं । पाविज्जइ तं पुण्णं क्रियाहं ॥२१॥
 किय पुण्ण पसायं तरइ भउ । किय पुण्णे संपइ होइ जाउ ॥२२॥
 विणु पुण्णे जीउ ण लहइ सुहु । पावेणय पावइ गरुय कुहु ॥२३॥
 सुदुहेण वि माणसि गरुव सोउ । संपज्जइ सुच्चहं जाइ खउ ॥२४॥

घत्ता

तहं विण्णि वि भायर, वय-णिम्मायर,

णिय-णिय-भोयणु सब्बु लहु ।

मुणि-जुयलहं दिण्णउं, चरु संपुण्णउं,

गय चारण आयास पहु ॥१-२२॥

इय महाराय सिरि अमरसेण चरिए । चउवग सुकहकहामयरसेण
 संभरिए । सिरि पंडिय मणि माणिककवि रइए । साधु महणा-सुय चउधरी
 देवराज णामंकिए । धण्णंकर-पुण्णंकर धम्म-लाभ, वइराग-भाव,
 मुणिदान-पयच्छण वण्णणं णाम पढमं परिच्छेयं सम्मत्तं ॥ सन्धि ॥१॥

यः शोभते सकलसाधु जनेषु नित्यं,

गंभीर-धीर्यं निखिलार्थं गुणैरतीव ।

श्री जैनशासन समुद्र-विवर्द्धनेन्दुः,

श्रीमान् सदा जगति नंदतु देवराजः ॥

इति आशीर्वाद्दः ॥ उक्तं च ॥

हंसा सब्बत्थ सिया, सिहिणो सब्बत्थ चित्थियं गरुवा ।

सब्बत्थ जम्म-मरणं, सब्बत्था भोयणेभोयं ॥१॥



जिनका पृथ्वी पर द्रव्य और वंश नष्ट हो जाता है वह पुण्य-क्रियाओं से प्राप्त कीजिए ॥२१॥ किये हुए पुण्य के प्रसाद (प्रभाव) से भव्य जीव (भव-सागर से) तर जाता है, सम्पत्ति हो जाती है ॥२२॥ बिना पुण्य के जीव सुख नहीं पाता । किन्तु पाप से बहु दुःख पाता है ॥२३॥ दुःख से मन में अतीव सोच-विचार को (चिन्ता) प्राप्त होता है और सोच-विचार से (शारीरिक) क्षीणता उत्पन्न होती है ॥२४॥

घत्ता—उन निर्मल परिणामी दोनों भाइयों ने अपनी-अपनी सम्पूर्ण भोजन-सामग्री से युक्त थाली शीघ्र युगल चारण मुनियों को दे दी । स्वामी (आहार लेकर) दोनों चारण मुनि आकाश में चले गये ॥१-२२॥

अनुवाद

यह महाराज श्री अमरसेन का चरित चारों वर्ग (वर्ण) को रसों से भरपूर, सुकथनीय कथाओं से युक्त है । पण्डितमणि श्री माणिक्यकवि के द्वारा सेठ महणा के चौधरी देवराज नामधारी पुत्र के लिए रचा गया है । इस ग्रन्थ का घण्णकर-पुण्णकर को धर्म-लाभ, उनके वैराग्य-भाव और मुनियों के दान प्रदान का वर्णन करनेवाला प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ ॥ सन्धि ॥१॥

जो सम्पूर्ण साधु जनों में गाम्भीर्य, धैर्य, सम्पूर्ण अर्थ और अतीव गुणों से नित्य सुशोभित होता है, श्री जैनशासन रूपी समुद्र की वृद्धि के लिए चन्द्र स्वरूप वह श्रीमान् देवराज संसार में सदैव आनन्दित रहे । यही आशीर्वाद है । कहा भी है—

हंस सर्वत्र श्वेत और सिंह सर्वत्र चिन्तनीय, तथा बड़ों के समान आचरणशील (होता है) । जन्म-मरण सर्वत्र है और भोजन में उपभोग्य पदार्थ सर्वत्र (हैं) ॥१॥



द्वितीय परिच्छेद

[२-१]

ध्रुवक

हो सेणिय अरि वि डसेणिय, अग्गइ अण्णु वि भासमि ।
जिहं विण्णि वि रायहु सुय, अइ लंविद्यभुय, ह्यु तिह संसउ णासमि ॥४॥
मण-वयण-काय करि सुद्ध भाउ । विउ पुण्णु सुहंकरु असुह-घाउ ॥१॥
तो जाइ वि विवहारिय वुत्तउ । भोयणु करहु वत्थ किउ जुत्तउ ॥२॥
जं दिण्णउ तुमि मुणिवरिय दाणु । तुम्हहं सरि अण्णु ण कोइ जाणु ॥३॥
ते अक्खहि णिसुणहिं सेट्ठि भव्व । णउ भुजहि भोयणु अम्ह-इव्व ॥४॥
हमि सयलं वप्प-संतोसु जाउ । णउ भावइ अम्हहं असण-भाउ ॥५॥
तं सुणि वि सेट्ठि जंपइ तुरंतु । साहम्मिय-वच्छलु करहि तत्तु ॥६॥
जइ एवहिं असणत्थेण मित्त । तउ भुंजहि भोयणु रहस-चित्तु ॥७॥
तं सुणि वि भणहि वे भाय जुत्तु । णिय भुयहं उप्पायउ चरु णिरुत्तु ॥८॥
णउ कहच्छंडिज्जइ वउ वि जुत्तु । जो वयणं वोलिज्जइ पवित्तु ॥९॥
इव चउविह असणहं अम्ह णेमु । सूरगमि भोयणु करहि खेमु ॥१०॥
तिणि वयणु सुणेपिणु सेट्ठि सुट्ठु । कम्मारायाहं किउ विणउ सुट्ठु ॥११॥
जंच्छट्ठिंहं रत्तिहि विहि लिहिऊ । तं मत्थइं अक्खर-माल थिउ ॥१२॥
देवेहि लिहायाउ विहि लिहिऊ । तं फेडण कुइ ण समत्थु हुउ ॥१३॥
जइ आरोहइ गिरि-सिहरि जीउ । उहि लंघि पयालहं जाइ भोउ ॥१४॥
विहि लिहियइ अक्खरमाल-करि । तं फलइ णरहु सुरणाय सिरि ॥१५॥
कहमरणवत्थच्छट्ठुइ ण जोउ । जइ जाइ विएसह जमह-भोउ ॥१६॥
जहं कायकलेवरुच्छाह सरि । तं लगउ भइ [वि] सरीर परि ॥१७॥

[२-१]

[धण्णंकर-पुण्णंकर का चतुर्विध आहार-त्याग और समाधि-मरण वर्णन]

ध्रुवक

हे शत्रुओं को डसनेवाले श्रेणिक ! अति दोर्घबाहु राजकुमारों के सम्बन्ध में तुम्हारे हुए संशय का नाश करता हूँ और आगे (क्या हुआ) कहता हूँ ॥छा॥

मन-वचन और काय से शुद्ध, पुण्यवान्, कल्याणकारी, अशुभघाती दोनों भाइयों को तब सेठ ने जाकर उपयुक्त वस्त्र धारण करके भोजन करो, कहा ॥१-२॥ जो चारण मुनियों को तुम दोनों ने दान दिया है। तुम लोगों के समान अन्य दूसरे को नहीं जानता हूँ ॥३॥ वे भव्य (भाई) कहते हैं हे सेठ ! सुनो। हम अब भोजन नहीं करते हैं (करेंगे) ॥४॥ हमारे सम्पूर्ण शरीर में संतोष उत्पन्न हुआ है। हे भाई ! हमें भोजन नहीं भाता है ॥५॥ ऐसा सुनकर सेठ तत्काल कहता है—हे पूज्य ! साधर्मियों से स्नेह/प्रीति करिये ॥६॥ हे मित्र ! यदि इस प्रकार भोजन करना है तो सहर्ष चित्त से भोजन करो ॥७॥ सेठ के इस कथन को सुनकर वे दोनों भाई कहते हैं—हम अपने बाहुबल से उपाजित भोजन ही निश्चय (करेंगे) ॥८॥ जो वचन (हम) बोलते हैं, (इसी प्रकार) जो व्रत भली प्रकार बोला जाता है/ग्रहण किया जाता है, उसे कैसे भी त्यागना नहीं चाहिए ॥९॥ हमारा चारों प्रकार के आहार का सूर्योदय में ही आहार करने का कल्याणकारी नियम है ॥१०॥ उनके वचन सुनकर सेठ ने भली प्रकार कर्मचारी भाइयों से विनय/प्रार्थना की ॥११॥ षष्ठोपवास की रात्रि में माथे पर विधाता ने जो अक्षरमाल लिख दी है (वह) स्थिर है ॥१२॥ भाग्य के द्वारा लिखाया गया और विधि द्वारा लिखे गये को कोई भी बदलने को समर्थ नहीं हुआ ॥१३॥ जीव यदि पर्वत की चोटी चढ़ जाता है, भयभीत होकर समुद्र लाँघकर पाताल में चला जाता है तो भी विधाता की लिखी अक्षर पंक्ति (लेख) मनुष्य, देव और नागेन्द्र को भी फल देती ही है ॥१४-१५॥ यम से भयभीत होकर यदि जीव विदेश भी चला जाता है (तो भी) किसी प्रकार से भी मरणकाल नहीं छूटता है अर्थात् मरण काल अपने निश्चित समय पर आता ही है ॥१६॥ जैसे शरीर को छाया शरीर का अनुसरण करती है हे भाई ऐसे ही वह शरीर के पीछे लगा हुआ है ॥१७॥

घत्ता

घण्णकरु पुण्णकरु, भाइ कम्मकरु, सुहभावण-भावे वि मणे ।
किउ कालु समाहिहिं, णव-पय भावहिं, जें णर-सुर-पउ होइ जणि ॥१॥

[२-२]

सणिकुमरि-सग्गि ते वे वि जाय । उप्पायसिलाहिं वि जम्मु-पाय ॥१॥
विभिय जो कहिं ते दस-दिसाइं । को यहं ठाणु वि किं पुण्णियाइं ॥२॥
इय च्चित्तें तहं अवहिणाणु । उप्पणउ जाणित्तं सयलु जाणि ॥३॥
रिसि-सायर भुंजि वि परम आउ । अच्छर-यण-समु पुणु मुंछि काउ ॥४॥
इह जंबूदीवहं भरहवरिसु । संठियउ पसिद्धु [क] कुलिग-देसु ॥५॥
तहिं दलवट्टणु णामें पट्टणु । वहु वेरिहु वि सेण-आवट्टणु ॥६॥
वड-विच्छुव संदीसहि पत्तइं । णउ हिंसणुहिंसइ [तह] पत्तइं ॥७॥
चउ-गोउर-मुह णं कमलासणु । उज्जल तिण्णि कोट्टु ईसरतणु ॥८॥
तहं सूरसेणु णरवइ पयंडु । अरि-गिरि-सिरदलणहं वज्जदंडु ॥९॥
तं सयलंतेउर उप्परि राणी । णामें विजयादेवि-सयाणी ॥१०॥
इत्थंतरि कुरुदेसु खण्णउं । गजपुरु णामें घण-कण-पुण्णउं ॥११॥
तहिं णखइ अइवलु देवदत्तु । देवसिरि भज्जहि रइहि रत्तु ॥१२॥
सह पुहमि पहाणउणिवह [हिं] पुज्जु । णिय तेयं-जित्तिउ जेण सुज्जु ॥१३॥
तहं गजपुर-सामिहि सूरसेणु । लग्गियउ केर तं मणि-रवण्णु ॥१४॥
संतुट्टउ णखइ दिण्ण देस । वहु हय-गय-चामरच्छत्त-कीस ॥१५॥
तहं सूरसेणु णिउ रहइ जाम । विजयादेविहि संजुत्तु ताम ॥१६॥
भुंजइ भोयइ सो वि णरेसरु । सह-सत्तु-दयालउ बुद्धिहि-सुरगुरु ॥१७॥
तहं समयहं पुव्वहं भावणेहिं । मुणि-चारण-जुयलहं दाणवेहिं ॥१८॥
घण-पुण्णं केउ कमेण सरि । उप्पणइं विजयादेवि-उरि ॥१९॥

घत्ता—धण्णंकर और पुण्णंकर दोनों कर्मचारी भाइयों ने शुभ (सोलह कारण) भावनाओं को भाते हुए तथा जिससे मनुष्य और देव-पद होता है उस नौ पद वाले णमोकार मंत्र जपते हुए समाधिमरण किया ॥२-१॥

[२-२]

[सनत्कुमार-स्वर्ग से चयकर राजा सूरसेन के युगल पुत्र के रूप में धण्णंकर-पुण्णंकर का जन्म-वर्णन]

वे दोनों भाई सनत्कुमार स्वर्ग में जाकर उत्पादशिला पर जन्म प्राप्त करके विभ्रम में पड़ जाते हैं (वे यह नहीं समझ पाते कि) दस दिशाओं में कहाँ से किस पुण्य से आये हैं । यह कौन स्थान है ॥१-२॥ इस प्रकार विचार करते ही उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ । इस ज्ञान से (उन्होंने) सब कुछ जान लिया ॥३॥ सात सागर की श्रेष्ठ आयु को भोगने के पश्चात् अप्सरा के समान सुन्दर देह त्याग करके (राजा सूरसेन की रानी विजया-देवी के गर्भ में आये) ॥४॥ इस जम्बूद्वीप का (एक) भरतक्षेत्र है (उसमें) प्रसिद्ध कर्लिग देश स्थित है ॥५॥ उस देश में दलवट्टण नाम का पत्तन-नगर है । (उसके) द्वार-दरवाजे से बहुत सेना घूमती-फिरती है ॥६॥ नगर में वट वृक्ष दिखाई देते हैं । उस नगर में हिंसक (भी) हिंसा नहीं करते हैं ॥७॥ चार गोपुरों में वह ऐसा प्रतीत होता है मानों चतुर्मुख ब्रह्मा हो । उज्ज्वल तीनों कोट ईश्वर के द्वारा रचे गये प्रतीत होते थे ॥८॥ वहाँ बैरो रूपी पर्वत के वैरियों के सिर स्वरूप शिखरों को तोड़ने के लिए वज्रदण्ड स्वरूप प्रचण्ड सूरसेन नृपति है ॥९॥ उस राजा के अन्तःपुर की ज्ञानवान् विजयादेवी प्रधान रानी है ॥१०॥ इसी राजा के शासन के अन्तर्गत सुन्दर कुरुदेश (कुरुक्षेत्र) है । (उसमें) धन-धान्य से परिपूर्ण गजपुर (हस्तिनापुर) नाम का (नगर है) ॥११॥ वहाँ अति बलशाली देवदत्त राजा देवश्री भार्या में मग्न रहता है ॥१२॥ निज तेज से जिसके द्वारा सूर्य भी जीत लिया गया है (वह) पृथिवी पर सभी राजाओं के द्वारा पूजा जाता है ॥१३॥ गजपुर के राजा को मन में सूरसेन अच्छा लगता है ॥१४॥ उसने उस राजा (सूरसेन) को देश, घोड़े, हाथी, चँवर, छत्र और कोष देकर संतुष्ट किया ॥१५॥ वहाँ राजा सूरसेन जब तक रहता है उसके साथ विजयादेवी रहती है ॥१६॥ बुद्धि से बृहस्पति के समान, हजारों प्राणियों पर दया करनेवाला वह राजा भोगों को भोगता है ॥१७॥ उसी समय पूर्व कृत भावनाओं के द्वारा और चारण ऋद्धिधारी युगल मुनियों को (पूर्वभव में) दान दिये जाने से धण्णंकर और पुण्णंकर

णं हरि परिहरि अवयरियइं । णं लवणं कुसइंद-पांडिदइं ॥२०॥

घत्ता

जं पुव्व-भवंतर, जिणु-पुज्जिउकर, पाविउ उत्तिमजम्मु भुवि ।

संपुण्णहं गवभहं णव मासहं तहं, उप्पण्णइं जुयलाइं भवि ॥२-२॥

[२-३]

सुह दिणयहिं सुमुहुत्तहिं वेरहिं । लगुण पुण्णइं मयण समेयहिं ॥१॥

भउ उच्छउ णरवइ-सुयह जम्मु । मंगलु गाइज्जइ तिह-हरम्मु ॥२॥

बद्धेतहं तोरण णिवहं वारि । विरदावलि भट्ट भणंति वारि ॥३॥

वहु वायइं वज्जिय विविह णाय । णच्चंति विलासिणि अइ सराइ ॥४॥

दुहिय दलिदि य दाणें पोसिय । वत्थाहरण सुयण संतोसिय ॥५॥

गरुवहं णामं किउ अमरसेणु । लहुवह णामं किउ वइरसेणु ॥६॥

वुत्तइ जणहिं असेसहिं धण्णइ । वट्टइ वाल आसिकय पुण्णइ ॥७॥

माया-पियरहो णेहु जणंतइं । वियसियमुहुं सयणहिं रंजंतइं ॥८॥

करि कराइं जुवइहिं खिज्जंतइं । वालइ माय-थणे कीलंतइं ॥९॥

पुणु माया-पियरहि मंतेप्पिणु । अइ लाडणु वहु दोसु मुणेंपिणु ॥१०॥

विहि पुव्वें सुणुहुत्तं जोएं । उज्जायहु जि समाप्पिउ वेएं ॥११॥

उज्जाएं पुणु वहु सुव-धामें । पडिगाहिय सो जस सिरि कामें ॥१२॥

घत्ता

अकचटतप वग्गइं, मुणि वि समग्गइं,

अक्खर-भेउ पयासियउ ।

सक्कहं पाइय विहि, देसि सयल लिहिं,

गण वित्थरु वि समासियउ ॥२-३॥

[२-४]

गुरुणा उवएसिउ तहं सुअंगु । लक्खणु-लंकारु-विहत्ति-लिगु ॥१॥

उवएसिय संधि-समास भव्व । वायरण-भेय णाणा जि कव्व ॥२॥

दोनों क्रम से विजयादेवी के गर्भ से ऐसे उत्पन्न हुए—आये मानों नारायण और प्रतिनारायण, लव और कुश या इन्द्र और प्रतीन्द्र अवतरित हुए हों ॥१८-२०॥

घत्ता—पूर्वभव में जिनेन्द्र की पूजा करने से पृथिवी पर उत भाइयों ने उत्तम जन्म पाया । गर्भ में नौ महीने रहकर वे युगल रूप में होकर उत्पन्न होते हैं ॥२-२॥

[२-३]

[अमरसेन-वइरसेन का नामकरण, जन्मोत्सव एवं शैक्षणिक वर्णन]

राजा के कामदेव के समान सुन्दर पुत्रों का शुभ दिन, शुभ मूहूर्त और पुण्य लग्न के समय में जन्मोत्सव मनाया गया । राजमहल की स्त्रियों के द्वारा मंगल गीत गाये गये ॥१-२॥ राजद्वार पर तोरण बाँधे गये, भाटों की स्त्रियाँ विरुदावलियाँ गाती हैं ॥३॥ भाँति-भाँति की ध्वनि करनेवाले बहुवाद्य बजाये गये । विलासिनी स्त्रियाँ अति सराहना करती हुई नाचती हैं ॥४॥ दुःखी और दरिद्री जनों का दान से पोषण किया गया । वस्त्र और आभूषणों से आत्मीयजन या सज्जन संतुष्ट किये गये ॥५॥ (राजा ने) बड़े पुत्र का नाम अमरसेन और छोटे पुत्र का नाम वइरसेन रखा ॥६॥ सभी जन धन्य हैं—कहते हैं । (इस प्रकार के बालक पुण्यात्मक आशीषों से बढ़ते हैं ॥७॥ माता-पिता स्नेह प्रगट करते हैं । स्वजन बालकों के मुस्कराते मुँह से अनुरंजित होते हैं ॥८॥ स्त्रियों के द्वारा हाथों हाथ ले जाये जाते हैं । बालक माता के स्तन से खेलते हैं ॥९॥ इसके पश्चात् माता-पिता के द्वारा परामर्श किया गया, अधिक लाड़ में उन्हें अधिक दोष ज्ञात हुये ॥१०॥ (अतः) उन्होंने शीघ्र शुभ मूहूर्त और शुभ योग में विधि पूर्वक (बालक) उपाध्याय को समर्पित किये ॥११॥ इसके पश्चात् बहु ज्ञान के भण्डार उपाध्याय ने बालकों को ग्रहण करके यश-श्री की कामना से (पढ़ाया) ॥१२॥

घत्ता—उन्होंने अ इ आदि समस्त स्वर, कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग और पवर्ग, समस्त छन्द, अक्षर, भेद, संस्कृत और प्राकृत की विधियाँ, देशी समस्त लिपियाँ और गणित का विस्तार तथा संकोच प्रकट किये । सिखाये ॥२-३॥

[२-४]

[अमरसेन-वइरसेन का विद्याभ्यास एवं वनक्रीड़ा-वर्णन]

गुरु के द्वारा भव्य उन कुमारों को समझाये गये (काव्य के विविध) अंग-लक्षण, अलंकार, विभक्ति, लिंग, सन्धि, समास, व्याकरण और भाषा

भासा-भेइयं जाणियइं तक्कु । जिहं भमहि गयणि पुणु गहहं चक्कु ॥३॥
 गुरु दावियाइं जे परम सच्च । छह-दव्वइं पच्छइ सत्त-तच्च ॥४॥
 जाणियमर-वइरें तिण्णि वग्ग । धम्मत्थ-काम वे णय समग्ग ॥५॥
 आयम-सत्थइं मणि संत-तंत्त । भेसह अउव्व संजोय-जंत ॥६॥
 गंधव्व-गेय वर णट्ट-भेय । हय-गय-वाहण-विहि पुणु अणेय ॥७॥
 एमाइ सयल विज्जाहं कोसु । सिक्खि वि आयउ-गिहि विगय दोसु ॥८॥
 वड्ढहं ससि वीय-कलाइं वे वि । णिव-सुयणहं पुरयण इट्ठ ते वि ॥९॥
 हुव जोव्वण-सिरि-संपुण्ण-गत्त । वहु कल-विण्णाणइ सिक्खि तत्त ॥१०॥
 णिय रूवें जित्तउ मयणराउ । जिम जिण-धम्मोपरि सुद्ध भाउ ॥११॥
 गं सुहि हरि-विट्ठि वि तहु कुमार । वणकीर्लाहं णं सुहि म[अ]हि कुमार ॥१२॥
 पहु पुरयणु रंजहि अमियवाणि । खि व रज्जु-धुरंधर सुक्खखाणि ॥१३॥

घत्ता

तहं विण्णि वि भायर, गुण-रयणायर,

अमरसेणि-वइसेणि वल ।

दिणि-दिणि पिय-जणणिहं, वंदाहं पय तहं,

सत्थत्थहं विण्णि वि कुसल ॥२४॥

यत ॥ सैसवेभ्यस्त विद्याणं, जौवने विवईवणं ।

वड्ढके मुन [नि] वतीं [वृत्ति] नां, योगिनां ते तनुत्थजां ॥१॥

विद्या [विद्व] त्वं च नृपत्वं च, नैवतुल्यं कदाचि (च) नः,

स्वदेसे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूजयेत् (पूज्यते) ॥२॥

॥गाहा॥ णव जोव्वण अइरूवं, विण्णि वि कंदप्प समउ विहि रइयं ।

पउमिणि मणिहियहारा, णिम्माविया वे विहि कुमार ॥३॥

[२-५]

णिय विण्णाणें रंजेहि लोय । सुहि अच्छहि विण्णि वि अरि-अजेय ॥१॥

एत्थंतरि णिय माय सवित्तिहं । णखइ-पाण-पियारी-पत्तिहं ॥२॥

के अनेक भेद, तर्क वैसे ही प्राप्त हो गये जैसे आकाश में घूमने के पश्चात् चक्र चक्री को प्राप्त हो जाता है ॥१-३॥ गुरु ने परम सत्य, छह द्रव्य और इसके पश्चात् सात तत्त्व बतलाये ॥४॥ अमरसेन और वडरसेन धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गों तथा दोनों नय समग्रतः जानकर आगम, शास्त्र, षणि, मंत्र, तंत्र, अपूर्व औषधियाँ, उनके अनुपात, अंत्र, गन्धर्व, गीत, नृत्य-भेद, अश्व-गज आदि अनेक वाहन-विधियाँ और सम्पूर्ण निर्दोष विद्याकोश सीख करके घर आये ॥५-८॥ राजा और स्वजन तथा पुरजनों को प्रिय वे दोनों दोज के चन्द्रमा की कलाओं के समान बढ़ते हैं ॥९॥ यौवन-श्री से शरीर सम्पन्न होने पर वहाँ बहु प्रकार की कला और विज्ञान सीखकर उन दोनों के द्वारा अपने देह-सौन्दर्य से कामदेव वैसे ही जीत लिया गया जैसे जैनधर्म में शुद्ध भावों से काम को जीत लिया जाता है ॥१०-११॥ वे दोनों कुमार घोड़ों पर बैठकर सुखपूर्वक वनक्रीड़ा को जाते हुए ऐसे लगते हैं मानों नागकुमार ही जा रहे हों ॥१२॥ राजा के राज्य रूपी धुरों को धारण करनेवाले, सुख की खदान वे दोनों राजकुमार राजा और नगर-वासियों का अमृतोपम-मीठी वाणी से अनुरंजन करते हैं ॥१३॥

धत्ता—वहाँ शास्त्रों के अर्थ की व्याख्या करने में कुशल, गुण-रत्नाकर अमरसेन और वडरसेन दोनों पराक्रमी भाई प्रतिदिन माता-पिता के चरणों में वन्दना करते हैं ॥२-४॥

क्योंकि कहा है—शैशव अवस्था में विद्याभ्यास, यौवन में विषय-भोग, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति तथा अन्त में योगी के समान शरीर का त्याग करे ॥१॥

विद्वान् और राजा की कभी तुलना नहीं की जा सकती । राजा अपने देश में ही पूजा जाता है (जबकि) विद्वान् सर्वत्र सम्मान पाता है ॥२॥

॥ गाथा ॥ विधाता के द्वारा नये यौवन और महान् रूप-सौन्दर्य से कामदेव के समान रचे गये वे दोनों कुमार स्त्रियों के मन में हिये के हार स्वरूप निर्मित किये गये थे ॥३॥

[२-५]

[गजपुर की रानी देवश्री का अमरसेन-वडरसेन को मारने का माया जाल तथा राजा देवदत्त का रानी को सान्त्वना देना]

शत्रुओं को अजेय वे दोनों कुमार निज ज्ञान से जन-जन का अनुरंजन करते हैं और सुख पूर्वक रहते हैं ॥१॥ इसी बीच राजा की प्राणों से अधिक प्रिय एवं विश्वासपात्र अपनी सौतेली माता के द्वारा कुमारों का पराक्रम

जोइ वि कुमरहं तेउ पराकमु । णउ सहि सक्कइ दुट्ठी विक्कमु ॥३॥
 चित्तइ दुट्ठी एय दो भायर । मारावमि णिव-पास दुहायर ॥४॥
 किचि दोसु इणि अलिउ पयासउ । रूसइ ण रदइ वेयं इणिसउ ॥५॥
 इणि अग्गइ-महु सुय किं किज्जहिं । जिउ सुज्जगइ-तेय पयंगहि ॥६॥
 इणि तेयं कहु उप्पम दिज्जइ । अइवलबंडइं सक्क ण पुज्जइ ॥७॥
 यउ चित्ति वि अच्छइ घर संचित । कुमरहं दुह-सल्लिय दुक्खपत्त ॥८॥
 इत्थंतरि सूरसेणु गउ सेवहिं । संपत्तउ गजपुर-णिव-केरहिं ॥९॥
 तहं केर करि वि पहु आउ घरि । तह दुट्ठ-धरणि मणि सल्लु सरि ॥१०॥
 स[सु]त्तुय सिज्जासणि मउण लए । णउ वोळइ पिच्छइ कहु ण तए ॥११॥
 तहिं अवसरि राणउ गिहि पइट्ठु । णउजोवइणिय पिय-पाण इट्ठु ॥१२॥
 रइ-थाणि ण दिट्ठी अलिउखाणि । तहिं बुज्झि वि गउ जिहं थिय अयाणि ॥१३॥
 तहिं पास वइट्ठउ रहसचित्तु । उट्ठावइ कर-गहि कहि हियत्तु ॥१४॥
 कें कारणि सुत्ती रूसि देवि । जो तुह दुहयालउ हणउ सो वि ॥१५॥
 णउ उत्तरु किंपिण देइ तहु । हुय वंकी मउणइं भणइ णहु ॥१६॥
 पुणु वार-वार पहु विण्णवेइं । लल्लिक्खरेण तहु मणु-हरेइ ॥१७॥
 कह-कहव मणाविय पय-पडेवि । वयणहं वि रयणा-संघडे वि ॥१८॥

घत्ता

अक्ख हे महु राणी, पहुह पहाणी,
 णिय-णिय परिहउ सिग्घु महु ।
 जो तुज्झुण भावइं, बहु दुह-दावइं,
 हणइ तुरंतउ वइरि-तुहुं ॥२-५॥

[२-६]

तं सुणि विणइं णिसुणि परमेसर । जहिं दिण केर गयउ महु मणहर ॥१॥
 गजपुरणयर-साभि-पासह वर । तहिं दिण लग्गिय ते पावह घर ॥२॥
 अमरसेणि-वइसेणि दुहंकुर । अइ वंकाणण-वयण विणिद्धुर ॥३॥
 खंडणु सीलु मज्झु रयणु वरु । णउ मण्णहि तुह संक सुयण णिरु ॥४॥

देखा गया। वह दुष्टा उन कुमारों के पराक्रम को सहन नहीं कर पाती है ॥२-३॥ दुष्टा दोनों भाइयों के करोंत से दो टुकड़े कराकर राजा से मरवाने का विचार करती है ॥४॥ इन पर उसने मिथ्या दोष लगाया और शीघ्र इनसे वह रूस जाती है, खाना नहीं खाती है ॥५॥ वह विचारती है जैसे सूर्य की तेज गर्त के आगे पतंगे क्या कर सकते हैं ऐसे ही इन कुमारों के आगे मेरा पुत्र क्या कर सकता है ॥६॥ अति बलशालियों को इन्द्र पूजता है। इनके तेज की किससे उपमा की जाय ॥७॥ ऐसा विचार कर कुमारों के दुःख देने की शल्य के दुःख से दुःखी वह संचित घर में बैठ जाती है ॥८॥ इसी बीच सूरसेण गजपुर-नरेश की सेवा में गया और नरेश की क्रीड़ा में पहुँचा ॥९॥ वहाँ राजा (देवदत्त) क्रीड़ा करके घर आया। दुष्ट रानी स्मरण करके शल्य मन में धारण कर लेती है ॥१०॥ मौन लेकर वह सेज पर सो गयी, न किसी से बोलती है न देखती है ॥११॥ उसी समय राजा ने घर में प्रवेश किया। वह अपनी प्राणप्रिय प्रिया नहीं देखता है ॥१२॥ मिथ्याभाषण की खदान वह रानी रति-स्थान में (भी उसे) दिखाई नहीं दी। वह मूर्खा जहाँ बैठी थी राजा पूछकर वहाँ गया ॥१३॥ हर्षित चित्त से उसके पास बैठ गया। (वह) हृदय की बात कहने को कहकर हाथ पकड़कर उठाता है ॥१४॥ पूछता है—हे देवी ! किस कारण से रूस कर सोयी हो ? जो तुझे दुःखकर हो उसी का वध करूँ ॥१५॥ वह उसे कुछ भी उत्तर नहीं देती है। मौन रहते हुए करवट बदल लेती है, बोलती नहीं ॥१६॥ इसके पश्चात् राजा बार-बार विनय करता है, उसके मन को अच्छे लगनेवाले ललित अक्षरों से कथाएँ कहकर, रत्नाभूषण बनवाने का वचन देकर मनाते हुए (उसके) पैरों में गिरता है। पैर पड़ता है ॥१७-१८॥

घत्ता—हे मेरी प्रधान रानी ! जो तुझे अच्छा न लगता हो, बहुत दुःख देता हो, जो तुम्हारा शत्रु हो उस अपने प्रतिघाती को मुझे शीघ्र बताओ, तत्काल उसे मारता हूँ ॥२-५॥

[२-६]

[अमरसेन-वइरसेन के सिर-भंजन की राजाज्ञा-वर्णन]

उस राजा की विनय सुनकर (रानी कहती है)—हे राजा ! सुनिये। जिस दिन गजपुर नगर से (आप) स्वामी के पास गये उसी दिन आपके घर आग लग गयी ॥१-२॥ अमरसेन वइरसेन के मुख से निकली वाणी अति वक्र तथा दुःख जनक और कम्पन उत्पन्न करनेवाली है ॥३॥ मेरे शील

अइ पर्यं [डु] लुट्टहि तुव पट्टण । हट्टहि हरि-चडि कीरहि उववण ॥५॥
 कहव कहव महु सीलु ण खंडिउ । रक्खिउ मइ णिय सीलु अभंगउ ॥६॥
 तं सुणेवि पट्टु कूरह रुट्टउ । णउ जाणइ पवंचु पिय झुट्टउ ॥७॥
 हक्कारि वि मायंग रउद्दइं । कुमरहं मारणत्थ खल-खुद्दइं ॥८॥
 रे मायंगहु पर-तिय-सत्तहं । अमरसेणि वहरसेणि कुपुत्तहं ॥९॥
 मारहु वेएँ महुण चिरावहु । विण्णिवि सिर-खुडि महु दिक्खावहु ॥१०॥
 चित्तहं मणि मायंग सुणेप्पिणु । णिम्मल सील कुमर स लहइ जणु ॥११॥
 तं कहिग्घाय जहि दोस-चुय । पुरयण सुहयाणइं लंव-भुय ॥१२॥

घत्ता

णिव रज्जहि मंडण, अरि-सिर-खंडण, बुद्धर अइतरणं अमर ।
 दुहियह-दुहखंडणु, रोर वि हंडणु, इणि सरिसुरु-णर अच्छि धरा ॥२-६॥ ।

उक्तं च—

काके सौच्यं दूतकारेषु सत्यं, क्लीवे धैर्यं मद्यपे तत्त-चिता ।

सर्पे क्षांति स्त्री कामेपि सांति, राजा मित्रं केन वृष्टं श्रुतं वा ॥छ॥

[२-७]

पुणु [स] जंपइ पुणु मायंगहि । रे कि चित्तहु रहहु म इत्तहि ॥१॥
 हरि-चडि कुमर गए णंदण वण । कीलहि पावकम्म रंजहि जण ॥२॥
 मारहु वेइ जाइ महु परिहउ । महु कुल अवजस-दिण्णउ पडहउ ॥३॥
 गइय सव्व मायंगइं ते वणि । दिट्टइ णिव-णंदण सुच्छमणि ॥४॥
 पुणु पुणु चित्तहं मायंग तहि । किं राउ-गहिल्लउ हुवउ मणि ॥५॥
 णिय तेएँ जित्तउ जेण इणि । ॥६॥
 सुव रज्ज-धुरंधर सुगइ-पंथ । तं किह दिज्जहि हसि मारणत्थ ॥७॥
 अह हंमह देस-णियालु देइ । णउ जुज्जइ रायहं सुव-वहेइ ॥८॥
 णउ धार्याहं विण्णि वि णिव-रयणु । जइ रक्खइसु णिपट्टु कहु वयणु ॥९॥
 ते फिरि वि समायइसु किय घरि । अच्छे ते रयणि सच्चित भरि ॥१०॥

रूपी रत्न के खण्डन में ये न तुम्हारी शंका मानते हैं न निश्चय से स्वजनों की ॥४॥ ये प्रचंड हैं, आपके नगर के बाजार को लूटते हैं, (इस समय) घोड़ों पर सवार होकर उपवन में क्रीड़ा कर रहे हैं ॥५॥ शील खण्डित न करने को बार-बार कह-कह करके ही मैंने अपना शील अभंग रखा है ॥६॥ ऐसा सुनकर क्रूर राजा रूठ गया । वह प्रिया के झूठे प्रपंच को नहीं समझता है ॥७॥ वह कुमारों को मारने के लिए भयावने, दुष्ट, क्षुद्र मातंग को चिल्लाकर बुलाता है और (कहता है) हे मातंग ! परस्त्री में वासक्त कुपुत्र अमरसेन और वदरसेन को शीघ्र मार डालो, देर मत लगाओ, दोनों के सिर काटकर मुझे दिखाओ ॥८-१०॥ ऐसा सुनकर मातंग मन में विचारता है कि निर्मल शीलवन्त, निर्दोष, पुरजनों के सुखकारी, दीर्घबाहु कुमारों को पाकर कैसे घातूँ, कैसे उनका वध करूँ ॥११-१२॥

घत्ता—अमरसेन राजा के राज्य का आभूषण, शत्रु के सिर का खंडन करनेवाला, कठिन (भव-सागर से) बिना नौका के पार होनेवाला, दुखियों के दुःख को मेटनेवाला, दरिद्रता का नाशक है । इसके समान पृथिवी पर देव या मनुष्य (कोई नहीं) है ॥२-६॥

कहा भी है—कौए में शुचिता, जुये में सत्य, नपुंसक में धैर्य, मद्यपान में तत्त्व-चिन्तन, सर्प में क्षमा, स्त्रियों की काम-वासना में शान्ति, और राजा में मित्रता किसने देखी अथवा सुनी है ॥६॥

[२-७]

[कुमार-घात सम्बन्धी मातंग-चिन्तन-वर्णन]

वह राजा बार-बार मातंग से कहता है—हे मातंग ! क्या सोच रहे हो, यहाँ मत रहो ॥१॥ लोगों का मनोरंजन करनेवाले पापकर्मी वे कुमार क्रीड़ा करने घोड़ों पर चढ़कर नन्दन-वन गये हैं ॥२॥ शीघ्र जाकर मेरे कुल को अपयश देने में लगे हुए (कुमारों को) मेरी श्याम लगी लकड़ी मारो ॥३॥ वे सभी मातंग वन गये । (उन्हें) राजपुत्र स्वच्छ हृदय दिखाई देते हैं ॥४॥ वे मातंग वहाँ बार-बार मनमें विचारते हैं कि क्या राजा भ्रान्तचित्त-पागल हो गया है ॥५॥ निज तेज से जिनके द्वारा सूर्य जीत लिया गया है, राज्य-भार को धारण करनेवाले, सुगति (मोक्ष) के वे पथिक राजकुमार हमें मारने के लिए क्यों देते हैं ? ॥६-७॥ अथवा (राजा) हमें (भले ही) देश से निकाल दे किन्तु राजा के पुत्रों को वध के कार्य में नहीं लगाऊँ ॥८॥ राजा के दोनों रत्न नहीं घातते हैं । यदि राजा का वचन रखते हैं तो वे कुमार लौटकर घर कैसे आ सकते हैं ।

दिणु उग्गइ पुणु णिव-आण लेवि । णउ रक्खिय वेड्ढिय जाइ ते वि ॥११॥
 णिव-णंदणवण ह्य-रूढ राय । कीडंति सुच्छ रह सेण-भाय ॥१२॥
 तो भणहि चंड भो कुमर-भाय । तुम मारण पेसिय हम्म राय ॥१३॥
 तुम अलिउ कलंकु सुणेवि आय । इव सुमरहु णिय मणि वीयराय ॥१४॥
 तुम मरणावत्थहं सुगइ-दाय । सरलं गुलि सोहिय पाणि-पाय ॥१५॥
 तिणु वयणु सुणेप्पिणु रायपुत्त । हम किं किउ पहु अवराहु इत्त ॥१६॥

घत्ता

णउ किउ पहु भल्लउ, वयणु अमुल्लउ, णिकज्जे पहु कुविउ हमि ।
 णउ हियइ वियारिउ, दोसु हमारउ, किं लग्गइ अह णत्थि किमि ॥२-७॥
 उक्तं च—

भोगिनः कंचुकासक्त्या क्रूरा कुटिलगामिणी,
 दुःखैर्सापिणी यत्था, राजा च भुजंगवत् ॥१॥
 मणि मंत्रौषधी स्वस्थ, सर्व्व [र्ष] दग्धं विलोकितः ।
 नृपद्रष्टिविधे दग्धं, न द्रष्टा पुनरुत्थितः ॥२॥

[२-८]

परसप्पर जंपहिं वे वि भाय । भो वंधव भयि जाणिउं स राय ॥१॥
 णउ रायदोसु णिच्चइ मुणेहिं । विरमायहि किउ हमि अस्स हेहिं ॥२॥
 णउ माय-पियरइ व होइ दोसु । परिणवइ स (सु) हा सुहु कम्म घोसु ॥३॥
 किय कम्महं अग्गइच्छुट्ठि णत्थि । हंडइ जिम सत्थहं जु लिउ मत्थि ॥४॥
 भो चंड-यम्म इम करहु झत्ति । हम खंडहु सिर णिव करहु संति ॥५॥
 तं सुणि मार्यंगह दयह भाउ । उप्पणउ कुमरह भणहि भेउ ॥६॥
 जइ णिय-पुरु-चइ वि जाहु विएसहं । जइ तुम-णाउ ण स्रणइ प्हत्तहं ॥७॥

इस प्रकार वे रात्रि में विचार करते हुए सो जाते हैं ॥९-१०॥ सूर्योदय होने पर पुनः राजा की आज्ञा लेकर भी जाकर (वन में जाकर) उन्होंने (राजकुमारों को) वाड़ी के भीतर बन्द नहीं रखा ॥११॥ अमरसेन और वडरसेन दोनों भाई राजा के घोड़ों पर चढ़कर राजा के नन्दन वन में स्वच्छन्द रहकर क्रीड़ा करते हैं ॥१२॥ तब चाण्डाल कहते हैं—हे कुमार भाइयों ! राजा के द्वारा हम तुम लोगों को मारने के लिए भेजे गये हैं ॥१३॥ तुम्हारे झूठे कलंक को सुनकर (हम) आये हैं । अब अपने मन में वीतराग देव का स्मरण करो ॥१४॥ मरणकाल में तुम्हारे हाथ और पैरों की सुशोभित अँगुलियों की सरलता सुगति की देनेवाली है ॥१५॥ उनके वचन सुनकर राजपुत्रों ने कहा—यहाँ हमने राजा का क्या अपराध किया है ॥१६॥

वृत्ता—राजा ने भला नहीं किया । निष्कारण राजा बहुमूल्य वचन (कहकर) हम पर कुपित हुए । हमारा दोष हृदय में नहीं विचारा । मारने के लिए क्या (हम) कृमि प्रतीत होते हैं ॥२-७॥

कहा भी है—राजा सर्प के समान और दुःखां से रानी क्रूर और टेड़ी-मड़ी चाल चलने वाली तथा सर्प की कांचुली में आसक्त सर्पिणी के समान है । सर्पा प्रकार से दग्ध जीव या सर्प-दंश से दग्ध मणि-मंत्र आदि औषधियों से स्वस्थ देखा गया है किन्तु राजा के दृष्टि-विष से दग्ध को पुनः उठते (विकास करते) नहीं देखा गया ॥१-२॥

[२-८]

[अमरसेन-वडरसेन का कर्म-फल-चिन्तन, तथा उन्हें जीवित रहने देने का मातंग-चिन्तित उपाय-वर्णन]

वे दोनों भाई परस्पर में कहते हैं हे भाई ! मेरे द्वारा वह राजा जाना जाता है (मैं राजा को जानता हूँ) ॥१॥ निश्चय से राजा का दोष नहीं जानो । हमें क्यों रोक कर विरमाया जा रहा है । घोड़े हिन-हिना रहे हैं ॥२॥ माता अथवा पिता का दोष नहीं होता है । (यह तो) शुभ और अशुभ कर्मों का परिणामन कहा है ॥३॥ पूर्वोपाजित कर्म छूटते नहीं । जैसे भाल में साथ लिये है (उन्हीं के अनुसार जीव) संसार भ्रमण करता है ॥४॥ हे यम चाण्डाल ! राजा की शान्ति करो, हमारे सिर के टुकड़े-टुकड़े करो, अब शीघ्रता करो ॥५॥ ऐसा सुनकर चाण्डालों के दया भाव उत्पन्न हुआ । वे कुमारों से गुप्त बातें कहते हैं ॥६॥ यदि अपने नगर को

तउच्छंडहि इव लहु तुम कुमरहं । मण्णउ णिव-सुव-वयणु चंडालहं ॥८॥
 गय कुमर [वि]पडि सिर-लेप कित्तु । कुण्डल-समउल-रुहिरेण लित्तु ॥९॥
 पहु-अग्गइ थाइ वि णइ-सिरेण । ए आणिय वे सिर तुम-भणेण ॥१०॥
 एविच्छहि तुव सुव तुव-अणिट्ठ । ए हयवर विण्णि वि लेहि सुट्ठ ॥११॥
 तं जोइ वि णरवइ भणिय चंड । पुर-वाहिर लेप्पिणु जाहु मुं ॥१२॥
 थाइज्जहु सूरिय उवरि वे वि । जं पुरयणु जोवहि आइ ते वि ॥१३॥

घत्ता

तहं लेप्पिणु तुंडइ, वेयं चंडइ, धरियइ सूरिय-उवरि तहिं ।
 तहं सुणि णिव पत्तिहिं, कुमर-मरणु तहिं, रहसिय अंगि ण माइ काहिं ॥२-८॥

[२-९]

विजयादे रोवइ भुव हसोय । हा णरवइ किं किउ पइइ-हेय ॥१॥
 णउ याणउ जुचाजुत्त देव । दुट्ठिं सुणि वयणइ णिव हसेव ॥२॥
 णिद्दोस अकज्जे किरण-तेय । मारादिय णंदण रणि अजेय ॥३॥
 हा हाइ वदइय मइ कियउ तुज्झु । इव मणह-मणोरह पुज्ज तुज्झु ॥४॥
 तहं ख्यणु सुणेप्पिणु अइस दुक्ख । रोवंति भव्व तिरयंच-पक्ख ॥५॥
 भव्वहं संबोहिय णिवह पत्ति । अच्छइ सुव-सोय-विओय-अत्ति ॥६॥
 सुहि अच्छइ णरवइ णिय पुरोहिं । भुंजेइ वि रइसुहु रइ-समेहिं ॥७॥
 तं सुणि देवरायहं सुच्छ कहा । काहि कुमरह गइ काहि भइय वुहा ॥८॥
 किं मुय किं जीवहि सीलणिंहि । काहिं संपत्तइ-पुर-राय-दुहिं ॥९॥
 तं णिसुणि भणइ वुहु सुणांहि भव्वु । भो देवराय णिव णि वहु थुव्वु ॥१०॥
 इत्थंतरि कुमर वि णिव-सभए । णट्ठ इणिव-पाण लए वि गए ॥११॥
 वहु भूमि वइ वि गय वणि-गाहणि । जहिं कुल-कुलंति तरु वरस वणि ॥१२॥
 जहि मणुव ण दीसइ सउण तहिं । अइ सघणइ तण-अंकुर वि जहिं ॥१३॥

छोड़कर विदेश-ऐसे स्थान में जाओ जहाँ राजा तुम्हारा नाम न सुने तो तुम कुमारों को अभी शीघ्र छोड़ देते हैं। राजपुत्र चाण्डालों के वचन मान कर चले गये ॥७-८॥ कुमारों की प्रतिमाओं के सिर कुण्डलों सहित रक्षिण से लित करके राजा के आगे रखकर विनत सिर से (चाण्डालों ने कहा— हे राजन् !) तुम्हारे द्वारा कहे गये तुम्हारे लिए अनिष्ट तुम्हारे दोनों पुत्रों के ये सिर तुम्हारी इच्छानुसार लाये गये हैं। ये दोनों श्रेष्ठ अश्व हैं, भली प्रकार ग्रहण करो ॥१२-१३॥ उन्हें (पुत्रों के सिर) देखकर राजा ने चाण्डालों से कहा—फिर मुण्ड लेकर नगर के बाहर जाओ और सूर्य (प्रतिमा) के ऊपर दोनों स्थापित करो जिससे कि नगरवासी आकर उन्हें भी देखें ॥१२-१३॥

धत्ता—चाण्डाल शीघ्र फिर मुण्ड लेकर वहाँ सूर्य (प्रतिमा)के ऊपर स्थापित कर देते हैं। कुमारों का मरण सुनकर राजा की पत्नी के अंगों में हर्ष कहीं नहीं समाता है ॥२-८॥

[२-९]

[विजयादेवी का पुत्र-शोक और कुमारों का वन-गमन-वर्णन]

राजा (देवदत्त) हँसता है और विजयादेवी रोती है (और कहती है कि) हे राजन् ! प्रजा के लिए तूने यह क्या किया ? ॥१॥ हे स्वामी ! तूने उचित-अनुचित नहीं जाना। रानी के वचन सुनकर दुष्ट राजा हँसा ॥२॥ (रानी कहती है—) निर्दोष, युद्ध में अजेय और सूर्य किरण के समान तेजवान् कुमारों को अकारण मरवाकर आपने मेरी हाय हाय वदी की जबकि मैंने तुम्हारे मन के मनोरथों की पूर्ति की ॥३-४॥ उसका रुदन सुनकर अति दुखी भव्य जन, तिर्यच और पक्षी रोने लगते हैं ॥५॥ भव्य जनों ने रानी को सम्बोधा कि पुत्र शोक से वियोग का दुःख अच्छा होता है ॥६॥ राजा अपने नगर में सुखपूर्वक रहता है और रति के समान रति-सुख भोगता है ॥७॥ ऐसा सुनकर राजा के द्वारा मतिमान् से पूछा गया कि स्वेच्छानुसार कुमार कहाँ गये (उनका) क्या हुआ ? ॥८॥ राजा को दुःख देने-वाले शील को निधि वे नगर से कहाँ चले गये ? क्या मर गये (या) क्या जीते हैं ॥९॥ ऐसा सुनकर बुद्धिमान कहता है—हे भव्य देवदत्त राजा सुनिये स्तुति करो कि वध न हुआ हो ॥१०॥ इसी बीच राजा के भय से सूर्य के समान तेजवान् वे कुमार भी प्राण बचाकर भाग गये ॥११॥ भूमि पर बहुत चलने के पश्चात् वे ऐसे गहन वन में गये जहाँ वन में वृक्ष अपने कुल को बढ़ाते हैं ॥१२॥ जहाँ मनुष्य दिखाई नहीं देते, पक्षी ही दिखाई देते

जहि गुंजहिं सीह-भयंकराईं । दंतिय-चिक्कारहिं कइ घणाईं ॥१४॥
 जहिं फे करंति साओ भमंति । वहु कोल वसुह पुणु-पुणु खणंति ॥१५॥
 कउसिय सइइं घू-घू करंत । वाइसइं सइ तत्थइं करंत ॥१६॥
 सददूल-सीह-चित्ताइ-रोज्झ । गइडे-संवर-मिय-महिस वुज्झ ॥१७॥
 लउगा-मज्जारइं-सेहि-कुंज्झ । अइ दुट्ट जीव जे मणि-विरुज्झ ॥१८॥
 कत्थइं हरिणहं हरि हारयंति । णउलाइ-सप्प संगरु करंति ॥१९॥
 जहिं भूय-पिसायइं संचरंति । डाइणि साइणि जोयणि भमंति ॥२०॥
 जहिं जमु संकइ गच्छंत एण । किं मणुय ण मरहि सरं तएण ॥२१॥
 ते हइ-संकडि-वणि पुण्ण-जोइं । सहयारु वरु वि दिट्टउ बुमोइ ॥२२॥
 तहु तडि वीसमियइं पंथरीण । वहुच्छुह-निसयाइ वि गतखीण ॥२३॥
 ते जाणहिं गच्छहिं भूमि भाय । ते पय चालहिं णं कु वियराय ॥२४॥
 संसारु-असारु वि मणि मुणेहु । हो लोय हो पुण्णासउ करेहु ॥२५॥
 जि पावहु सासय-पउ वि सारु । ण वि जोयहु जें भव दुहह भारु ॥२६॥

घत्ता

ते भायर, सच्च कयायर, मुज्जोत्थ वणि संठिय ।

ण वि चीरु वि कंवलु, णउ तहं संवलु, किप संण्णास विगंठिया ॥२-९॥

[२-१०]

वइसेणि भणिउं सुणि अमरसेणि । पहु रुट्टउ हमकज्जेण केणि ॥१॥
 विणु अवरहिं णिव किउ(किं)अजुत्तु । णउ जाणिउं जुत्ताजुत्तु तत्तु ॥२॥
 तं सुणि वि पउत्तउ अमरसेणि । भो वंधव विडमायहि वयणि ॥३॥
 अण्णहु ण कासु णियमेण मुणि । तं णिसुणि चवइ लहु वइरसेणि ॥४॥
 जं माइ अलीकइ कज्जु भणइं । तं पहु जण णिदिउ कि कुणइं ॥५॥
 भो वंधव उं तिय लज्ज-चत्त । किं किं ण भर्णाहिं सुइरि णिय भत्त ॥६॥
 जिह चिरु जसहरु कुज्जय णिमित्तु । राणिय मारिउ दिव कंठ घित्तु ॥७॥
 मरिऊण सत्तगइ जोणि पत्तु । पुणु किय सुकम्म देवत्त पत्तु ॥८॥

हैं, जहाँ अति घने तृणों के अंकुर भी हैं ॥१३॥ जहाँ सिंह गरजते हैं, हाथी बादलों के समान चिक्कारते/दहाड़ते हैं ॥१४॥ जहाँ फे फे करते हुए सुना कुत्ते घूमते हैं, वराह बार-बार पृथिवी खोदते हैं ॥१५॥ उल्लू, घू-घू शब्द करते हैं, कौए वहाँ बोलते हैं ॥१६॥ शार्दूल, सिंह, चीता, रोज, गेंडा, साँवर, मृग, भैंसा, लीमड़ी, विलाव, सेही, हाथी, रोछ आदि जहाँ मन के विरुद्ध कार्य करनेवाले अति दुष्ट जीव हैं ॥१७-१८॥ कहीं सिंह हरिण पकड़ते हैं, कहीं वहाँ न्योले सर्प से युद्ध करते हैं ॥१९॥ जहाँ भूत-पिशाच संचरण करते हैं, डाकिनी, शाकिनी और जोगिनी ऋमण करती हैं ॥२०॥ जहाँ यम भी जाते हुए शंका करता है, काले हिरण-मनुष्य के वाण से मरने की आशंका करते हैं ॥२१॥ ऐसे संकटपूर्ण वन में उन्हें पुण्य-योग से एक आम्र वृक्ष दिखाई दिया ॥२२॥ क्षुधा (भूख) तृषा (पिपासा) से क्षीण काय वे पथिक उस वृक्ष के किनारे विश्राम करते हैं ॥२३॥ वे दोनों भाई वाहन से भूमि पर ऐसे जाते हैं जैसे वीतरागी पैदल भूमि पर चलते हैं ॥२४॥ मन में संसार को असार जानकर लोभ करते हो तो पुण्याश्रव का करो जिससे कि सार स्वरूप शाश्वत-पद (मोक्ष) प्राप्त हो और जिससे संसार के दुःख रूपी बोझे का संयोग न हो ॥२५-२६॥

घत्ता—वस्त्र, कम्बल और सम्बल से रहित, सत्य के क्रेता वे दोनों भाई निर्ग्रन्थ होकर संन्यास धारण करके सूर्योदय होने तक वन में स्थित रहे ॥२-९॥

[२-१०]

[रानी देवश्री की कुटिलता के सन्दर्भ में अमरसेन-वडरसेन का पारस्परिक ऊहापोह]

वडरसेन ने कहा हे भाई अमरसेन सुनो—राजा हमारे किस कार्य से रुष्ट हुआ ॥१॥ वहाँ राजा ने बिना अपराध के अयोग्य कार्य क्यों किया । (उन्होंने) उचित और अनुचित नहीं जाना ॥२॥ ऐसा सुनकर अमरसेन ने उत्तर दिया हे भाई ! दुराचारिणो माता के वचन नियम किसी दूसरे के द्वारा समझे नहीं गये । ऐसा सुनकर छोटा भाई वडरसेन कहता है ॥३-४॥ जो माता राजा को मिथ्या कार्य कहती है लोगों ने उसकी कुनीति की क्या निन्दा की ॥५॥ हे भाई ! जो स्त्री लज्जा विहीन होती है (वह) स्वेच्छाचारिणी अपने भर्तार से क्या क्या नहीं कहती है ? ॥६॥ जैसे वामन पुरुष के निमित्त चिरकाल तक जीवित रहनेवाले यशोधर (राजा) को रानी ने गला पकड़ कर (दबा कर) मारा और स्वयं मरकर छठे नरक को प्राप्त हुई । इसके

रत्ता देविए पंगु णिमित्तु । तं तिय वेढि वि णिउसु दहि घित्तु ॥९॥

घत्ता

मणुवह मण-मोहणि, सुगइ-णिरोहणि, दुच्चारणि णीएहि रया ।
णेहंधण राहं, तं रत्ताहं, कि ण करहि रइ-लुद्ध धुय ॥२-१०॥
उक्तं च—

गंगाए वालुयमि सायरजलहं नैव परिमाणं ।

जाणंति बुद्धिवंता, महिलाचरियं न जानंति ॥ छ ॥

[२-११]

इयतं सुणे वि लहु वंधवेहि । हंमहं उवयारणि णेम एहि ॥१॥
सावत्तिय मायरि होइ सुहि । जं एव पसायहि जुवहि महि ॥२॥
पुर-पट्टण दीसहिं गाम जणि । वंदेसहि जिणु गुरु झुणहि सुणि ॥३॥
पिच्छज्जइ बहु विहु चरिउ महि । दुज्जण-सज्जण किउ मुणहिं तहि ॥४॥
तहं काल विडंविद्य रयणि तत्थ । तरु दुण्णिहु णिइस माय सुत्थ ॥५॥
वइसेणु पहरुवा भयउ रवख । इत्थंतरि सहकारेहिं विवख ॥६॥
जवखु वि जविखणिते वसहि सार । सुह कीर रुवि णिज्जि णिय मार ॥७॥
कीडा णिमित्त ते भाय विट्ट । अइ रुववंत सोहग्ग इट्ट ॥८॥
ता कीरि-पिया णिय कीरु वुत्त । ए गरुव-मणुव जुइराय जुत्त ॥९॥
इणि किज्जइ बहु विह भत्ति तत्तु । ॥१०॥
धम्मत्थ-काजि पिय सुगय-हेय । संपज्जइ सुर-णर-पउ तहेय ॥११॥
पंक्खिहि सुभाउ धम्मत्थ हूउ । अतिथिहिं करि पिय दाण-हेउ ॥१२॥
तं णिसुणि कीरु सुणि कीरि पिए । णउ अत्थि दव्वु हम पास धुए ॥१३॥
उवयारु करउ हउ इणु भव्वु । विणु दव्वं कोइ न करइ गव्वु ॥१४॥
उवयारं उवयारु करंतहं । सव्वइं कोइ करइ णिवभंतह ॥१५॥
जं किज्जइ तं अद्वगुणु करेइ । तं विरलउ जणणी जणइं लोइ ॥१६॥
अतिथिहिं परवादी णिच्चएण । विण्णि वि वंधव अच्छहु सुहेण ॥१७॥

पश्चात् अच्छे कार्य करके उसने देव पर्याय प्राप्त की ॥७-८॥ रत्तादेवी ने पंगुल (माली) के निमित्त राजा को पकड़कर और उसे घेरकर जलाया (था) ॥१०॥

घत्ता—मनुष्यों के मन को मोहनेवाली, सुगति की निरोधिनी दुरा-चारिणी वह रक्तादेवी स्नेह से अन्धे हुए आसक्त पुरुषों के द्वारा ले जाई जाती है। निश्चय से रति के लोभी क्या नहीं करते हैं ॥२-१०॥

कहा भा है—गंगा की बालू और समुद्र जल का कोई परिमाण नहीं है तो भी बुद्धिमान् (उसे) जानते हैं किन्तु महिलाओं के चरित्र को नहीं जानते हैं ॥छ॥

[२-११]

[अमरसेन-वइरसेन के सम्बन्ध में यक्ष-दम्पति के विचार]

इस प्रकार अमरसेन को सुनकर वइरसेन उनके कथन का अनुगमन करते हुए कहता है—नियम से यहाँ जिसकी कृपा से हम दोनों पृथिवी पर सुखी हैं वह सौतेली माता हमारी उपकारिणी है ॥१-२॥ नगर और ग्राम के लोगों को देखते हो, जिनेन्द्र की वन्दना करें, गुरु को ध्वनि / उप-देश सुनो ॥३॥ पृथिवी पर दुर्जनों और सज्जनों के द्वारा आचरित विविध चरित्र को देखें और जानें/समझें ॥४॥ वहाँ वृक्ष (के नीचे) दोनों ने रात्रि में विश्राम किया। दोनों को भली प्रकार से नींद आई ॥५॥ सुरक्षा हेतु वइरसेन पहरेदार बना। इसी बीच उस आम्र वृक्ष के निवासी यक्ष और यक्षिणी तोते (इन भाइयों को देखकर) निष्कर्ष निकालते हैं कि ये दोनों भाई हैं, क्रीड़ा के लिए बैठे हैं, अत्यन्त रूपवान् हैं, भले सौन्दर्य से इन्होंने कामदेव को पराजित किया है, ये सुहावने और मन-भावन हैं ॥६-८॥ स्त्रो तोते ने अपने प्रीतम तोते से कहा—ये दोनों महान् मनुष्य हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे राजा हों ॥९॥ इनकी अनेक प्रकार से भक्ति करें ॥१०॥ धर्म के कार्य हे प्रीतम ! सुगति के हेतु हैं। उनसे मनुष्य और देव पद प्राप्त होता है ॥११॥ हे प्रीतम ! निश्चय से (ये) स्वभाव से धार्मिक हैं, अतिथि हुए हैं, (इन्हें) दान दो ॥१२॥ ऐसा सुनकर तोते ने अपनी प्रिया से कहा—हे प्रिये ! निश्चय से हमारे पास द्रव्य नहीं है ॥१३॥ मैं इन भव्य पुरुषों का उपकार करता हूँ। बिना द्रव्य के कोई (भी) अभिमान नहीं करता है ॥१४॥ उपकार करते हुए का सभी प्रकार से कोई (भी) उपकार करता है इसमें संशय नहीं है ॥१५॥ लोक में ऐसी विरली ही माता ऐसी सन्तान को जन्म देती है जो अपकारी पर भी (उपकार) करता है ॥१६॥ निश्चय

अपवाई पाउ हरेइ लहु । अतिथिहि सगसुर मज्झि पहु ॥१८॥
 विहलंवइ एवहि सो जि भव्वु । बहु आवइ पडि उद्धरइ भव्वु ॥१९॥
 सरणागय रक्खइ दिव्व चित्त । तं सुय मंडिय भुवि सुयणु भत्त ॥२०॥

घत्ता

इत्थंतरि कीरिहि, कीरु भणिउं तंहि सामिय वयणु ण भणहि इहु ।
 सुकूट पव्वहं, गुज्झहं थाणहं दुइ सहकारइ फलेइ तदा ॥११॥

[२-१२]

विज्जाहर वइयइं वे वि सुट्ठ । सहसत्तु दयालइं अंव मिट्ठ ॥१॥
 आणि वि तं दिज्जहि णिव्वियार । बहु रूवणि विज्जामय वि सार ॥२॥
 तिणि सायं सेसच्छुह विलाइ । सुहु हवइ वि पुण्णं किण्ण होइ ॥३॥
 तं समयहि खेयर एय राय । पुच्छिउ विज्जाहर विणय वाय ॥४॥
 सहकारह कहि गुणु महु निरत्तु । मण संसउ फेइहि एव तत्तु ॥५॥
 संपज्जइ महु सुहु हियइ तत्तु । तं णिसुणि वि खेयर वीउ वुत्तु ॥६॥
 लहु विक्खहं फलु सायइ पवित्तु । जव लगि रहेइ उरि णरहं भत्त [त्तु] ॥७॥
 दिण दिण णियदंतहं धुवइ जाम । कुव्वंतु करुडा पुहमि ताम ॥८॥
 उगिलइ पंच सइ [र] रुयण वेइ । सुज्जोदय वेला कम्म जोइ ॥९॥

उक्तं च—

सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो रणेपि धीरत्वं ।

तं भुवनत्रयतिलकं, जनयति जननी सुतं विरला ॥१॥

वि गु(रु)ला जाणंति गुण, विरुला पालंति निद्वणो सामी ।

विरुला परकज्जकरा, परदुक्खेहि दुक्खिया विरला ॥२॥

वीयहं साहारह जो फलु सावइं । सत्तम दिण लहु रज्जु सु पावइं ॥१०॥

भुंजइ णिवसिरि अचल सु इच्छाहि । सयल वसुंधर णिव पय सुव्वहि ॥११॥

से दोनों अतिथि भाई हैं, शुभोदय से अच्छे देश में उत्पन्न हुए हैं, परो-पदेशी हैं ॥१७॥ निजोपदेशी पापों को शीघ्र हरता है और स्वर्ग के देव-ताओं में प्रभुत्व (इन्द्र पद) पाता है ॥१८॥ इस प्रकार इन भव्य अतिथियों को विफल करो जिससे कि उद्धार हेतु इन भव्य पुरुषों को फिर आना पड़े ॥१९॥ पृथिवी पर सज्जन-भक्त वही है जो श्रुत से शोभित उत्तम चित्तवाले शरणागत की रक्षा करता है ॥२०॥

घत्ता—इसके पश्चात् प्रिया (तोते) के द्वारा अपने प्रीतम (तोते) को कहा गया—हे स्वामी ! ऐसे वचन मत कहो। पर्वत की चोटी पर एक गुप्त स्थान है, वहाँ दो आम फले हैं ॥२-११॥

[२-१२]

[यक्ष दम्पति द्वारा अमरसेन वइरसेन को दान किये गये
आम्र-फलों का माहात्म्य-वर्णन]

विद्या-सम्पन्न वह विद्याधर (कीर पक्षी) बहुरूपिणी विद्या का स्मरण करके ब्रती, हजारों जीवों पर दया करनेवाले, निर्विकार शुद्ध दोनों भाइयों को मीठे आम लाकर देता है ॥१-२॥ फलों के स्वाद से सम्पूर्ण क्षुधा तिरो-हित हो जाती है। सुख होता है। ठोक है—पुण्य से क्या नहीं होता ॥३॥ उसी समय एक विद्याधर पक्षी ने विनत वदन से (दूसरे) विद्याधर पक्षी से पूछा ॥४॥ उसने कहा हे पूज्य ! आम-फल के गुण कहकर/बताकर मेरे मन का संशय दूर करो ॥५॥ जिससे मेरे हृदय को सुख प्राप्त हो। ऐसा सुनकर दूसरे विद्याधर ने कहा ॥६॥ सूर्योदय के समय करने योग्य जिस समय दौंठ धोता है उस समय पृथिवी पर करूडा (कुल्ला) करते हुए (करके जो) छोटे वृक्ष के पवित्र फल का स्वाद लेता है वह (स्वाद) जब तक मनुष्य के हृदय में रहता है, पोषण करता है और वह मनुष्य नित्य पाँच सौ रत्न उगलता है ॥७-९॥

कहा भी है—जिसे सम्पत्ति की प्राप्ति में हर्ष और विपत्ति में दुःख नहीं होता। युद्ध में धैर्य धारण किये रहता है, ऐसे तीन लोक में तिलक स्वरूप पुत्र को विरली माता ही जन्म देती है ॥१॥ गुणों को विरले ही जानते हैं, विरले स्वामी ही निर्धन को पालते हैं, पर कार्य करनेवाला विरला होता है और पर-दुःख में दुःखी विरला ही होता है ॥२॥

जो दूसरे आम्र वृक्ष के फल का स्वाद लेता है वह सातवें दिन शीघ्र राज्य पाता है ॥१०॥ अपनी इच्छा के अनुसार अचल राज्य-लक्ष्मी को

सच्चें जाणार्ह चयमणि भंतिर्हि । गय भणेवि खेयर णिव थार्णहि ॥१२॥
 सुणुणु वयणु मयि खयर चवंतर्हि । मइ पिय जंपिउ करहु तुरंतर्हि ॥१३॥
 वे चूय फलइं आणियहि वेइ । दिज्जहि विहि भार्यर्हि रोउ-खोइं ॥१४॥
 गय उड्डिवि विण्णि वि उवयारहं । गिरि सुकूट सहकार फलाइं जर्हि ॥१५॥
 तं आणिय गिण्हि वि तुंड गहि । पुणु पुणु मुंचियइ वि ताहं महि ॥१६॥
 विट्ठइ सहकारह उवरि सुहि । अब्भागयं दाणह देण विहि ॥१७॥
 तं संबंधु सुणुउ वरसेणर्हि । जं खयरेर्हि वि कहिउ पवीणहो ॥१८॥
 तर्हि अवसरि जगिउ अमरसेणु । णिउ पहरइ विट्ठउ सुहणि सेणु ॥१९॥
 णिय लहु भार्यणदसकज्जहि । जे वि भयाउरू वज्जिय भज्जर्हि ॥२०॥
 तार्वाहं साहारर्हि उवरि घित्त । वे अंब सुहल कुमरग पत्त ॥२१॥
 वइसेणि लेवि ते गंठि वद्ध । णउ याणइं गरुवउ भाइ वुद्ध ॥२२॥

घत्ता

सुत्तउ लहु भाई, गरुव सहाई, जें पाइय मण इच्छ जणि ।
 प्ह समयर्हि उट्ठउ, णिय मणि तुट्ठउ, पणमिउं गरुवउ वीरु तर्हि ॥२-१२॥

[२-१३]

सु विहारणें चल्लिय वे वि वीर । भय भोसणु उववणु चत्तु धीर ॥१॥
 तहं मग्ग जंत दिट्ठउ रवणु । सु सरोवरु कमलणि णीरच्छणु ॥२॥
 तहं विट्ठइ जाइ वि सुच्छपालि । बहुतरवरमंडिय रवग-खालि ॥३॥
 तर्हि अवसरि वरसेणेहि गंठि । णय अंचलु खुल्लि वि रोउणट्ठि ॥४॥
 सहकारु गरुव दिउ जेट्ठ भाय । यहु असहिदेव णिव-रिद्धि-दाय ॥५॥
 गय भिण्ण-भिण्ण विण्णि वि कुमार । उज्जाणभूमि कय सुद्धि वार ॥६॥
 फिरि सम्मायइं सरवरहं तीर । कियकायसुद्धि तहं सुद्धणीर ॥७॥

भोगता है, सम्पूर्ण पृथिवी के राजा (उसके) चरणों में लोटते हैं (चरणों की सेवा करते हैं) ॥११॥ इन्हें मन में एक जन्म से दूसरे जन्म की मुक्ति का हेतु जानो—ऐसा कहकर विद्याधर अपने स्थान पर चले गये ॥१२॥ हे मेरे प्रिय प्रीतम ! विद्याधर को कहते हुए जो मैंने सुना है वह तुरन्त करो ॥१३॥ वे दोनों आम्र फल शीघ्र लाओ और राह से भटके हुए भाइयों को विधिपूर्वक दीजिए ॥१४॥ वह विद्याधर कीर दोनों भाइयों के उपकार के लिए जहाँ आम के फल थे उस पर्वत की शिखर पर गया ॥१५॥ वह मुँह से पकड़ पकड़ कर उन्हें लाकर पृथिवी पर गिराता है ॥१६॥ इस प्रकार अभ्यागतों को विधिपूर्वक दान देकर वह सुखपूर्वक आम्र पर बैठ जाता है ॥१७॥ वइरसेन ने चतुर विद्याधरों द्वारा जो कहा गया उसे सुना ॥१८॥ इसी समय अमरसेन जाग गया । अपने भाई को सुलाने के लिए जिससे कि (उसके) हृदय का भय छोड़कर भाग जाता है, वह सुखपूर्वक बैठ गया और पहरा देता है ॥१९-२०॥ तभी कुमार के आगे दो आम्र फलों का सुन्दर गुच्छा ऊपर से आ गिरा ॥२१॥ वइरसेन ने उन्हें लेकर गाँठ में बाँध लिया । बुद्धिमान् बड़ा भाई यह जान नहीं पाता है ॥२२॥

घत्ता—जिसके द्वारा मन इच्छित (वस्तु) प्राप्त कर ली गयी है वह छोटा भाई बड़े भाई की सहायता से सो गया और भोर होते ही उठ गया । उसने अपने मन में संतुष्ट होकर बड़े भाई को प्रणाम किया ॥२-१२॥

[२-१३]

[अमरसेन-वइरसेन का वन से प्रस्थान, सरोवर पर विश्राम और वइरसेन को रत्न-प्राप्ति वर्णन]

वे दोनों धीर-वीर महा भयानक उपवन को छोड़कर प्रभात होते ही चल दिये ॥१॥ मार्ग में जाते हुए उन्हें शरद् ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्र के समान स्वच्छ कमल और जलवाला सरोवर दिखाई दिया ॥२॥

बड़ा भाई वहाँ—अनेक प्रकार के वृक्षों और पक्षियों के कलरव से सुशोभित सरोवर के बाँध पर जाता है ॥३॥ इसी समय वइरसेन ने वस्त्र को गाँठ खोलकर पथ-भ्रमित बड़े भाई को अविद्यमान देव और राजाओं की ऋद्धि को देनेवाले बड़े आम्रफल को दिया ॥४-५॥ दोनों कुमार बुद्धि (शौच आदि निवृत्ति) के लिए उद्यान भूमि पर (वन में) भिन्न-भिन्न हो गये (पृथक् पृथक् स्थान पर चले गये) ॥६॥ इसके पश्चात् लौटकर वे सरोवर के किनारे आये । उन्होंने शुद्ध जल से शारौरिक शुद्धि की ॥७॥

वइसेणें चिंतिउ णिय मणेण । जं कीर-कीरि सुउ करउ तेण ॥८॥
 पच्छणु जाइ तहं अंवफलु । निग्गिलिउ सुहंकरु रोडहलु ॥९॥
 मुहु धोवइ अंबुह मुहु भरेइ । राडेइ करुडा महि णिएइ ॥१०॥
 जो रुवि कामावेसु लोइ । सय पंच रयण तहं पडिय वेइ ॥११॥
 तहं पर तउ पूरिउ कीरि कहिउ । णिय अंचल वंधि पच्छणु किउ ॥१२॥
 णउ गरुवहं भायहं भेउ दिउ । इव जोवउ गरुवहं फलहं भेउ ॥१३॥

घत्ता

तहं विण्णि वि भायर, गुणरयणायर, एहाणु करेविणु सुच्छजलि ।
 णिग्गय सर मज्झिंहि, निम्मल चित्तिंहि, सुहि जुणिकक दयार्हि ॥२-१३॥

इय महाराय सिरि अमरसेण चरिए ।

चउवग्ग सुकहकहामयरसेण संभरिए ।

सिरि चउधरियइए विरइए ।

साधु महणा-सुय चउधरी देवराज णामंकिए ।

सिरि अमरसेण-चइरसेण-उप्पत्ति,

वालकीला-विज्जाभासविए ।

संगमणं वण्णणं णाम दुइज्जमं परिच्छेयं सम्मत्तं ॥संधि॥२॥छा॥

यावत् सक्वन्न-वाणी, णिवसति भुवने, शैलराजश्च यावत्,

यावत् गंगा-तरंगा, वहति भुवितले, शेषनागश्च यावत् ।

घत्ते क्षोणीश्चभारं उदधि गडुडडत्, हेल कल्लोलमाला,

तावत् तु पुत्र-पौत्रः सहित सुतसुखः नंदतो देवराजः ॥

॥ आशावर्वादः ॥ १ ॥



वइरसेन ने अपने मन में जैसा शुक-दम्पति से सुना था वैसा करने का विचार किया ॥८॥ छिपकर वह प्रमाण-फल हेतु (सत्य-असत्य जानने को) सुखकारी आम्रफल निगल गया ॥९॥ मुँह धोता है और मुँह में पानी भरता है तथा नियमानुसार पृथिवी पर कुल्ला करता है ॥१०॥ इच्छानुसार लौकिक सुन्दर वेष (वस्त्राभूषण) देनेवाले वहाँ पाँच सौ रत्न शीघ्र गिरते हैं ॥११॥ यक्षिणी (कीरि) के कहे अनुसार रत्न गिरते ही अपने वस्त्र में बाँधकर छिपा लिये ॥१२॥ बड़े भाई को इसका कोई भेद नहीं दिया । उसने बड़े फल के रहस्य की प्रतीक्षा की ॥१३॥

घत्ता—गुण रूपी रत्नों की खदान दोनों भाइयों ने स्वच्छ जल में स्नान किया । पश्चात् निर्मल चित्त से वे दयालु सुखपूर्वक सरोवर से बाहर निकले ॥२-१३॥

साहु महणा के पुत्र चौधरी देवराज के लिये रचे गये महाराज श्री अमरसेन के चारों वर्ग की कहने में सरल कथा रूपी अमृत रस से भरपूर इस चरित में श्री अमरसेन-वइरसेन की उत्पत्ति, बालक्रीड़ा, विद्याभ्यास, और साथ-साथ उनके गमन का वर्णन करनेवाला दूसरा परिच्छेद सम्पूर्ण हुआ ॥संधि॥२॥छा॥

जब तक सर्वज्ञ की वाणी का संसार में वास है, जब तक हिमालय पर्वत है, जब तक पृथिवीतल पर तरंगित गंगा बहती है, जब तक शेषनाग पृथिवी का भार धारण किये हैं, और जब तक समुद्र में वेगपूर्वक माला रूप में उठती हुई लहरों की गर्जना है, तब तक देवराज अपने पुत्र-पौत्र आदि के साथ सुखी रहकर आनन्दित रहें ॥इति आशीर्वादा॥१॥

जिहनइ जितनउ सिरजियउ, धण्णु विवसाउ सहाउ ।

तिहंनइ तितनउ संपज्जइ, जिह भावइ तहि जाउ ॥

जिसे जहाँ रुचिकर हो वह वहाँ ही क्यों न चला जावे किन्तु उतना और वैसा ही वह धन, व्यवसाय और स्वभाव वह पाता है जैसा और जितना जिसने सृजन किया है ।



तृतीय परिच्छेद

[३-१]

ध्रुवक

एवाहिं भासमि सारु, जिहं विओउ विहि भाय भउ ।

णिसुणहि मागहराय, सावहाणु हो एवि सउ ॥छ॥

तहं वडरसेणि बहु-विह-पयार । गुरु वहं पय-सेवइ णिव्वियार ॥१॥

तो दव्वह[हिं]विलसइ सुच्छचित्त । संपाडइ षडरस-भोजु णित्त ॥२॥

भुंजावइ भायहिं करि वि भत्ति । जं उयरहं णासइ भुक्ख-अत्ति ॥३॥

पहिरहि देवंगइं वत्थ णित्त । जायण-जण पोसहिं दाण भत्त ॥४॥

तहिं अवसरि वुज्झइ अमरसेणि । भो सुणहि वाय महु वडरसेणि ॥५॥

कहि लब्भय संपइ गुणणसेणि । जं पोसहि णिय कर हीण-दीण ॥६॥

तो णिसुणि भणइं तह वडरसेणि । जिणधम्म-भत्तु पुण्णहणसेणि ॥७॥

सुणि वंधव जव पट्टु हमह रुट्ठु । मारण पट्ठाए चंड दुट्ठु ॥८॥

तहं परियण-णरवइ-रायकीय । अंतरि पवेसु महु दिण्णु तीय ॥९॥

दीणार सत्त पच्छण्ण करि । मइ रक्खिय निय भंडार धरि ॥१०॥

तं लेवि आउ भो भाय सुहि । विलसउ सुह संपइ कम्म सुहि ॥११॥

तहिं अवसरि सत्तम दिण कुमार । गय कंचणपुर रणि दुण्णिवार ॥१२॥

णिव-णंदणवण ओयरिय जाय । जहं कूवा-सरवर-सुच्छ-वाय ॥१३॥

वहु तरवर सहियउ पक्खि-रम्मु । फल-फुल्ल सुयंधहं अलिहिरम्मु ॥१४॥

कीरहिं णर-णारिय रहसचित्त । णिय कंतु रंजावहि कमल-वत्त ॥१५॥

तहं कोइल सद्दइ जणहं रम्मु । हरि झुल्लहि तरुवर-साहरम्मु ॥१६॥

घत्ता

तहं उववणि, पहसिय-मणि,

गउ कंचणपुर विमलमई ।

वइसेणिकुमारु, णिज्जिय-मारु,

भोयणत्थ सामग्गि लई ॥३-१॥

[३-१]

[अमरसेन-वइरसेन का कंचनपुर-प्रवास-वर्णन]

ध्रुवक

हे मगधराज (श्रेणिक) ! जिस प्रकार दोनों भाइयों का वियोग हुआ (वह) सभी संक्षेप से कहता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥छा॥ वहाँ वइरसेन निर्विकार भाव से बड़े भाई के चरणों की विविध प्रकार से सेवा करता है ॥१॥ उस समय वह स्वच्छ हृदय द्रव्य से भोग-विलास करता है । नित्य छहों रसों से युक्त पेट की क्षुधा-वेदना को नाशनेवाला भोजन भक्तिपूर्वक भाई को करा करके (स्वयं) करता है ॥२-३॥ नित्य देवताओं के समान दिव्य वस्त्र पहिनता है, भक्तिपूर्वक दान देकर याचकों का पोषण करता है ॥४॥ उसी समय अमरसेन पूछता है । कहता है हे भाई वइरसेन ! मेरी बात सुनो ॥५॥ जिससे अपने हाथ से दीन-हीनों का पोषण करते हो, वह शृंगलावद्ध लाभकारी सम्पदा कहां से प्राप्त की है ॥६॥ ऐसा सुनकर वइरसेन कहता है—जिनधर्म-भक्त, शृंगलावद्ध पुण्य करनेवाले हे भाई सुनो ! जब हम से रूठकर राजा ने (हमें) मारने को दुष्ट चाण्डाल भेजे थे तब राजा के राजकीय परिजनों में तीन ने मुझे भीतर प्रवेश करने दिया । ॥७-९॥ मैंने सात दीनार (मुद्रा) छियाकर अपने भण्डार में रख लिये ॥१०॥ हे भाई ! उन्हें ले आया हूँ । शुभ कार्यों में (उस) शुभ सम्पदा को मुख पूर्वक भोगो ॥११॥ इसी समय सातवें दिन युद्ध में दुर्निवार (अजेय) कुमार कंचनपुर गये ॥१२॥ वे राजा (उस) मन्दनवन में उतरे जहाँ कूप, तडाग और स्वच्छ-वायु थी । ॥१३॥ वृक्ष सुन्दर पक्षियों, फूल-फल, सुगन्धि के लिये आये सुन्दर भ्रमरों से सहित थे ॥१४॥ हर्षित चित्त से नर-नारी जहाँ क्रीडा करते हैं कमलमुखी नारियाँ अपने पति का अनुरंजन करती हैं ॥१५॥ वहाँ मनुष्यों के लिए कोयल सुन्दर शब्द बोलती है, बन्दर वृक्षों की सुन्दर शाखाओं पर झूलते हैं ॥१६॥

घत्ता—उस उपवन में मन में प्रसन्न होकर शारीरिक सौन्दर्य से काम-देव को पराजित करनेवाला, प्रखर बुद्धि कुमार वइरसेन भोजन का सामान लाने को कंचनपुर गया ॥३-१॥

इत्थंतरि कंचणपुरहं णिउ । विस्सुइय रोयहं क्षत्ति मुऊ ॥१॥
 तं रज्जु अपुत्तहं विहलु गऊ । तह णत्थि कोइ उद्धरइ पऊ ॥२॥
 तहु गोय-मज्झि लगंति राय । परसप्पर मूढ दुरास भाय ॥३॥
 तह मंतिहि वारिय सयल सुत्थ । णउ झंखहु अलियउ सह णिरत्थ ॥४॥
 जहु देव णराहिव-पट्ट हत्थि । तं करइ रज्जु इहं पुरहं सुत्थि ॥५॥
 तं णिसुणि वि सव्वहं वयणु मण्णु । सिंगारिउ दंतिय तहं खण्णु ॥६॥
 दिउ पुण्ण-कलसु तहु सुं डि तत्तु । भंमह मणिजडियउ सुज्जदित्तु ॥७॥
 करि लयउ सुं डि उच्चत्तु करि । फिरियउ कंचणपुरु सयल हरि ॥८॥
 णउ ढालइ कुं भु वि कासु सिरि । णउ हीणइं घरइ [हि] विविसइ सिरि ॥९॥
 मुइ सयल राय-पुरयण वि राय । णउ मंण्णिउ कहु मणु तत्थ राय ॥१०॥
 णिग्गउ पुर-वाहिर गयउ रण्णि । जिह अमरसेणि थिउ सुकिय पुण्णि ॥११॥
 णिद्दाभर सुत्तउ रायपुत्तु । जिणधम्मा सत्तउ मुद्ध चित्तु ॥१२॥
 पाविज्जइ विविह सुहाइ जत्थ । उप्पत्ति जरामरणाइं तत्थ ॥१३॥
 तत्थाइ तहं चिय-जीउ जाइ । किय-कम्म-गलत्थिउ णउ रहाइ ॥१४॥
 जं थाइ पसुत्तउ अमरसेणि । तं दिट्ठु गयंदहं गुणणिसेणि ॥१५॥
 उत्थाइ तत्थ णिवपुत्त जाणि । णिव-पट्ट-धुरंधर तेय-त्तरणि ॥१६॥
 करि ढालइ तं सिरि उवरि कुं भु । जय कारिउ-पुरयण चत्त डंभु ॥१७॥

घत्ता

पुरयण मंति महल्लहिं, बहुणिव अण्णाहिं

पणमिउं सव्वहं अतुलवलु ।

अमरसेणि णरेसरु, पउमिणि मणहरु,

दंति चडावउ णं अमरु ॥३-२॥

॥उक्तं च ॥ अमोघं जलदे वृष्टि अमोघं प्रार्थित सतं ।

अमोघं सद्गुरुवाक्यं अमोघं राजवर्द्धनं ॥ छ ॥

[३-२]

[अमरसेन को कंचनपुर का राज्य-प्राप्ति-वर्णन]

इसी बीच कंचनपुर का राजा हैजे की बीमारी से शीघ्र मर गया ॥१॥ पुत्रहीन होने से उसका राज्य निष्फल गया, उस राज्य को कोई उद्धारक प्राप्त नहीं हुआ ॥२॥ उस राजा के गोत्र में (जो) भाई लगते हैं (वे) परस्पर में दुराशयी और मूर्ख हैं ॥३॥ मंत्री भली भाँति सभी को मत झगड़ो कहकर और रोककर (समझाते हैं कि) संसार मिथ्या है, निरर्थक है ॥४॥ हाथी जिसे राजपट्ट देवे वही इस नगर का भली भाँति राज्य करे ॥५॥ ऐसा सुनकर सभी ने मंत्रियों की बात मान ली । सुन्दर हाथी सजाया गया ॥६॥ उसकी सूँड पर मणि जटित, सूर्य के समान दीप्तिमान् पुण्य-कलश देकर उसे घुमाया गया ॥७॥ हाथी ने सूँड ऊँची करके (पुण्य-कलश) लिया और कंचनपुर के सभी घर घूमा ॥८॥ वह किसी के सिर पर कलश नहीं ढोरता है । ठीक ही है—लक्ष्मी हीन पुरुषों के घर प्रवेश नहीं करती है ॥९॥ उस हाथी ने मृत राजा के सभी पुरजनों में किसी भी मनुष्य को राजा नहीं माना ॥१०॥ नगर से बाहर निकलकर वह वन में (वहाँ) गया जहाँ शुभ कार्य करनेवाला, पुण्यात्मा, अमरसेन स्थित था ॥११॥ जैनधर्म में आसक्त, शुद्धचित्त राजपुत्र अमरसेन भर नींद सोया था ॥१२॥ वह विचारता है कि जीव—जहाँ विविध सुख प्राप्त करे, जहाँ जन्म-जरा और मरण नहीं, वहाँ जीवात्मा जब जाता है, अर्जित कर्म शेष नहीं रहते, गल जाते हैं ॥१३-१४॥ उस स्थान का रहनेवाला, श्रृंखलाबद्ध गुणों का आगार, सोता हुआ अमरसेन उस हाथी को दिखाई दिया ॥१५॥ सूर्य के समान तेजस्वी राजपुत्र (अमरसेन) को राज्य पट्ट धारण करने में घुरंधर जानकर हाथी उसे उठाकर उसके सिर पर कलश ढोरता है । नगरवासी जनों ने मान त्याग करके जय-जयकार किया ॥१६-१७॥

घत्ता—पुरजन, मंत्री, अन्य अनेक राजा सभी अतुल बलवालों ने प्रणाम किया और स्त्रियों के मन को हरनेवाले राजा अमरसेन को हाथी के ऊपर चढ़ाया / बैठाया । वे ऐसे लगते थे मानों ऐरावत पर बैठा इन्द्र हो ॥३-२॥

कहा भी है—मेघों का बरसना, सज्जनों से याचना, सद्गुरु के वचन और राज्य की वृद्धि इच्छित फलदायी होती है ॥छा॥

[३-३]

तह जय-जय सद्दइ विविह थुत्त । विरदावलि भट्ट भणंति भत्त ॥१॥
 बहु वायइं वज्जहिं विविह णाय । तिय मंगलु गावहिं अमियवाय ॥२॥
 बहु उच्छवेण णिउ णिवह थानि । णिव-पट्टह थप्पिउ अमियवाणि ॥३॥
 सुहिं करइ रज्जु णिय बंधु रहिउ । णउ मिलिउ वेइ असणत्थ गउ ॥४॥
 तं चित्त पवट्ठइं रायमणि । दुंढाविउ णिय पुरु रण्णु खणि ॥५॥
 णउ दिट्ठउ बंधउ पाण-इट्ठु । पट्टु रहइ संचितउ रज्ज-विट्ठु ॥६॥
 इत्थंतरि कंचणपुरह मज्झि । वइरसेणु पच्छणउ रहइ तज्झि ॥७॥
 णउ याणइ पुरयणु रायवीरु । विलसइ सुहिं संपइ णिहि-गहीरु ॥८॥
 गुरु भायरु जाणि वि रज्ज विट्ठु । वइसेणिं चित्तिउ हिय-मणिट्ठु ॥९॥
 हउं णिव मंदिरि णउ जाउ भत्ति । तं अगइ भणउ ण ऐह जुत्ति ॥१०॥
 हउं तुम्ह केर लगउ महेस । महु देहिं राय पुर-णयर-कोस ॥११॥
 हउ तुज्झु सहोयरु लहुवराय । दय करहिं महुप्परि सुद्धभाय ॥१२॥
 वरि वणि गय-सीह-णाय सेविज्जहिं । दुम-पत्तइं कंदइ-भविखज्जहिं ॥१३॥
 तिण-सज्जा णउ दीणु वइज्जइ । वरि तणु रुक्खच्छित्तु पहिरिज्जइ ॥१४॥
 सपुरिसाहं णउ एहउ जुज्जइं । णउ धणहीणु बंधु महिं जुज्जइ ॥१५॥
 जइ सज्जणु अत्थ-विहीणु भुवि । सेवेइ रण्णु णउ भणइं भुवि ॥१६॥
 दीणक्खरु भणइं ण लोय छावि । ॥१७॥
 आरुहइ महामइ माण-गए । णउ विक्कइ माणु गयंद-धुए ॥१८॥

घत्ता

अहिमाणं थक्कउ, मणु करि वंकउ,

वइरसेणि वर लच्छिंहि ।

गिह मागह-वेसिंहि, विद्ध सुदुट्ठिंहि

कामकंदला-पुत्ति तहिं ॥३-३॥

[३-३]

[वडरसेन का कंचनपुर में प्रच्छन्न वेष में रहना तथा दीन-वचन सम्बन्धी विचार-वर्णन]

भक्त जन विविध प्रकार से जय-जय शब्द और स्तुति करते हैं। भाट विरुदावलियाँ कहते हैं ॥ १ ॥ बहुत प्रकार के बाजे बजाये जाते हैं, विभिन्न स्वर होते हैं, स्त्रियाँ अमृत के समान मीठी वाणी से मंगल गीत गाती हैं ॥ २ ॥ बहुत उत्सव पूर्वक राजा अमरसेन को कंचनपुर-नरेश के सिंहासन पर अमृतोपम वाणी से बैठाया ॥ ३ ॥ अपने भाई से रहित वह सुखपूर्वक राज्य करता है। भोजन के लिए गया भाई उसे शीघ्र नहीं मिला ॥ ४ ॥ राजा के मन में उत्तरोत्तर चिन्ता बढ़ती है। उसने अपने नगर और वन में ढुँढवाया ॥ ५ ॥ राजा को प्राण-प्रिय भाई दिखाई नहीं दिया। वह संचित राज्य सिंहासन पर बैठा रहता है ॥ ६ ॥ इसी बीच उसी कंचनपुर में वडरसेन छिपकर रहता है ॥ ७ ॥ वह सुखपूर्वक सम्पदा और गम्भीर निधि को भोगता है। पुरजन और राजा जान नहीं पाते हैं ॥ ८ ॥ वडरसेन ने राज्य सिंहासन पर अपने हितैषी बड़े भाई को बैठा जानकर हृदय में विचार किया ॥ ९ ॥ मैं शीघ्र राजमहल नहीं जाऊँ, उनके आगे यह कहना भी युक्त नहीं है कि हे राजन् मैं तुम्हारा (भाई) लगता हूँ अतः मुझे गाँव, नगर और राजकोष दो ॥ १०-११ ॥ हे राजन्! मैं तुम्हारा सहोदर छोटा भाई हूँ। हे चरित्रवान् भाई! मेरे ऊपर दया करो ॥ १२ ॥ वन में हाथी, सिंह और सर्पों की सेवा करना अच्छा है, वृक्षों के पत्ते और कन्दमूल खा लेना अच्छा है, तृण-शय्या अच्छी है, शरीर पर वृक्ष की छाल पहिनना अच्छा है किन्तु दीनता भरे वचन नहीं बोले ॥ १३-१४ ॥ पुरुषार्थी को यह युक्त नहीं। पृथिवी पर भाई का धनहीन होना ठीक नहीं है ॥ १५ ॥ पृथिवी पर सज्जन यदि अर्थ-विहीन है तो वह जंगल में भले रह लेता है किन्तु पृथिवी पर लोभाकृष्ट होकर दीनता भरी वाणी नहीं बोलता है ॥ १६-१७ ॥ (जो) महामतिमान् मान रहित होकर स्वाभिमान की रक्षा करता है (वह) निश्चय से हाथी पर असवार होता है।

घत्ता—लक्ष्मी से अभिमान में रहकर मन में कुटिलता धारण करके वडरसेन वहाँ मागध वैश्य के घर उसकी पुत्री कामकंदला के नेत्रों से आविद्ध हो गया ॥ ३-३ ॥

[३-४]

तं अच्छइ-लंजिय लुद्धर्गेहि । सुज्जोदयच्छिद्दि करेइ सोहि ॥१॥
 रयण सय-पंच खण्ण पड्ढहि । फल सहकारह भावेण गुण्हि ॥२॥
 सइं इच्छइ भुंजइ कुमरु दब्बु । भंजेइ दलिद्दह रोडु तिब्बु ॥३॥
 पुणु पुणु तहं राय दुढावियाउ । णउ पायउ सोयरु मयण राउ ॥४॥
 वइसेणु वि पुर महि जुउ रमई । सुह सुर कीलइ वेसा समेइ ॥५॥
 गय वहु दिणाइं लंजियहि विद्धु । णिय पुत्तिय पुच्छिय दव्व लद्धु ॥६॥
 सुय वुज्झहि विरु भत्तारु भेउ । विणु विवहारें दव्वु चि अमेउ ॥७॥
 विलसइ रइ माणइं णिच्च पुत्ति । इहु मारि वि लिज्जइ विणय जुत्ति ॥८॥
 तं सुणि वि भणइ पुत्ती सुवाय । णउ वित्त-तित्ति तुज्झु वि सुमाय ॥९॥
 अवरारुं विणु वहणउ ण जुत्तु । हरि-धणु आणइ इह अप्प मित्तु ॥१०॥
 सुणि पुत्तिय-वयण लोहेण भुत्त । ण वि गाहु मुयइ पावेण लित्त ॥११॥
 णिय-धूयस रिस बोलेइ वयण । णउ एह सरिसु हुउ संगु केण ॥१२॥
 तं रयणु वि हत्थं-तरि वि लाइ । हिय दाहु देवि अइरेण जाइ ॥१३॥
 हत्थि चडइ ण वि पुणु पुणु जूरइ । पाणि-मलइ सो हियइ विसूरइ ॥१४॥

घत्ता

पुणु भासइ कुट्टणि, विडयण-लुट्टणि,
 पुत्ति सुणहि एयग्ग मण ।
 दिट्ठंतु विसालउ, जण-मण-हारउ,
 दिवपुरि णामें णयरि घणा ॥३-४॥

[३-५]

धण-कण-संपुएणी सुह-णिहाणि । देवह सुहयारी विवुह खाणि ॥१॥
 तहं देवदत्तु णरवइ पयंडु । अरियण-गइ-दलण-मियंडु-चंडु ॥२॥
 तं राणी देवसिरि मियक्खि । जिण-गुरु-पय-भत्तिय णाण दक्खि ॥३॥

[३-४]

[वइरसेन का धनापहरण एवं घात सम्बन्धी वेश्या का पुत्री से
विचार-विमर्श]

अप्सरा के समान सुन्दर वेश्या का लोभी वह (वइरसेन) उस वेश्या के घर सूर्योदय होने पर वमन करता है ॥ १ ॥ आम के फल के गुण-स्मरण से पाँच सौ सुन्दर रत्न गिरते हैं ॥ २ ॥ कुमार स्वेच्छानुसार द्रव्य भोगता है । वह दरिद्रियों की तीव्र दरिद्रता नष्ट करता है ॥ ३ ॥ राजा ने बार-बार ढुँढवाया किन्तु उन्हें मदनराज सहोदर नहीं मिला ॥ ४ ॥ वइरसेन नगर में वेश्या के साथ सुखपूर्वक क्रीडा करते हुए सहवास करता है ॥ ५ ॥ बहुत दिन निकल जाने के पश्चात् धन की लोभी वृद्धा वेश्या ने अपनी पुत्री से पूछा, कहा ॥ ६ ॥ पुत्रि ! रो-रोकर बिना व्यापार के अमित द्रव्य होने का भर्त्तार से रहस्य पूछो ॥ ७ ॥ हे पुत्री ! वह रति के समान विलास करता है । युक्ति और नीति पूर्वक इसे मारकर वह इससे ले ले ॥ ८ ॥ ऐसा सुनकर पुत्री सुन्दर वचन कहती है—हे माता ! तुम्हारी धन से तृप्ति नहीं होती ॥ ९ ॥ बिना अपराध का वध करना युक्त नहीं । यह अपना मित्र है, घर में धन लाता है ॥ १० ॥ पुत्री के वचन सुनकर लोभ में आसक्त और पाप से लिप्त वह अपनी पुत्री को क्रोधित होकर कहती है कि मत झगड़ो, मत मारो । इससे क्रोध न करूँ तो किसके साथ करूँ ॥ ११-१२ ॥ उसे (वइरसेन को) और रत्नों को भी लाकर हृदय को भस्म करनेवाली वह शीघ्र जाकर हाथी के नीचे दे देती है ॥ १३ ॥ वह बार-बार हाथी पर क्रुपित होती है किन्तु वह (वइरसेन के ऊपर) नहीं चढ़ता है । वह वेश्या हाथ मलती है और हृदय विसूर-विसूर कर रोती है ॥ १४ ॥

धत्ता—इसके पश्चात् वह—व्यभिचारियों की लुटेरिन, कुट्टनी कहती है—हे पुत्री, एकाग्र मन से सुनो ! जन-मनहारी यह देवपुरी नामक नगरी में [हुआ] निद्य ग्रह-देवता दिखाई देता है ॥ ३-४ ॥

[३-५]

[वेश्या द्वारा पुत्री को कही गयी देवपुरी की राजकथा-वर्णन]

धन और धान्य से परिपूर्ण, सुख की निधान, देवों की सुखकारी, विद्वानों की खदान उस नगरी में शत्रुजन रूपी हाथी को विदारने के लिए प्रचण्ड मृगेन्द्र स्वरूप देवदत्त नृपति था ॥ १-२ ॥ ज्ञानवान्, जिन गुरु के

तहं अच्छइ रक्खसु पावरासि । दुद्धरिसणु-भीसणु सव्वगासि ॥४॥
 तं णरवइ अगइ भणइ दुट्ठु । भो पहु कि रम्मु भणेहि सुट्ठु ॥५॥
 भोयणु सह जीवहं पुहइ इट्ठु । ताहें विणु लोयहं सव्वु कट्ठु ॥६॥
 तं णिसुणि वि मारिउ रक्खसेण । तं रज्ज णवडु विट्ठुउ सुहेण ॥७॥
 खण मास समायउ तत्थ पाउ । दुद्धरिसणु भीसणु किण्ह काउ ॥८॥
 गिरि-गुह तं आणणु उद्धकेस । गुंजाहल णेयइं जमहं वेस ॥९॥
 तं वुज्झिउ राणउ अक्खि वेइ । कि रम्मं वीसइ इत्थ लोइ ॥१०॥
 पहु जंपइ रइ-सुहु तिय सुहेण । तं मारिउ रक्खसु तक्खणेण ॥११॥
 एवहि वहु णरवइ रक्खसेण । संघारिय पावें णिट्ठएण ॥१२॥
 णउ कोइ रज्जु विट्ठइ णवल्लु । रक्खस भउ मण्णहि हियइसल्लु ॥१३॥
 उक्तं च ॥

पंथि समं णत्थि जरा, दरिदु समो परिभओ णत्थि ।

मरण-भयं च अयाणं, च्छुहा समा वेयणा णत्थि ॥छ॥

तहि अवसरि मंतिहि रयउ मंतु । देवाविउ पडहउ णयरि तत्तु ॥१४॥
 जो णरवइ-पट्टह सुहडु आय । तं वइ सइ णिव-पउ देहि वाय ॥१५॥
 णिव सेवहिं तं पय सह महल्ल । भुंजइ सह मेयणि पुणु णिसल्ल ॥१६॥
 तं णिसुणि थिरु तह एउ वुत्तु । धुत्ताणधुत्तु णामें सजुत्तु ॥१७॥
 णरवइ सिंहासणि आइ विट्ठु । वंदिउ णिव मंति महल्ल सुट्ठु ॥१८॥

घत्ता

सुहि रज्जु करंतहं, जिण-पय-भत्तहं,

णिय पइ-पालइ राय णिए ।

खण मास समायउ, रक्खसु दायउ [वायउ]

किं मिट्ठुउ पहु भणहि धुए ॥३-५॥

[३-६]

तं सुणे वि णरवइ संतुट्ठुउ । रक्खस अगइ भणइ हियट्ठुउ ॥१॥
 जं जसु सुक्खु होइ गरुयालउ । तं तहु मिट्ठु सुहु धव सालउ ॥२॥

चरणो की भक्त, मृग-नयनी देवश्री उसकी रानी (थी) ॥ ३ ॥ वहाँ देखने में अरुचिकर, सम्पूर्ण शरीर से भयंकर, पापी एक राक्षस रहता है ॥ ४ ॥ वह दुष्ट नृपति के आगे कहता है—हे राजन् ! भली प्रकार कहो ! सुन्दर क्या है ? ॥ ५ ॥ (राजा उत्तर देते हुए कहता है)—जीवों को जो भोजन के साथ पृथिवी पर प्रिय है जिसके बिना लोक का सब कड़वा प्रतीत होता है ॥ ६ ॥ ऐसा सुनकर राक्षस के द्वारा वह मारा गया । उस राजसिंहासन पर नया राजा सुखपूर्वक बैठा ॥ ७ ॥ छह माह पश्चात् पापी, देखने में खराब, भयंकर, काली देहवाला, पर्वत की गुहा के समान मुँह फाड़े हुए, उठे हुए वालों वाला, गुंजाफल के समान लाल नेत्रवाला, यम के वेष में वह पुनः आया ॥ ८-९ ॥ उसने राजा से कहा—शीघ्र बताओ ! इस लोक में सुन्दर क्या दिखाई देता है ? ॥ १० ॥ स्त्री-सुख से राजा कहता है—रति-सुख । इसे राक्षस ने तत्काल मार डाला ॥ ११ ॥ इस प्रकार पापी, निर्दयी राक्षस के द्वारा बहुत राजा मारे गये ॥ १२ ॥ राक्षस का भय मानकर हृदय में शल्य होने से कोई नया राजसिंहासन पर नहीं बैठता है ॥ १३ ॥ कहा भी है—पथिक के समान बुढ़ागा, दरिद्रता के समान पराभव, मरण-भय के समान अज्ञान और भूख की वेदना के समान अन्य कोई वेदना नहीं है ॥ १४ ॥ इसी बीच मंत्रियों ने शीघ्रता से मंत्रणा की और नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो सुभट आकर राज के सिंहासन पर बैठेगा उसे राज-पद दिये जाने का वचन दिया जाता है ॥ १५ ॥ महल के साथ राजा उसके चरणों की सेवा करेंगे । वह निःशल्य होकर पृथिवी का भोग करे ॥ १६ ॥ घोषणा सुनकर धुत्ताणधुत्त नामक एक स्थिर पुरुष आकर राजा के सिंहासन पर बैठ गया । बड़े-बड़े मंत्रियों ने भली प्रकार राजा की वन्दना की ॥ १७-१८ ॥

घत्ता—जिनेन्द्र के चरणों के भक्त राजा नियमानुसार अपनी प्रजा का सुखपूर्वक राज्य करते हुए पालन करता है । छह मास पश्चात् राक्षस ने आकर कहा—राजन् कहो ! निश्चय से मीठा क्या है ? ॥ ३-५ ॥

[३-६]

[कुन्दलता का वडरसेन से उसके धनोत्पादन का रहस्य ज्ञात करके माता से प्रकट करना तथा द्रव्य-विभाजन कथन-वर्णन]

राक्षस का प्रश्न सुनकर राजा संतुष्ट हुआ । वह राक्षस के आगे हृदय में स्थित (विचार) प्रकट करता है / कहता है ॥ १ ॥ जो जिसका अधिक सुखकारी होता है, उसको वह मीठा है (अतः) निश्चय से भली

तं वयणं रक्खसु संतुट्टु । णिउ णिय आवासहि विधुत सतुट्टु ॥३॥
 देवंगइं वत्थइं पहिराविय । सोलह आहारणइं वंधाविय ॥४॥
 सोलह दाहिण सोलह वामइं । अणुवम रूव तिया सुहु-धामइं ॥५॥
 जं जं पिउ महु सहु अइव पीइ । तं जसु भावइ णिय मणि-विभूइ ॥६॥
 जं मिट्टु तं मणि हियइ मिट्ठु । यउ विद्धह लंज्जिय भणिउ सुट्ठु ॥७॥
 इय मागह मायह वयणु सुणि । अवरहि दिणि कुंदलयाइं मुणि ॥८॥
 वुज्झिउ रइ-सुक्खइं वइरसेणि । भो वल्लह इहु पुणु वयणु सुणि ॥९॥
 विणु ववसायहं णउ अत्थ होइ । साहहि णिय लच्छिउवाय कोइ ॥१०॥
 णउ आणित्तं मुक्खहं कवडु-भेउ । जिं संपज्जइ अइ दुसह सोउ ॥११॥
 तं सरलचित्त सहयार भेउ । अक्खियउ सयलु लंजिय सुहेउ ॥१२॥
 तं लेवि गुज्झु णिय माय-पासि । वियसंति समाइय अलियरासि ॥१३॥
 तहं जंपइ मागह विद्ध णिरु । महु भेउ पयासिउ रोडहरु ॥१४॥
 तहं सुणिउ भउ घिय उत्तु विद्ध । मणह लइं वंटि दिय दव्व लुद्ध ॥१५॥
 वंटि वि तं भोयण-मज्झि दिपण । घिय पच्छणइ णउ मुणइ तंण ॥१६॥
 भोयणहं वेर वइसेण राउ । भोयण भुंज्जाविउ रोड दाउ ॥१७॥
 कर-मलि यउ वंणी तत्थ झत्थि । णउ साहारइ कंदप्प-मुत्ति ॥१८॥

घत्ता

वइसेण कुमारु, अरि-खय-कालु, च्छिदि करेइ दुहिलउ ।

मा गइय वेसहि, लुभिय-दव्वहि, उडि उ थाडह वउणु तउ ॥३-६॥

[३-७]

तं थाड मज्झि सहकार-फलु । दिट्ठोसि वि उज्जडु रोडहलु ॥१॥
 सा णिय घर-वाहिर थालु लेवि । पुणुच्छिदि-मज्झि लइ धुवइ तोवि ॥२॥

प्रकार साला मीठा है ॥ २ ॥ राजा के इस वचन से राक्षस संतुष्ट हुआ । संतुष्ट होकर वह धूर्त राजा को अपने आवास में ले गया ॥ ३ ॥ उसने दिव्य वस्त्र पहिनाये और सोलह शृंगार कराये ॥ ४ ॥ सुख की स्थान, अनुपम रूपवान् सोलह दायीं ओर और सोलह बायीं ओर स्त्रियाँ (दीं) ॥ ५ ॥ जो जो (तुम्हारा) प्रीतम है वह मुझे अधिक प्रिय है । उसको अपने मन में जैसी विभूति भाती है, जो मीठा लगता है वह (मुझे) मन में मीठा है । हितकारी है । इस प्रकार वृद्धा वेश्या ने भली प्रकार कहा ॥ ६-७ ॥ इस प्रकार माता मागधी के वचन सुनकर दूसरे दिन कुन्दलता ने विचार करके रति-सुख के समय वइरसेन से पूछा—हे प्रीतम ! (मेरी) बात सुनो ! बिना व्यापार के द्रव्य नहीं होता है (अतः) अपनी लक्ष्मी का कोई उपाय बताओ / कहो ॥ ८-१० ॥ मूर्ख वइरसेन कपट-भेद नहीं लाया । असह्य कष्ट से जिससे (वह लक्ष्मी) प्राप्त की जाती है सरल परिणामी वइरसेन ने वह आम्रफल का सम्पूर्ण भेद सुखपूर्वक उस वेश्या (कुन्दलता) से कहा ॥ ११-१२ ॥ वह कुन्दलता उस भेद को लेकर मिथ्या वचनों की भंडार अपनी माता के पास विहँसते हुए आकर उस वृद्धा मागधी को निश्चयपूर्वक कहती है—उस वइरसेन ने मुझसे हैरानी दूर करने वाला भेद प्रकट कर दिया है ॥ १३-१४ ॥ उसका कथन सुनकर धिक्कार हो उस लोभिनी वृद्धा (मागधी) ने उत्तर दिया—द्रव्य लेकर मन के अनुसार हिस्से बनाकर दो ॥ १५ ॥ उसने बटवारा करके भोजन के बीच दे दिया और अपना हिस्सा छिपकर ले लिया । इसे वइरसेन नहीं जान पाता है ॥ १६ ॥ भोजन के समय राजकुमार वइरसेन ने कष्ट देने-वालों को भोजन कराया ॥ १७ ॥ इसके पश्चात् निर्वल वह शीघ्र वन गया किन्तु कामदेव की मूर्ति सहारा नहीं देती है ॥ १८ ॥

घत्ता—शत्रुओं का क्षय करने में काल स्वरूप द्रोही कुमार वइरसेन वमन करता है । द्रव्य की लोभी (वमन लेकर) वेश्या माता उस स्थान गयी (किन्तु) वहाँ से पक्षी उड़ गये थे ॥ ३-६ ॥

[३-७]

[वइरसेन का वेश्या के घर से निकाला जाना तथा स्त्री को गुप्त भेद देने पर किया गया पश्चाताप वर्णन]

उस स्थान पर दरिद्रता-नाशक आम्र-फलों से ऊजड़ दिखाई दिए ॥ ११ ॥ वह मागधी वेश्या वमन की थाली लेकर घर के बाहर ले जाकर वमन में

णिय गंठि वंघि णिय-घर-समाय । तं णिद्धणु जाणि वि भय-विराय ॥३॥
 णं इहि पहिणत्थि ण किञ्चि दत्तु । कि किज्जइ णिद्धणु रूव जुत्तु ॥४॥
 उक्तं च ॥

वरि विसहरु मा वेसहरु, विसहरु मंत फुरंति ।
 जे वेसाइणि डंकिया, ते णर मरणहं जंति ॥छ॥
 अंषिहिं रोवइ मनि हसइ, जणु जाणइ सहु सच्चु ।
 वेस-विरुद्धी तं करइ, जं कट्टइ करवत्तु ॥१॥
 न गणेइ रूववंता, ण कुलीणं तेण रूवसुं पुण्णं ।
 वेसा-वीसार-सरिसा, जत्थ फलं तत्थ संकमए ॥२॥

णिय घरह णियालिउ वइरसेणि । गउ णिज्जर रयणिहिं विद्धु खोणि ॥५॥
 तं सरवइ जाइ वि मुहु धुवेइ । कुरला करेइ महि धुवइ वेइ ॥६॥
 ण उपलहि रयण पुणु पुणु करेइ । तह इक्कु रयणु णउ णोसरेइ ॥७॥
 पुणु भयउ विलक्खी रायपुत्तु । सिरु धुणि वि संचितइ महु भवित्तु ॥८॥
 हा हा मइ किं किउ विसयसत्त । मोहंधे लंजिय रइहिं रत्त ॥९॥
 जं दिण्णउ वेसहिं अप्प गुज्झु । तं पंडिउ रयण दुहु हियइ मज्झु ॥१०॥
 किं किज्जइ मणुए दव्व विणु । ण वि सोहइ तं विणु पुहमि जणु ॥११॥
 किउ पोसिज्जहि जायणइं भत्त । जे अणुदिणु मंगहिच्छुर्हाहं तत्त ॥१२॥

घत्ता

तिय गुज्झु ण दिज्जइ, णिय हिय संपइ,
 जइ पाणइ णिय कंठ गए ।
 जं णीउ पंखि पहु, अरि सत्तुहि लहु,
 पुंडरीउ णायंदु जए ॥३-७॥

[३-८]

इय सुणि भासिउ दिउराजएण । भो सुकह कहहि महु गय-भएण ॥१॥
 तं णिसुणि वि पंडिउ उल्लवेइ । पारुक्खि राय सुह कह कहेइ ॥२॥

जो रत्न थे उन्हें धो लेती है ॥२॥ उन्हें अपनी गाँठ में बाँधकर अपने घर आकर उस वइरसेन को निर्धन जानकर उससे विरक्त हो जाती है ॥३॥ निश्चय से इसने उसे पहिने को कुछ नहीं दिया । (ठीक है) सौन्दर्य से युक्त होकर भी निर्धन क्या करे ॥४॥ कहा भी है—विषधर (सर्प) अच्छा है, वेश्या नहीं । सर्प (के काटे हुए) को मन्त्र से फूँक देते हैं (वह ठीक हो जाता है किन्तु जो वेश्या के द्वारा डसे गये हैं उन मनुष्यों का मरण ही उपाय है ॥५॥ वेश्या की आँखें रोती हैं और मन हँसता है । इस सत्य को हर व्यक्ति जानता है कि वेश्या विरुद्ध लोगों को वैसा ही करती है जैसे करौत (लकड़ी को) काटती है ॥६॥ वेश्या न रूपवान् को महत्त्व देती है न कुलीन को । उसके द्वारा रूपवान् और पुण्यवान् सारहीन के समान (समझे जाते हैं) । वह जहाँ फल (लाभ) होता है वहाँ जाती है ॥७॥

वृद्धा वेश्या ने वइरसेन को घर से निकाल दिया । वह रात्रि में पृथ्वी पर एक निर्जन पुराने स्थान पर गया ॥८॥ वह सरोवर पर जाकर मुँह धोता है और शीघ्र पृथ्वी पर निश्चय से कुल्ला करता है ॥९॥ उससे एक रत्न भी नहीं निकलता है [तब वह] बार-बार (कुल्ला) करता है किन्तु रत्न प्राप्त नहीं होता ॥१०॥ राजपुत्र तब दुःखी हुआ और सिर पीट कर वह (अपने) मधुर भविष्य पर विचारता है ॥११॥ पश्चाताप करते हुए कहता है—) हाय ! हाय ! विषयासक्त मैंने क्या किया ? वेश्या में आसक्त रहकर और मोह से अन्धे होकर जो मैंने अपना गुप्त भेद वेश्या को दे दिया । इससे वेश्या को रत्न मिले और मेरे हृदय को दुःख मिला ॥९-१०॥ द्रव्य के बिना यह मनुष्य क्या करे । उसके बिना मनुष्य पृथिवी पर सुशोभित भी नहीं होता ॥११॥ जो प्रतिदिन माँगकर क्षुधा की तृप्ति करते हैं भक्त (उन) याचकों का कैसे पोषण करूँगा ॥१२॥

घत्ता—प्राण कंठगत हो जाने पर भी पति अपने हृदय का गुप्त भेद स्त्री (पत्नी) नहीं देवे । (इसी कारण) राजा परीक्षित वैरी प्राणियों द्वारा शीघ्र ले जाये गये थे और पुण्डरीक ने नागेन्द्र पर विजय की थी ॥३-७॥

[३-८]

[राजा परीक्षित का मरण-निमित्त वर्णन]

ऐसा सुनकर देवराज ने कहा—हे (पण्डित) मुझे निर्भय होकर वह कथा कहो ॥१॥ ऐसा सुनकर पण्डित हर्षित होते हुए सुखपूर्वक राजा परी-

इह कुरुजंगलि गयपुरि विसालि । पारुक्खि राउ तहिं णीइ-सालि ॥३॥
 सुहि रज्जु करते अवहिणाणि । मुणि पुच्छिउ एकइया सुवाणि ॥४॥
 किह मरणु ह्वेसइ मज्झु णाहं । सुहभाणें असुहें विगय-वाहं ॥५॥
 तं मुणि वि जईसरु कहइ सुच्छु । फणि डंकेसइ संपुण्ण अच्छु ॥६॥
 मा संसउ किंपि वि करहि मित्त । णउ सरणु को वि कुल कमलमित्त ॥७॥
 जिण-वयणु-सरणु जइ धरहि चित्ति । सुहगइ पाविवि फेडहि भवित्ति ॥८॥

घत्ता

इय वयणु मुणि वि तें णिव वरिण, अइविं भयरु वि जायउ ।
 मिच्छाइट्ठिहु कह-जिण-वयणु, भावइ सुह-गय-दायउ ॥३-८॥

[३-९]

सीसमउ वि मंदिरु कारियउ । जल-डुग्गु वि पासहे सारियउ ॥१॥
 जलयर-रउदणा वाहि रूढु । गच्छइ तत्थ वि आउह अवूढु ॥२॥
 णउ खाणु ण एहाणु ण कुइ विणोउ । अहणिसु वट्ठइ मणि राय सोउ ॥३॥
 एउ विविसउ सि तहु थाण यस्स । वाणइं णव कलियइं देह तस्स ॥४॥
 कोरंटियाइं एकइय वुत्तु । पच्छिम रयणिहिं किम भउ सच्चित्तु ॥५॥
 तं मुणि वि भणइ वाणइ विवाय । महु केर परिच्छिय पियस राय ॥६॥
 दिणि दिणि कलियइ वि णवल्ल देहि । महु पाण-विसउ पूरउ करेहि ॥७॥
 इय वीयइं कोरंटियइं उत्तु । होवाणइं तुहुं करि एम जुत्तु ॥८॥

घत्ता

सुपहिल्लइं दिणि अणहुल्लियइं, णव कलियइं तुहु आणहिं ।
 सुवियद्दावी वंधे वि णिरु, सुपहाइं रायहु उववर्णहिं ॥३-९॥

क्षित की कथा कहता है ॥२॥ इस जम्बूद्वीप के कुरुजांगल देश के गजपुर (हस्तिनापुर) नगर में नीतियों से विभूषित राजा परीक्षित ने सुख-पूर्वक राज्य करते हुए एक अवधिज्ञानी मुनि से नम्रता पूर्वक पूछा—हे नाथ ! मेरा मरण कैसे होगा ? शुभ ध्यानपूर्वक या अशुभ ध्यानपूर्वक, वाहन सहित या वाहन रहित अवस्था में ॥३-५॥ राजा का प्रश्न सुनकर स्वच्छ हृदय मुनिराज कहते हैं—सर्प काटेगा, दस दिन का उपवास करते हुए रहो ॥६॥ हे मित्र ! कुछ भी संशय मत करो; हे कुल-कमल-दिवाकर ! कोई भी शरण नहीं है ॥७॥ यदि शरण है तो जिनवाणी, उसे चित्त में धारण करके शुभगति पाकर संसार को मेटो । संसार-भ्रमण को नाशो ॥८॥

घत्ता—ऐसे वचन सुनकर राजा को अतोव भय उत्पन्न हुआ । ठीक ही है—मिथ्यादृष्टि को शुभगति देनेवाले जिनेन्द्र के वचन कैसे रुचिकर हो सकते हैं ॥३-८॥

[३-९]

[राजा परीक्षित का मरण तथा वणिक्-कोतवाल-वार्तालाप-वर्णन]

राजा परीक्षित ने शीशम की लकड़ी से महल और उसके पास बल-याकार जल-दुर्ग (खाई) बनवाया ॥१॥ (उसमें) आयुध-स्वरूप परम्परा से भयंकर जलचर प्राणी रहते हैं । (जो) वहाँ जाता है वह प्रवेश नहीं कर पाता ॥२॥ राजा न स्नान करता है, न भोजन करता है और न कोई विनोद-मनोरंजन करता है । उसके मन में रात-दिन शोक बढ़ता है ॥३॥ उसकी (राजा की) नौ कली (द्वार) वाली देह जहाँ थी उस स्थान (में) एक वन-तापसों ने प्रवेश किया ॥४॥ कोरंट वन से आये एक (तापस) ने चिन्ता पूर्वक कहा / पूछा—रात्रि के पिछले पहर में क्या हुआ ? ॥५॥ उससे ऐसा सुनकर दूसरा वन-तापस भी कहता है कि मेरे लिए भी राजा परीक्षित प्रिय हैं ॥६॥ दिन-दिन में देह की नयी अथवा नवीं कलियों में मेरे प्राणों को प्रवेश कराओ और पूर्ण करो / प्राण युक्त करो ॥७॥ दूसरे कोतवाल ने इस प्रकार कहा—हे वन तापस ! आप ही इस तरह (कोई) युक्ति करो ॥८॥

घत्ता—(वन-तापस कहता है)—अन्य लोगों को लेकर राजा की नौ द्वाररूप कलीवाली देह को बाँधकर सूर्योदय होने के पहले प्रभात बेला के समय उपवन में तुम लोग लाओ और खुले आकाश में दावाग्नि में जला दो / दाह-संस्कार कर दो ॥३-९॥

[३-१०]

मो होउ अर-रयणिहि विओउ । सुहि करहि कीलमाणेहि भोउ ॥१॥
 इय पडिवणुणउं वाणइय एण । जं भणिउ कोरंटियइ तेण ॥२॥
 किं वहुणा रायहु सुमण दिण्ण । भरि झल्लरि तज्ज णोए पडिण्ण ॥३॥
 रयणिहिं सुइयइ सप्पेण खदुदु । मुउ तक्कालें सो सुविस-विदु ॥४॥
 हा हा पभणंतउ णरयपत्तु । जिणधम्में विणु किह सुगइ पत्तु ॥५॥
 इत्थंतरेण धणपत्ति वाय । णिसुओ उरएं पारुक्खि-घाय ॥६॥
 पुत्थइव सहइ घल्लेविचल्लु । जा गच्छइ धणंतरुच्छइल्लु ॥७॥
 उरएं सह मित्तुउ[तहु]किओसि । पुणु भासिउ कत्थइं जाहि भासि ॥८॥
 तें भासिउ पारुक्खि जिवण-हेउ । सह पुत्थें सह चल्लिउ वि णेउ ॥९॥
 तें भासिउ पच्छय दक्खवेहिं । वडु रुक्खु वि भण्णी कियउ ताहि ॥१०॥
 पुणु पवणें पुणर वि सल्लिएण । उड्डुविउ वहाविउ तें णणेण ॥११॥
 तें पिक्खि वि चित्ति चमक्किओसि । गोवितें उरएं डंकिओसि ॥१२॥
 विह लंघलेण सो मरण पत्तु । तहु वइणेएउ[खण]खणि वि खत्तु ॥१३॥

घत्ता

होमहु लगउ उरयाहं सह, वइरु ण होई सुंदरु ।
 एवहि पुं डरियउ फणि पवरु, दियवर रूवि गयउ घरु ॥३-१०॥

[३-११]

मुय अट्टादह कुलयाइ जाम । पुं डरिउ वि दियवर पास ताम ॥१॥
 वाणारसि णयरिहि पढइ सत्थु । अइवेय एण जाणेइ अत्थु ॥२॥
 ता दियवरेण णिय कण्ण दिण्ण । भोयइं भुंजइ तहु सह खण्ण ॥३॥
 एकइया तुंग-तवंगएण । णिसि समइ वि सुहि सोवंतएण ॥४॥
 पुच्छिउ कामिणि णिय कुलु-पयासि । तें पभणिउं सप्पु वि सच्च भासि ॥५॥

[३-१०]

[राजा परीक्षित मरण, दाह संस्कार एवं नागयज्ञ वर्णन]

चन्द्र स्वरूप राजा परीक्षित का विप्रोग न हो अतः सुख पूर्वक सर्प कीलित करो ॥१॥ इस प्रकार जो उस कोतवाल के द्वारा कहा गया इस वन-तापस के द्वारा स्वीकार किया गया ॥२॥ अधिक क्या कहें राजा श्रेष्ठ मणियों से खचित ज्ञानियों का त्याग करके नीचे पड़ गया / सोया ॥३॥ सोते हुए रात्रि में वह सर्प द्वारा खाया गया / डसा गया और विष से आविद्ध होकर तत्काल मर गया ॥४॥ हाय-हाय कहता / चिल्लाता हुआ नरक गया । ठीक ही है—जिनधर्म के बिना किसे सुगति प्राप्त हुई है ॥५॥ इसी बीच सर्प दंश से राजा परीक्षित का मरण सुनकर धनपति (राजा का कोष रक्षक) पुत्र-समूह के साथ उसे लेकर घर चला तथा वहाँ से वह उछलकर धनवन्तरि (वैद्य लाने) जाता है ॥६-७॥ उसने (वैद्य ने) कहा—राजा का सर्प से मेल कराओ । धनपति ने वैद्य से कहा—कहो कहाँ जावें ? ॥८॥ वैद्य के कथनानुसार वह धनपति राजपुत्रों के साथ राजा के जीवन के हेतु परीक्षित को लेकर चला ॥९॥ पश्चात् ऊपर कहे हुए धनपति के द्वारा एक वट वृक्ष देखा गया और वह परीक्षित राजा (वहाँ) भस्म कर दिया गया ॥१०॥ पश्चात् (भस्म) उसके द्वारा क्षण भर में हवा के द्वारा उड़ा दी गयी और पानी के द्वारा बहा दी गयी ॥११॥ सर्प द्वारा दंशित गले से विचित्र चमक उसके द्वारा देखी गयी ॥१२॥ लंघन से ताड़ित होकर उसके मरण को प्राप्त होने पर वैनतेय-गरुड के द्वारा सर्प-बामी खोद डाली गयी ॥१३॥

घत्ता—वह (परीक्षित-पुत्र जनमेजय) सर्पों का होम (यज्ञ) करने लगा । कवि कहता है कि वैर भला नहीं होता है । इसी प्रकार नागराज पुण्डरीक दियवर नामक व्यक्ति के घर गया ॥३-१०॥

[३-११]

[पुण्डरीक का स्त्री से गुप्त भेद कथन तथा उससे उत्पन्न स्थिति का वर्णन]

दियवर के कुल में उत्पन्न जब अठारह (पुत्र) मर गये तब पुण्डरीक ही (शेष) पास में रहा ॥१॥ वह बनारस नगर में शास्त्रों का अभ्यास करता है । इसके द्वारा बहुत शीघ्र अर्थ जान लिये जाते हैं ॥२॥ उस दियवर के द्वारा उसे अपनी कन्या दी गयी और सभी को सुन्दर भोजन कराया गया ॥३॥ सुखपूर्वक सोते हुए रात में अकेले में इस ऊँचे-तगड़े (पुण्डरीक) से उसकी स्त्री ने अपना प्रकट करने को कहा और वह भी सर्प हूँ—सत्य

णिय रूव दक्खालहि णाह मज्झु । णउ सहिसक्कइ तें भणित्तुगुज्झु ॥६॥
 तिय असगाहें सो सप्पु जाउ । सो पिक्खि वि तें पुक्करिउ णाउ ॥७॥
 महु णाहु उरउ इहु दियहु रूवि । सु विवाहिय पिउणा खिविय कूवि ॥८॥
 इय वत्त सयल पुर-मज्झि जाय । विणएं आहूयउ गरुडु आय ॥९॥
 आएसिउ जहि पुंडरिउ णाउ । तहु चंचु विपारि वि असहिकाउ ॥१०॥
 बहु देस भमि वि वाणसि वि आउ । कूवय-उवरें चउ वच्छि थाउ ॥११॥
 ता पणिहारिहि इय कहिय वाणि । दियवर-सुय-पिउ-उरओवि जाणि ॥१२॥
 ता गरुडें जाणित्तं सयलु अत्थु । फणि भक्खणत्थु सो गयउ तेत्थु ॥१३॥

घत्ता

सो चंच (चु) पुडहि संगहिउ, अयकंपंतु वरायउ ।
 णहि गच्छंते ललियक्खरिण, तहु वोत्तियउ विणायउ ॥३-११॥

[३-१२]

तक्खय अड इहि तक्खय-सिलार्हि । चंचु-संघक्खिवि भक्खहि तार्हि ॥१॥
 इय वयणें पेरिउ सो वि गरुडु । ले गइउ वि सो तर्हि तक्ख-सिडु ॥२॥
 उवयारिउ जामार्हि भणिय वाय । जे वणियहि गुज्झु वि पंखिराय ॥३॥
 भासहि तहु जीविउ तयणु जाय । णउ इहु असच्चु कुलगयणभाय ॥४॥
 उक्तं च ॥ नोयमान सुपण्णें नागो पुण्डरीको(S)व्रवीत् ।

यो स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदंतं तस्य जीवितं ॥ १ ॥

तं णिसुणि वि जंपिउ वइणएय । एयहु विसलोयहु भणहि भेय ॥५॥
 तें तच्च रूउ भासिउ समग्गु । अत्थहु तहु केरउ मणु वि लग्गु ॥६॥
 पुणु पभणित्तं तें ललियक्खरेण । अक्खर एयहु दायारु जेण ॥७॥
 ण वि मण्णइ गुरु सो साणु जोणि । सयवारउवज्जइ दुक्खखोणि ॥८॥
 पुणु मायंगु वि कुलि उप्पज्जइ । सोय-उएह बहु दुक्खहि खिज्जइ ॥९॥
 उक्तं च ॥ एकाक्षर प्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते ।

स्वानजोनि सतं गत्वा चांडालेष्वपि जायते ॥ १ ॥

कह देता है ॥४-५॥ हे नाथ ! मुझे अपना रूप दिखाइए—(पत्नी के कहने पर वह कहता है) तुम सहन नहीं कर सकती और उसके द्वारा रहस्य कह दिया जाता है ॥६॥ पत्नी के विशेष आग्रह से वह सर्प हो गया। उस पत्नी के द्वारा वह देखा जाकर नाग-नाग चिल्लाया गया / पुकारा गया ॥७॥ मेरा स्वामी नाग है। इसने यह रूप बनाया है। पिता के द्वारा विवाह किया जाकर कुये में फेंकी गयी हूँ ॥८॥ यह वार्ता सम्पूर्ण नगर में गयी। विनयपूर्वक बुलाया गया गरुड़ आकर वहाँ आया जहाँ पुण्डरीक नाग था। वह चोंच खोलकर किसी को खाते हुए बहुत देश घूमकर बनारस आया और कुये के ऊपर वृक्ष पर स्थित हुआ ॥९-११॥ वहाँ पनहारिन के द्वारा इस प्रकार कही गयी वाणी से दियवर की पुत्री का प्रीतम नाग जानकर उससे गरुड़ ने सम्पूर्ण अर्थ / रहस्य समझ लिया और वह नाग का भक्षण करने को वहाँ गया ॥१२-१३॥

घन्ता—बेचारे को काँपते हुए पाकर (गरुड़ ने) चोंच के आघात से पकड़ लिया। आकाश में जाते हुए ललित अक्षरों से नाग ने उससे बोला / कहा ॥३-११॥

[३-१२]

[पुण्डरीक-नाग-मुक्ति-वर्णन]

हे गरुड़ ! अटवी में तक्षक शिला पर फँक कर और चोंच से आहत करके खाओ ॥१॥ इस कथन से प्रेरित होकर वह गरुड़ भी उसे वहाँ तक्षकशिला पर ले गया ॥२॥ उपकारी ने पक्षिराज से वन में जाकर जब गुप्त वचन कहे ॥३॥ वह कहता है—हे कुल रूपी आकाश के भाई ! जानेवाला वह उत्पन्न होकर जीवे ॥४॥ कहा भी है—गरुड़ पक्षी के द्वारा ले जाये गये पुण्डरीक नाग ने कहा—जो स्त्रियों को गुप्त भेद कह देता है उसके जीवन का अन्त है ॥६॥ नाग से ऐसा सुनकर गरुड़ के द्वारा कहा गया—हे विष-भोज्य ! इसका रहस्य प्रकट करो / कहो ॥५॥ उसके द्वारा यथार्थ रूप उदास मन से उसका समस्त अर्थ कह दिया गया ॥६॥ इसके पश्चात् उसके (नाग) द्वारा सुन्दर-मीठी वाणी से कहा गया कि जिसके द्वारा एक अक्षर देनेवाला भी गुरु नहीं माना जाता है वह दुःखपूर्ण पृथिवी पर श्वान योनि में सौ बार उत्पन्न होता है ॥७-८॥ इसके पश्चात् वह मातंग के कुल में उत्पन्न होता है और शीत तथा ताप के विविध दुःखों से खीजता है / दुखी होता है ॥९॥ कहा भी है—एक अक्षर सिखाने वाले को जो गुरु नहीं मानता है वह सैकड़ों बार श्वान योनि में जाकर

एकाक्षरं स्वभावेन गुरुशिष्यं निवेदयेत् ।

पृथिव्यां नास्ति तद्रव्यं यद्वृत्तान्विरणी भवेत् ॥ २ ॥

वइणेणं णिसुणिय एह वत्त । अइएण वि जायउ हरिसच्चित्त ॥१०॥
 एं भासिउ एयह अखरु वि देइ । सो इच्छु वि मणुयह गुरु हवेइ ॥११॥
 वत्तीसक्खर सिक्खिय मणिट्ट । इहु जायउ मज्झु वि परम इट्ट ॥१२॥
 पयवडि वि विसज्जिउ जाहि कत्थ । तुहुं मज्झु गुरु वि संजाउ इत्थ ॥१३॥
 गुरु-मारणेण महपाउ होउ । पावेण वि णरएं वसइ सोइ ॥१४॥

घत्ता

दाणेण वि एयस लोय वरु, तहु जीविउ उव्वरि यउ ।

गउ आयासं सवण गुरु, णउ वि धरणिहिं तुरियउ ॥ ३-१२ ॥

[३-१३]

हो लोयहु थी भेउ ण दिज्जइ । थी भेएं दुहरासिहि खिज्जइ ॥१॥
 चारुयत्तु वहु आवय पत्तउ । धणु खाइ वि परदेस वि पत्तउ ॥२॥
 जसहरु गल कंदलहिं वियारिउ । पुणु विस-लड्डुय देविणु मारिउ ॥३॥
 गोवईयइ चोरहु आलिंगणु । दिण्णउ अहरुल्लउ खंडिउ पुणु ॥४॥
 रत्तादेविए पंगुल णिमित्तु । पिउ तं ति वेढि सरिदहिं णिहित्तु ॥५॥
 जोइय-कारणि राणी सुरेण । पिउ मारिवि अग्गिहिं खविय देह ॥६॥
 अवराह चरित्तइं को गणई । सो मूढउ जो कलणा कुणई ॥७॥
 वीखइय पमुह अवराइ-जाय । ते इह को भणइ हो वि राय ॥८॥

घत्ता

इय जाणिवि, मण माणे वि, संसउ मणहिं ण किज्जइ ।

हो सेणिय, अरिच्चिडसेणिय, णउत्थीयहिं पत्तिज्जइ ॥ ३-१३ ॥

चाण्डालों में भी उत्पन्न होता है ॥१॥ एक अक्षर के सिखाने और सीखने से स्वभाव से वे गुरु-शिष्य कहे जाते हैं। पृथिवी पर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसे देकर (गुरु के ऋण से शिष्य) ऋण रहित हो जावे ॥२॥ यह वृत्तान्त सुनकर गरुड़ के मन में हर्ष उत्पन्न हुआ ॥१०॥ उसने कहा—(जो) एक अक्षर भी देता है / सिखाता है वह स्त्रियों और मनुष्यों का गुरु हो जाता है ॥११॥ इसने मनोज्ञ बत्तीस अक्षर सिखाये हैं अतः यह मेरा परम इष्ट / हितैषी हो गया है ॥१२॥ इस प्रकार तुम मेरे गुरु हो गये हो, जाओ ! कहकर (और) पैर पकड़कर/नमन करके छोड़ दिया ॥१३॥ गुरु के मारने से महापाप होता है (जो ऐसा करता है) वह इस पाप से नरक में रहता है / उत्पन्न होता है ॥१४॥

घत्ता—दान के द्वारा (नाग) लोक में श्रेष्ठ हुआ, (प्राण-संकट से) उबर गया। उसे जीवन मिला/जिया। श्रमण-गरुड़ आकाश में और गुरु नाग भी शीघ्र पृथिवी में चला गया ॥३-१२॥

[३-१३]

[स्त्री-प्रतीति-फल सूचक दृष्टान्त]

हे पुरुष ! स्त्री (पत्नी) को भेद नहीं दें। भेद देने से दुःख की खान स्त्री खिजाती है / दुखी करती है ॥१॥ चारुदत्त को आपत्ति प्राप्त हुई। धन का क्षय हो जाने पर (उसे) परदेश मिला ॥२॥ यशोधर के कपोल और कण्ठ विदीर्ण करने के पश्चात् विष के लड्डू देकर मार डाला गया ॥३॥ गोपवती ने चोर को आर्लिंगन करने दिया, होंठ खाने दिये पश्चात् उसे मार डाला ॥४॥ रत्तादेवी ने पंगुल के लिए पति को ताँत की रस्सी से लपेटकर और जलाकर सरोवर में फेंका ॥५॥ योगी के निमित्त से देवांगना ने पति को मारकर उसकी देह अग्नि में फेकी ॥६॥ अपराधी के चरित्र को कौन गिनता है ? वह मूर्ख है जो कलकल ध्वनि करने वाली नदी को लाँघता है ॥७॥ हे राजन् ! अपराधिनी स्त्रियों में प्रमुख हुई वीरवती (नारियों) को तुम्हें कौन कहता है ॥८॥

घत्ता—शत्रु रूपी पक्षियों के लिए बाज पक्षी स्वरूप हे श्रेणिक ! इस प्रकार जानकर मन से मारें। मन में संशय नहीं करें। स्त्रियों पर प्रतीति नहीं करें ॥३-१३॥

इय महाराय सिरि अमरसेणचरिए ।
 चउ-वग्ग-सुकह-कहामयरसेण-संभरिए ।
 सिरि पंडिय मण्णिकक विरइए ।
 साधु श्री महणासुय चउधरी देवराज णामंकिए ।
 सिरि अमरसेण रज्जलंभ ।
 सिरि वइरसेण मागहि वेस....
 वराणणं णाम तिज्जं इमं परिच्छेयं सम्मत्तं ॥ संधि ॥३॥
 वाणी यस्य परोपकारपरमार्चिताश्रुतार्थे सदा,
 काया सर्व्वविविद्धिपूजनिरता कीर्त्तिजंगघ्यापिनी ।
 वित्तं यस्य विभाति नित्य सततं सत्पात्रवानोद्यमे,
 सो नंछादवनोतले गुणनिधिः श्री देवराजाभिधः ॥
 ॥ आसीर्वावः ॥ १ ॥



हिन्दी-अनुवाद

श्री पंडित माणिक्य द्वारा साहु श्री महणा के पुत्र चौधरी देवराज के लिए रचा गया यह महाराजश्री अमरसेन का चरित चारों वर्ग की सुन्दर कथा रूपी अमृत रस से पूर्ण है। इसमें अमरसेन को राज्य की प्राप्ति तथा वइरसेन के द्रव्य का मागधी वेश्या द्वारा विभाजन का वर्णन करनेवाला यह तीसरा परिच्छेद / संधि पूर्ण हुआ। कवि का आशीर्वाद है कि—

जिसकी वाणी परोपकार करने में श्रेष्ठ है, जिसे सर्वदा श्रुत की चिन्ता रहती है, जिसका शरीर वृद्धजनों की सेवा में निरत है, जिसकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त है, जिसका धन निरन्तर नित्य सत्पात्र के दान रूपी उद्यम से सुशोभित होता है, वह देवराज नाम का गुण निधि पृथिवीतल पर आनन्दित रहे।



चतुर्थ परिच्छेद

[४-१]

ध्रुवक

जव गइय विज्ज अंवहं तणिय,
णरवइ-सुउ मणि जूरिऊ ।
सुइणाण-वलेण वि तेण तहं
कहमवि अप्पउ धीरऊ ॥ छ ॥

यउ चिंति वि णिव-सुउ णिय मणेण । इव किज्जइ उज्जमु गइ खणेण ॥१॥
विणु उज्जम विणु णउ कज्ज-सिद्धि । विणु उज्जमाइ णउ होइ रिद्धि ॥२॥
तहं णयर-मज्झि णिव-सुउ भमेइं । किय कम्महं पेरिउ कित्थु णउ रहेइ ॥३॥
गउ संज्ञाकाले णयर-वाहि । देवालइ-सुण्णइ-उववणाइ ॥४॥
वइसेणि वइट्ठ-उ मज्झि जाम । अण्णेकु कहं तरु होइ ताम ॥५॥
णिय देस-भाय वसु-रिद्धि चत्तु । णवयार-गुणइ जिण-पाय-भत्तु ॥६॥
तं समयं तक्कर अद्ध-रत्ति । चत्तारि समायइं पाव मुत्ति ॥७॥
विज्जाहरु-तय विज्जासमेउ । घरुदारु-चइ वि जोइयउ जउ ॥८॥
जोई मुसेवि परधणहं लुद्ध । पलु मयला-भक्खण अइ विरुद्ध ॥९॥
देवगिहि जहत्थिउ कुमरु पत्त । परसप्पर कंदरु-करहि तत्त ॥१०॥
तिणि समयहं तक्कर सेण करि । तहियाणिउ तक्कर एहु तुरि ॥११॥
कुमरें तह तक्कर रयणि पिट्ठ । किं कज्जें झयडहु भणहु इट्ठ ॥१२॥
तो रयणीहरहि-हकारि लिउ । वइसारिउ णिय पासेहि तुरिउ ॥१३॥
बुज्झेइ कुमरु किं कज्ज इत्त । परसप्पर-कदरु करहु भत्त ॥१४॥
तं कारणु साहहु महु णिरुत्तु । हउ झयडहु फेडउ तुमत्तु मंतु ॥१५॥

घत्ता

तं सुणि सुह-वयणइं, मणि धरि रयणइं,
साहहि तक्कर सुणहि तुहं ।
हम्मह तइ वत्थइं, बहु गुण-जुत्तइं,
कंथा-पावलि लउडि इहु ॥ ४-१ ॥

[४-१]

[वइरसेन की तस्करों से भेंट एवं पारस्परिक वार्तालाप]

ध्रुवक

आम्रवृक्ष से सम्बन्ध रखनेवाला जब विद्या चली गयी (तब) राजपुत्र वइरसेन मन में खेद-खिन्नित होता है । तब श्रुतज्ञान के बल से उसके द्वारा जिस-किसी प्रकार थोड़ा धैर्य धारण किया गया ॥छ॥

राजपुत्र अपने मन से इस प्रकार चिन्तन करता है कि इस समय वह तत्काल उद्यम करे ॥१॥ बिना उद्यम के कार्य की सिद्धि नहीं । उद्यम किए बिना ऋद्धि नहीं होती ॥२॥ राजपुत्र नगर में धूमता है । कहीं भी रहो अर्जित कर्म दुःख देते ही हैं ॥३॥ संध्यावेला में वह नगर के बाहर उपवन के एक निर्जन देवालय में गया ॥४॥ उसमें जहाँ वइरसेन बैठा, वहाँ कोई एक दूसरा भी होता है ॥५॥ वह जिनेन्द्र के चरणों का उपासक अपने देश, भाई और आठों ऋद्धियों का त्याग करके (वहाँ) नवकार मन्त्र जपता है ॥६॥ उसी समय अर्द्धरात्रि में पाप की मूर्ति (वहाँ) चार चोर आते हैं ॥७॥ (उन्हें) घर-द्वार छोड़कर जयी योग में रत लीन विद्याओं सहित योगी विद्याधर की—पराये धन के लोभी, मलिन वस्तु के खानेवाले अति विरुद्ध वे पल भर में योगी को लूट करके देवालय में जहाँ कुमार बैठा था वहाँ आकर परस्पर में झगड़ते हैं ॥८-१०॥ उसी समय संकेत करके यह चोरों को शीघ्र वहाँ ले गया (जहाँ वह था) ॥११॥ वहाँ रात्रि में कुमार के द्वारा चोरों से पूछा गया कि तुम क्यों झगड़ते हो, इष्ट बात कहो ॥१२॥ तब कुमार ने पहरेदार को बुला लिया और शीघ्र अपने पास बैठा लिया ॥१३॥ कुमार पूछता है—हे भाई ! परस्पर में यहाँ किस कारण से झगड़ते हो ॥१४॥ वह कारण एवं रहस्य मुझे बताओ, मैं निश्चय से तुम्हारा झगड़ा मिटाता हूँ ॥१५॥

घत्ता—रात्रि में कुमार के सुखकर वचन सुनकर और मन में धारण करके चोर कहता है—आप सुनें । बहुत गुणों से युक्त कथडी, पावडी और लाठी ये हमारी तीन वस्तुएँ हैं ॥४-१॥

[४-२]

ए तिण्णि-वत्थ-भक्खाइं जोइ । हमइं चयारि णउ वंदु होइ ॥१॥
 तं कज्जें झयडहि इत्थ जोइ । णउ झयडउ फेडइ अम्ह कोइ ॥२॥
 जइ जाणहि झयडउ-हरि सुवत्त । अम्होपरि दयकरि भव्व मित्त ॥३॥
 तें वयणें सो वि कुमारु वुत्तु । इणि तिण्णि-वत्थ-गुणु कहहु जुत्तु ॥४॥
 जें कज्जें लग्गहु वार-वार । तो भर्णाहि सुणइ णिव वण-भयार ॥५॥
 तह जोई एकु मसाणभूमि । विज्जा साहंतउ णिजण-वणमि ॥६॥
 रस-मासह साहिय णिच्च जोइ । बहुकालें सिज्झिय विज्ज सोइ ॥७॥
 संतुट्ठी विज्जा जोइ एहिं । द्विय कंधा-जट्टिय-पावलीहिं ॥८॥
 गय तिण्णि वत्थ गुण साहि विज्जु । जोई सह अम्हहं सुणिउं-चुज्जु ॥९॥
 रस-मास रहिय हमि रण्ण ईहिं । संहारिउ जोई हमि हिं तहिं ॥१०॥
 ए वत्थ तिण्णि हमि ले वि आय । जं जाणहि इव करि अम्ह भाय ॥११॥
 तो वयणु सुणेप्पिणु वइरसेभि । महु अक्खहु पिहउ वि सुच्छुखोणि ॥१२॥
 तो गरुव-चोरु अक्खेइ सुणु । इह कंधा झाडइ रयण-मणु ॥१३॥
 त रव्व-नेय दिणि-दिणि पडंत । बहु रोड-बिहंडण सुहइ-वित्त ॥१४॥
 जट्ठिय सिर-सत्तुह फिरइ उवरि । विज्जुज्जल जलहर-तेय तुरि ॥१५॥
 सिर-कमलइं खंड-सेणु दलए । पुणु आइ वि सामि हिं कर-वडए ॥१६॥
 पावडिय पाय आरुहइ जं जि । जं इच्छा-पुरइ खणि हिं तं जि ॥१७॥
 सा लेहि खणद्धें गयणमाहं । राहुं गयणु फिरइ णिय मरकताहं ॥१८॥
 पुणु आवइ देयं सुकिय थणि । आयासगामि पावलिय जाणि ॥१९॥

घत्ता

तं वित्तंतु सुणेविणु, हियइं धरेप्पिणु,
 रहिउ अचुज्जइ कुमरु तहिं ।
 तइ वत्थइं एयइ, विहि संजोयइं,
 चडहि हत्थमहु एवहि ॥ ४-२ ॥

॥ उक्तं च ॥ दानेतपसीवीजवं, विज्ञान-विनए न च ।

विस्मयो नहि कर्त्तव्यं, बहु रत्नानिवसुन्धरा ॥ १ ॥

[४-२]

[वडरसेन को चोरों से तीनों की वस्तुओं एवं उनके माहात्म्य की प्राप्ति]

भव्य जनों के योग्य ये वस्तुएँ तीन हैं और हम लोग चार हैं अतः बटवारा नहीं होता है ॥१॥ हे योगी ! इसी कारण से (हम) झगड़ते हैं । कोई हमारा झगड़ा नहीं मिटाता है ॥२॥ हे सुमुख, भव्य मित्र ! यदि जानकार हो तो हमारे ऊपर दया करके झगड़ा मिटाओ ॥३॥ उसके द्वारा कहे गये वचन सुनकर कुमार (वडरसेन) ने कहा—इन तीनों वस्तुओं के एक साथ गुण कहो ॥४॥ जिस प्रयोजन से बार-बार लगे हो हे राजन् ! वन में भय से दुःखी होकर कहता हूँ सुनो—॥५॥ वहाँ निर्जन वन की श्मशान भूमि में एक योगी विद्या की साधना करता है ॥६॥ उस योगी ने छह मास पर्यन्त निरन्तर साधना की जिससे बहुत काल में सिद्ध होने वाली विद्या उसे सिद्ध हुई ॥७॥ विद्या ने संतुष्ट होकर इस योगी को कथरी, लाठी और पावली दी ॥८॥ विद्या तीनों वस्तुओं के गुण कहकर चली गयी । योगी के साथ हमने (भी) आश्चर्य (सहित) सुना ॥९॥ इस वन में छह मास पर्यन्त रहकर हम ही ने वहाँ योगी का घात किया ॥१०॥ ये तीनों वस्तुएँ हम ले आये । हे मेरे भाई ! अब जो जानो करो ॥११॥ उनके वचन सुनकर वडरसेन ने कहा—हे शुद्ध हृदय ! मुझे जो प्रिय है (वस्तुओं का गुण) (वह) कहो ॥१२॥ तब प्रधान चोर कहता है सुनो—इस कथरी से रत्नमणि झड़ते हैं ॥१३॥ सूर्य के समान दीप्तिमान् दरिद्रता के विनाशक सुख देनेवाले (वे रत्न) प्रतिदिन झड़ते हैं ॥१४॥ लाठी बादलों में बिजली के समान शीघ्रता से घूमती है ॥१५॥ वह सैन्यदल के सिर रूपी कमलों को खंड करके शीघ्र अपने स्वामी की हथेली पर पुनः आ जाती है ॥१६॥ जो पावड़ी पैरों में पहि-
नता है वह उसकी क्षण भर में इच्छा पूर्ति करती है ॥१७॥ वह क्षण भर में आकाश के मध्य में ले जाकर मर्कट के समान आकाश में घूमती है ॥१८॥ पश्चात् वह वेग पूर्वक अपने स्थान पर आ जाती है । पावली को आकाशगामिनी जानो ॥१९॥

घत्ता—उससे समस्त वृत्तान्त सुनकर और हृदय में धारण करके कुमार वहाँ चुप रहा । इस प्रकार उसे तीनों वस्तुएँ विधिपूर्वक संयोग से हाथ लग जाती हैं ॥४-२॥

कहा भी है—दान, तप, वीर्य, विज्ञान और विनय में विस्मय नहीं करना चाहिए । पृथिवी बहु रत्नों को धारण करनेवाली है ॥१॥

[४-३]

तं णिसुणेप्पिणु कुमरु-वुत्तु । इव झयडउ फेडमि तुम-तुरंतु ॥१॥
 हउ वंट्टि देमि तुमि चहुमि वत्थ । जं सुहु संपज्जइ सव्व इत्थ ॥२॥
 तहं मण्णि उवेयंकर हि भव्व । णिय घरहिं पयट्टहि सुहहि भव्व ॥३॥
 तो वयणु सुणेप्पिणु रायपुत्तु । णिय कला-विणाणहिं मइ सजुत्तु ॥४॥
 अप्पहु महु तिण्णि ति वत्थ झत्ति । देसउ मण-इच्छिय तुम्ह थंत्ति ॥५॥
 तो दिण्ण लेवि किय अप्प हत्थ । पावलिय चित्त णिय चरण सुत्थ ॥६॥
 जंठिय कर गिण्हिय तत्थ धुत्त । कंथा उरि पहिरिय रयण-दित्त ॥७॥
 गउ लहु आयासह रहस-जुत्तु । गिरि-सायर-णइ-पुर लघि तत्तु ॥८॥
 वेणुं कंचणपुर-मज्झि पत्तु । वीराण-वीर धुत्ताण-धुत्तु ॥९॥
 सुह-कम्महं संपइ लद्ध तत्तु । जं पुव्व मुणें दाणेण-पत्तु ॥१०॥
 तहं चोर विलक्खइं भयइं ताम । सिरु-धुणहि णियंकरु-मलहि जाम ॥११॥
 बहुजाइ जाइ णह चोर-मोसु । हम ठगिय महाठग करि विओसु ॥१२॥
 हा-हा हमि किं किउ तुज्झु दईय । मण-इच्छ वत्थ दइच्छिणि लईय ॥१३॥
 खण मासह सेय उपेय वणु । तिस-भुक्ख-दुक्ख बहु सहिय पुणु ॥१४॥
 मारिउ जई लिय विज्ज-तिण्णि । छलुकरि वि अवरु लइ गयउच्छिणि ॥१५॥
 किं करहि इवहि कहु कहहि वात । णं जाणहि कहि गउ धुत्तु-भत्त ॥१६॥
 यउ चित्ति वि णिय-णिय घरह पत्त । इत्थंतरि कुमरह रहस चित्त ॥१७॥
 तहं कंथा झाडइ वर पबित्त । सयसत्त-रयण महि पडिय तत्त ॥१८॥
 ते लेप्पिणु कूरह दूत-कीड । हंडइ सह-णयरह गुण-गहीड ॥१९॥
 सुच्छइ विविह विलासइं माणइं । पुरयण-रंजइ वहुविह दाणइं ॥२०॥

घत्ता

कंदप्पहं रूवहं, अणिगण विभूयहं,
 पउमिणि-उर महुयर सरिसु ।
 अवरहिं विणि वेसहिं, दिट्ठु कुमरु तहिं,
 मगणयण तहु भणहि जसु ॥४-३॥

[४-३]

[चोरों का पश्चाताप, वइरसेन को वस्तुओं की प्राप्ति एवं
कंचनपुर-आगमन]

ऐसा सुनकर कुमार वइरसेन ने कहा—तुम्हारा झगड़ा अभी तुरन्त मिटाता हूँ ॥१॥ मैं—यहाँ सबको सुखकारी वस्तुएँ तुम चारों को बाँट देता हूँ ॥२॥ (वे चोर) उसे भव्य और उपकारी मानकर सुखपूर्वक पैदल ही अपने घर ले गये ॥३॥ कला और विज्ञानमति से युक्त राजपुत्र ने चोरों का कथन सुनने के पश्चात् कहा—तुम अपने स्थान-घर पर मनोरथ की पूर्ति करने में समर्थ तीनों वस्तुएँ शीघ्र मुझे दो ॥४-५॥ उन्होंने वस्तुएँ दीं । वइरसेन ने वस्तुएँ अपने हाथ में लेकर पावली स्वस्थ चित्त से चरणों में पहनी ॥६॥ लाठी हाथ में लेकर और रत्न देनेवाली कथरी हृदय पर पहिनकर वह धूर्त हर्ष युक्त होकर शीघ्र आकाश (मार्ग) में गया और पर्वत, समुद्र, नदी तथा नगर लाँघकर वीरों में प्रधान वीर और धूर्तों में प्रधान धूर्त वह शीघ्र कंचनपुर पहुँचा ॥७-९॥ पूर्व में सुपात्र को दिये गये दान रूपी शुभ कर्म से उसे सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥१०॥ प्रधान चोर तब वहाँ दुःखी होता है, सिर कूटता है और हाथ मलता रह जाता है ॥११॥ (वह कहता है)—यह मायावी चोरों को मूसकर (उन्हें) आकाश से जा रहा है । हम यदि ठग हैं तो वह महाठग है ॥१२॥ (वे चोर पश्चाताप करते हुए कहते हैं) हाय ! हाय ! हे विधाता ! तूने हम पर यह क्या किया ? मन-इच्छित फल देनेवाली वस्तुएँ देकर क्षण भर में ले लीं ॥१३॥ छह मास पर्यन्त भूख-प्यास आदि के अनेक दुःख सहकर और वन में रहकर योगी का वध करके तीन विद्याएँ प्राप्त की थीं, जिन्हें छल करके दूसरा क्षण भर में ले गया ॥१४-१५॥ अब क्या करूँ, किससे यह वार्ता कहूँ ? वह धूर्त कहाँ गया ? हे भाई ! नहीं जानता हूँ ॥१६॥ ऐसा विचार करके वे अपने-अपने घर गये । इसके पश्चात् कुमार हर्षित चित्त से पवित्र कथरी को झाड़ता है, सात सौ रत्न पृथिवी पर गिरते हैं । उन्हें लेकर गुणों से गम्भीर यह दुष्ट कुमार नगर-वासियों के साथ घूमता है और जुआ खेलता है ॥१७॥ अपनी इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार के भोग भोगता है, अनेक प्रकार के दान देकर नगर-वासियों का मनो-रंजन करता है ॥१८॥

घत्ता—कामदेव के समान रूपवान्, अगणित वैभवधारी, स्त्रियों के हृदय में भ्रमर के समान कुमार दूसरे दिन बेश्या को दिखाई दिया । याचक उसका यश-गान करते हैं ॥४-३॥

[४-४]

गय विद्ध-वेस वइसेणि-थाणि । सा भणइ णिसुणि भो अमियवाणि ॥१॥
 महु पुत्ति मागही तुव-विओय । पहिरे सेयंवर तुव विसोय ॥२॥
 णिय-वेणी-दंडं मुक्क-केस । णउ ण्हाइ-असइ पिय-रहिय वेस ॥३॥
 णउ जंपइ णयणह जुवइ तत्थ । हूयउ विओउ तव तणउ जत्थ ॥४॥
 खटवट्टिय-पट्टिय लेवि सुत्त । तव विरहिं तत्तिय मज्झु पुत्त ॥५॥
 जं चलग्गु पाण ण जंति क्षत्ति । उद्धरहि कुमरु वलु वेइ पत्ति ॥६॥
 तो णिसुणि गयउ तह वइरसेणि । जहिं कुट्टणि-पुत्तिय पाव-खाणि ॥७॥
 सा कवलें जंपइ कुमर सुणि । मइ पाविणि वुरवउ कियउ जणि ॥८॥
 जं णिस्सारिउ तुह चंदमुहु । महु खमहि देव अवरहु तुहु ॥९॥
 जं कियउ कम्मु मइ दुम्मईहिं । तं मत्थइ पडियउ महु इहीहिं ॥१०॥
 तं इह अवत्थ महु पुत्ति आय । रोवंति रयणेदिणु तुव बुहाय ॥११॥
 णउ तणु-सिगालइ एय वाल । णउ वद्धइ वइणी लंवाल ॥१२॥
 उक्तं च ॥ कौसंभ कज्जलं कामं, कर्ण-कुंडल-कामुका ।

गत्ता भर्तारि नारीणां, ककारा पंच दुर्लभाः ॥१॥

तं सुणि वि कुमर चित्तिउ मणेण । पुणु इव पाविणि महुच्छलइ केण ॥१३॥
 वहु करइ डंभु भो डवइ-लोहिं । महु हियइ इट्ठुच्छडिलयउ एहिं ॥१४॥
 सहकार-फलह महु भेउ लेइं । णिस्सारिउ णिय गिह करु गहेइ ॥१५॥

घत्ता

तं फलु इव दावमि, विद्धवि गोयमि,

णिय परिहउ सारेमि लहु ।

किय दाय-उपायहं, वलच्छल भायहं,

लेमि चूयफलु लियउ महु ॥४-४॥

[४-४]

[वइरसेन के वियोग में वेश्या-पुत्री की स्थिति, पश्चाताप,
वइरसेन का वेश्या के घर पुनरागमन एवं अपने खोये आम्र-
फल की प्राप्ति का चिन्तन]

वह वृद्धा वेश्या वइरसेन जहाँ था उस स्थान गयी। वह अमृत तुल्य वचनों से कहती है—हे वइरसेन ! सुनो ॥१॥ मेरी मागधी पुत्री तुम्हारे वियोग के शोक से सफेद वस्त्र पहिनती है ॥२॥ अपनी चोटी एवं केशों को खोल रखा है, न नहाती है, न खाती है। प्रिय वेप-भूषा रहित है ॥३॥ जब से आपका वियोग हुआ है तब से यह बाँलती (भी) नहीं है (केवल) नेत्रों से निहारती है ॥४॥ हे मेरे पुत्र ! तुम्हारे विरह से चारपाई (खाट) की पाटी लेकर सोयी है ॥५॥ हे कुमार ! प्राण निकल कर जाने के पहले शीघ्र पहुँचकर उद्धार करो ॥६॥ ऐसा सुनकर वइरसेन वहाँ गया जहाँ पाप की खदान उस कुट्टिनी वेश्या की पुत्री (थी) ॥७॥ किवाड़ से वह वेश्या की पुत्री कहती है हे कुमार सुनो—मुझ पापिनी ने (इस) तरह बुरा किया जो कि चन्द्र के समान मुखवाले तुझे निकाला। हे देव ! आप मेरा अपराध क्षमा करो ॥८-९॥ मुझ दुर्मति के द्वारा जो कर्म किये गये वे यहीं मेरे माथे पड़े ॥१०॥ तुम्हें दुःखाकर मेरी पुत्री इस स्थिति में आ गयी है कि वह रात-दिन रोती है ॥११॥ यह बालिका शरीर का शृङ्गार नहीं करती, न लम्बे बालों की चोटी बाँधती है ॥१२॥ कहा भी है—कौसंभ-रेशमी वस्त्र, काजल, काम (रति क्रिया), कर्ण-कुण्डल और कार्मुक-कार्य करने के योग्य—ये पाँच ककार पति-विहीन स्त्रियों के दुर्लभ होते हैं ॥१३॥

ऐसा सुनकर कुमार ने मन से विचारा कि यह पापिनी मुझे अब पुनः कैसे छलती है/छल सकती है ॥१३॥ डब-डबाये नेत्रों से यह बहुत दम्भ करती है। इसी के द्वारा मेरी हृदय प्रिय वस्तु छली गयी है ॥१४॥ इसी ने आम्र-फल का भेद लेकर मुझे हाथ पकड़कर अपने घर से निकाला है ॥१५॥

घत्ता—अब उसे इसका फल चखाता हूँ। वाक् संयम से आविद्ध करके सभी का प्रतिकार लेता हूँ। यत्न और उपाय करके छल बल पूर्वक मेरे लिए हुए आम्रफल को इससे शीघ्र ले लेता हूँ ॥४-४॥

[४-५]

थिर होइ किति थिर-कम्म धुवे । थिर भव्वु-अभव्वु वि जीउ भवे ॥१॥
 थिरुदाणु-सुपत्तहं भव्व-दिए । थिर सत्तुह-मिती भाय किए ॥२॥
 पुणु एवहि लंजिय लइउ भेउ । मंडे वि कवडु णिय-कज्ज-हेउ ॥३॥
 इउ च्चित्तु मारह-हरखचित्तु । सुहि अच्छहि वेसहिं गेहि धुत्तु ॥४॥
 कइहव दिण वित्तइं लंजियाहिं । अक्खिउ णिय पुत्तिहिं समउ ताहिं ॥५॥
 लहु वुज्झहि पुत्तिय विडु विणाहु । कह तुव पहि संपइ णइ-पवाहु ॥६॥
 कच्छिज्जइ विडयणु णिय घरेहिं । लिज्जइ तं संपइ करिच्छलेहिं ॥७॥
 जहं देसहं णिव-त्तित्तिण पुज्जइ । जहं रोडयाहं णउ णिद्ध उपज्जइ ॥८॥
 जहं हुयासु पुर-वण णउच्छंडइ । जहं पइव्व णिय सीलु ण खंडइ ॥९॥
 जहं सायरु वहु णइहिं ण तिप्पइ । जहं जइवरु कम्मह गणु कप्पइ ॥१०॥
 जहं हरि जुइ-जिण-त्तित्तिण तिप्पइ । तहं हम्मि पुत्ति विड-धण ण तिप्पइ ॥११॥
 ववसायहं विणु णउ होइ लच्छि । यहु अणुदिणु विलसइ दाण सुच्छि ॥१२॥
 तं णिसुणि वि कुंदलयाइं वुत्तु । सइ-खंड-जीह तुव होइ तत्तु ॥१३॥
 जं जंपहि एहउ वयणु दुट्ठि । पुणु लग्गिय पाविणि एह पुट्ठि ॥१४॥
 पइं लियउ एह सहकार-फलु । तं सुज्जगामि णिहिं देइ णिलु ॥१५॥
 इव दिणि-दिणि इह णरु अम्ह घरि । अप्पइ वहु संपइ विविह परि ॥१६॥

घत्ता

इसु वुरउ ण किज्जइ, वहु सुहु दिज्जइ,
 इह सरि वीउ ण अत्थि णरु ।
 यहु महु मण वल्लहु, पउमिणि दुल्लहु,
 णउच्छंडउ खण इक्कु लहु ॥४-५॥

[४-५]

[वइरसेन के प्रति वेश्या का दुर्भाव एवं उसकी पुत्री कामकंदला का सद्भाव-वर्णन]

निश्चय से स्थिर-कीर्ति स्थिर-कार्यों से होती है। संसार में जीव भी स्थिर भव्य और अस्थिर भव्य कर्म से ही होता है ॥१॥ भव्य सुपात्रों को देने से दान स्थिर होता है, शत्रु को भाई बनाने से मैत्री स्थिर होती है ॥२॥ इसी वेश्या ने भेद लिया है। अपने कार्य के लिए कपट रचता हूँ ॥३॥ ऐसा विचार करके हर्ष के मारे सहर्ष चित्त से वह धूर्त वइरसेन सुखपूर्वक वेश्या के घर रहता है ॥४॥ वेश्या के यहाँ कई दिन बीत जाने पर उस वेश्या ने अपनी पुत्री से कहा ॥५॥ हे पुत्री ! अपने जार स्वामी से शीघ्र पूछो—नदी के प्रवाह के समान सम्पत्ति तुम्हारे पास कहाँ से (आती है) ॥६॥ छल करके उसकी सम्पत्ति ले लें और व्यभिचारी को अपने घर से काढ दें/निकाल दें ॥७॥ जैसे राजा की देश-पिपासा शान्त नहीं होती, दरिद्रियों के निधियाँ उत्पन्न नहीं होतीं ॥८॥ अग्नि-नगर और वन को नहीं छोड़तो अर्थात् सभी को जला देती है, पतिव्रता जैसे अपने शील का खण्डन नहीं करती ॥९॥ जैसे समुद्र बहुत नदियों से तृप्त नहीं होता, जैसे यतीश्वर कर्म-समूह को काटता है ॥१०॥ जैसे इन्द्र की जिनेन्द्र के दर्शन की प्यास तृप्त नहीं होती, वैसे ही हे पुत्री ! हमारी व्यभिचारी के धन से तृप्ति नहीं होती है ॥११॥ व्यापार के बिना लक्ष्मी नहीं होती। यह स्वेच्छानुसार प्रतिदिन दान देता है ॥१२॥ ऐसा मुनकर (वेश्या की पुत्री) कुन्दलता ने कहा—हे माता ! तब तो तेरी जीभ के सौ टुकड़े हों जो तू हे दुष्टा ! ऐसे वचन कहती है। हे पापिनी ! फिर इसके पीछे लग गयी ॥१३-१४॥ पहले लिए हुए इस आम्रफल और इसकी आम्र-फल रूप सूर्यगामी निधि निश्चय से उसे दे दे ॥१५॥ यह मनुष्य प्रतिदिन हमारे घर विविध प्रकार की बहु सम्पदा अर्पित करता है ॥१६॥

घत्ता—इसका बुरा न कीजिए, इसे बहुत सुख दें। इसके समान दूसरा मनुष्य नहीं है। स्त्रियों के लिए दुर्लभ यह मेरे मन को प्रिय है। इसे पाकर एक क्षण के लिए (भी) मत छोड़ो ॥ ४-५ ॥

[४-६]

जाहि दुट्टु महु णयणहं अग्गइं । पडउ वज्जु तुव लोहणि-मत्थइं ॥१॥
 तं णिसुणि वि पुत्ति-दुहवयणइं । णउ लग्गइ विद्धह सुइयरणइं ॥२॥
 भय विलक्ख किण्हाणण-थेरी । चित्तइ णिय मणम्मि विवरेरी ॥३॥
 णउ च्चल्लइ महु किउ धुउ एवहिं । तं वलि भेउ भेउ इव कुमरहिं ॥४॥
 विद्ध-वेस अक्खेइ कुमारहं । जोणिय रूवें जिण इव मारहं ॥५॥
 णउ करेइ वावार-सहासहं । दिणि-दिणि दीसइ णिहि तुव पासहं ॥६॥
 कहि-कहि माणि णिसर सच्च महं । जं होइ सुक्खु महु हियइ वहु ॥७॥
 उक्तं च ॥ अवला सिद्धमन्नं च, कर्षणं फलिताद्रुम ।

चत्तारि रक्खणीयानि- लक्ष्मीवृंदं च पंचमी ॥१॥

सुणि विद्ध-वेस धुउ भणउं तुज्झु । आयासगामि-पावलिय मज्झु ॥८॥
 तं तेय-पसूय तिण्णि लोय । ले आवउ संपइ लहु भमेय ॥९॥
 जोवउ सुरणर-भुइवासि-देव । जीवाइ असंखइं विविह भेय ॥१०॥
 णउ आवागमणु ण मुणइ कोइ । विलसउ वहु संपइ पुण्ण हेइ ॥११॥
 तं णिसुणि वि माया करइ वेस । महु मणह-मणोहर हुव असेस ॥१२॥
 भो णिसुणि कुमर महु दय करेहिं । मइं वोलि उवाई तुव गएहिं ॥१३॥
 जइ आवइ महु घर कुमर भत्ति । लहु जाइ मज्झु चित्तेहि अत्ति ॥१४॥
 कंदप्पदेव-जइ सयलु तुहुं । लहु करउ जान कुमरेण सहुं ॥१५॥
 इव पव्वउ पुज्जिउ मज्झु वेइ । तहं जाइ ण सक्क दुसज्झु सोइ ॥१६॥
 सायरहं मज्झि कदप्प-थाणु । किउ वंदउ सुरु महु सुह-णिहाणु ॥१७॥
 तुव पाय-पसायहं णमउ देउ । दय करि लइ च्चल्लहि जाय हेउ ॥१८॥
 तं णिसुणि वि चित्तिउ कुमर त्तिहिं । इव खिवउ समुद्धं मज्झि इहिं ॥१९॥
 लहु जाइ सल्लु महु हियइ म्महिं । णिपडिहउ फेडउ हियइ-महिं ॥२०॥
 जइ सायर-मज्झहि मिच्छदेउ । णउ गमणु जिणागम-सुणिउ भेउ ॥२१॥
 णिय कज्ज अत्थ ले जाउ ज्जहिं । मुक्कउविर लुट्टणि मरइ त्तिहिं ॥२२॥
 पावलिय पहावहे णह सुहेण । गउ विद्ध दासि लइ सरणिहेण ॥२३॥

[४-६]

[वेश्या की वइरसेन के साथ कपटपूर्ण कन्दर्प-थाण-यात्रा तथा
वेश्या का पावली लेकर नगर-आगमन वर्णन]

हे दुष्टा ! मेरे नेत्रों के आगे से चली जा । हे लोभिनी ! तेरे माथे पर वज्र-पात हो ॥१॥ पुत्री के (ऐसे) दुःखपूर्ण वचन सुनकर वृद्धा वेश्या को (वे) सुखकर नहीं लगे ॥२॥ बिलखती उस वेश्या स्त्री का मुख काला पड़ गया । वह बेचारी अपने मन में विचारती है ॥३॥ पुत्री ने ऐसा किया कि मेरी नहीं चलती है अतः अब उस कुमार को बलपूर्वक भेद डालकर भेदती हूँ ॥४॥ सौन्दर्य से स्त्री कामदेव को भी जीत लेती है । वह वृद्ध कुमार से कहती है ॥५॥ तुम हजारों का व्यापार नहीं करते फिर भी प्रतिदिन तुम्हारे पास धन दिखाई देता है ॥६॥ स्मरण करके मुझ मानिनी से सत्य कहो जिससे मेरे हृदय को बहु सुख होवे ॥७॥ कहा भी है—

अबला स्त्री, पका हुआ अनाज, कृषि योग्य खेत, फलित वृक्ष ये चार तथा पाँचवाँ लक्ष्मी-समूह रक्षा करने योग्य होते हैं ॥१॥

ऐसा सुनकर कुमार वृद्धा वेश्या से कहता है—निश्चय से मेरे पास आकाश-नामी पावली है ॥८॥ उनके प्रसूत तेज से क्षण भर में तीनों लोकों का भ्रमण करके सम्पत्ति ले आता हूँ ॥९॥ देव, मनुष्य और पृथिवी पर रहने वाले विविध प्रकार के असंख्य जीव दिखाई देते हैं ॥१०॥ (मेरे) आवा-गमन को कोई नहीं जानता है । पुण्य की हेतु बहु सम्पत्ति का उपभोग करता हूँ ॥११॥ उस कुमार से ऐसा सुनकर वेश्या छल करती है, (वह कहती है—कुमार !) मेरे मन के मनोरथ निःशेष हों ॥१२॥ हे कुमार सुनो—मुझ पर दया करो, तुम्हारे जाने पर मैंने मनौती की थी कि यदि कुमार शीघ्र घर आ जाता है और मेरे चित्त की वेदना यदि शीघ्र दूर हो जाती है तो तुम्हारे साथ मैं कंदर्पदेव की यात्रा शीघ्र करूँ ॥१३-१५॥ (मैं) इसी पर्व पर पूजन करूँ किन्तु शीघ्र जाना शक्य नहीं वह दुर्गम है ॥१६॥ कामदेव का मन्दिर समुद्र के बीच में है । हे सुख निदान ! देव-वन्दना कैसे करूँ ॥१७॥ तुम्हारे चरणों की कृपा से देव को नमस्कार करूँ, दया करके यात्रा हेतु वहाँ ले चलो ॥१८॥ ऐसा सुनकर कुमार ने वहाँ विचार किया—इसे अभी समुद्र में फेकता हूँ ॥१९॥ मेरे हृदय की शल्य शीघ्र चली जाती है । मैं गिराकर हृदय की शल्य मिटाता हूँ ॥२०॥ यदि समुद्र बीच मिथ्यात्वी देव है, तो गमनागमन नहीं है और जिनागम में कोई देव भेद नहीं सुना है ॥२१॥ अपने कार्य के लिए यदि ले जाती है तो लुटरिन को वहाँ छोड़ूँ, वहीं मरे ॥२२॥ पावली के प्रभाव से वृद्धा दासी

पावलिय-मुक्क सुरपं गणेण । गउ पिच्छणत्थ पहु तक्खणेण ॥२४॥

घत्ता

तहं विद्धहं वेसहं, उडिउ कुमरु तहं,
 चडि पावलियहं णट्ट-णहि ।
 गईय पुत्ति-आवासिंह, मुक्ख-णिवासिंह,
 रहइ णिचितिय दुट्ठ सुहि ॥४-६॥

[४-७]

तहि अवसरि कुमरहं मयणदेउ । णउ पणमिउं मिच्छइ कुगइ-हेउ ॥१॥
 णिग्गउ गिह मज्जे कुमरु जाम । णउ जुवइ वेस-पावलिय ताम ॥२॥
 चितइ कुमारु हउंछलिलउं वेइ । अह वेसा-चरिउ ण मुणइ कोइ ॥३॥
 णउ याणइ गुरु लहु मणुव लोइ । दव्वस्स विआयरु करइ सोइ ॥४॥
 वेसा णरु गिण्हइ दव्व-सहिउ । णिय पुत्ति-णाहु अवरु वि विहिऊ ॥५॥
 जो अत्थ-हीणु लहु सा चवेइ । णिस्सारइ करु गहि णिय गिहेइ ॥६॥
 लोहंध दव्व अण्णण लेइ । पइसारइ अण्हं सण्ण देइ ॥७॥
 यउ जाणि वि वेस ण होंत्ति अप्पु । वज्जरइ जईसरु रहि पदप्पु ॥८॥
 जो अण्हं ईहइ पाव-भाउ । वंधण-ताडण-मारणहं पाउ ॥९॥
 णउ जाइ अहणु जं कम्म किऊ । तं मत्थइ पडइ अचित धुऊ ॥१०॥
 यउ चिति वि कुमरें णिय मणेण । सुहि रहइ सचितउ सुर-गिहेण ॥११॥
 इत्थंतरि णहखगु एउ आउ । अवयणु सुर-गिह सुद्ध-भाउ ॥१२॥
 तहं वंदिउ खेयर मयणदेउ । वसु दव्वहं अचि वि करि वि थोउ ॥१३॥
 पुणु दिट्ठउ खयरें वइरसेणि । कहु होंतु समायउ भणिउं तेणि ॥१४॥
 अच्छउ कंचणपुर गयणगामि । लंजियच्छलिल लाइय इत्थु सामि ॥१५॥
 कंदप्प-जाय-अत्थेण भए । पावलिय मज्झु णह-गयणदिए ॥१६॥
 हउं वंचिउ लंजिय खड-णिकिट्ठ । आयास-गमणि पावलिय इट्ठ ॥१७॥

को घर से सिर पर लेकर वह क्षण भर में सुखपूर्वक आकाश में चला गया ॥२३॥ पावली छोड़कर वहाँ देव समूह को देखने वह तत्काल चला गया ॥२४॥

घन्ता—इधर वृद्धा वेश्या पावली पर चढ़कर आकाश में उड़ गयी और पुत्री के आवासस्थान पर गयी तथा सुखपूर्वक वह दुष्टा निश्चिन्त होकर सुखदायी निवास स्थान में रहने लगी । कुमार वहीं रहा ॥४-६॥

[४-७]

[छलपूर्वक वइरसेन की पावली लेकर वेश्या का कामदेव-मन्दिर से भाग आना तथा किसी विद्याधर का आकर वइरसेन को सहयोग करने का वचन देकर धैर्य बंधाना]

उस समय कुमार ने कुगति के कारणभूत मिथ्यास्वी मदनदेव को प्रणाम नहीं किया ॥१॥ कुमार जब मन्दिर से निकला, उस समय उसे वेश्या और पावली दिखाई नहीं दी ॥२॥ कुमार विचारता है कि—मैं दुबारा छला गया हूँ । वेश्या के अधम चरित को कोई नहीं जानता है ॥३॥ वह (वेश्या) लोक में छोटा या बड़ा मनुष्य नहीं जानती, (केवल) द्रव्य का विचार करती है ॥४॥ वेश्या-दामाद हो या इतर मनुष्य । वह धनी पुरुष को ही सम्मान देती है ॥५॥ जो धन-हीन होता है वह उसे शीघ्र त्याग देती है, हाथ पकड़कर घर से निकाल देती है ॥६॥ लोभ से अन्धी होकर अन्य-अन्य से द्रव्य लेती है और धरण देकर अन्य-अन्य का प्रसार करती है ॥७॥ वेश्या अपनी नहीं होती—यह जानकर ही यतीश्वर (अपने) पद में रहकर उसे त्याग देते हैं ॥८॥ जो दूसरों को पाप-भाव से देखते हैं वे बन्धन, ताडना और मार पाते हैं ॥९॥ जो कर्म किये हैं वे विफल नहीं होते । निश्चय से वे बिना जाने-समझे माथे आ पड़ते हैं ॥१०॥ कुमार ऐसा अपने मन से विचार करके देव-मन्दिर में चिन्ता करता हुआ सुख-पूर्वक रहता है ॥११॥ इसी बीच शुद्ध-परिणामी एक विद्याधर आकाश से उतरकर देव-मन्दिर में आया ॥१२॥ वहाँ विद्याधर ने मदन देवता की वन्दना की । अष्ट द्रव्य से पूजा और स्तुति करने के पश्चात् विद्याधर के द्वारा वइरसेन देखा गया तथा कहाँ से आये हो ? पूछे जाने पर वइरसेन के द्वारा कहा गया ॥१३-१४॥ हे आकाशगामी ! मैं कंचनपुर रहता हूँ । हे स्वामी ! यहाँ छल करके वेश्या लाई है ॥१५॥ मदनदेव की यात्रा के निमित्त आकाश से पावली ने मुझे गमन करने दिया ॥१६॥ निकृष्ट दुष्टा वेश्या के द्वारा मैं ठगा गया हूँ । आकाश से जाने में इष्ट पावली लेकर वह दुष्टा छल

लइ णट्ठी णहच्छडु करि वि दुट्ठु । कें करउ खग णह-गमण भट्ठु ॥१८॥
इव दुद्धर जाणउ मज्झु गेह । बलि होउ मरणु महु इह मुणेह ॥१९॥

घत्ता

तं णिसुणि वि खेरु, बहु विज्जाहरु,
धीरउ कुमर ण खेउ करे ।
हउं लिउ तव थाणहं, णियय विमाणहं,
णं करि भउ णिय चित्त धरे ॥४-७॥

उक्तं च ॥ गणिका-तस्करो-वैद्य, भट्ट-पुत्र, णरेइवरः ।
सलोभाः शिशवः सप्तः, पर-दुक्खं न ज्ञायते ॥छ॥

[४-८]

अच्छहि कहव दिणवि गुण-सायर । रहि कंदप्प-भवण भू-गोयर ॥१॥
अंचहि मयण-मुत्ति रंजिय-मण । णउ हंडहि तुव इहि [मण] सुच्छण ॥२॥
सुर-गिह-पच्छिम-दिस वे वि तरु । णउ जोयहि जाइ वि तत्थ णिरु ॥३॥
एयइ वितरु वसइणि रुत्त (इ) उ । अवरइं रक्खसु-दुट्ठ-विचित्तउ ॥४॥
णउच्छंडहि तुह दिट्ठि पलंतइं । भक्खेसहि तिलु-तिलु वि करंतइं ॥५॥
तो मण्णिउ खेरवयणु सुट्ठु । णउ जोयमि णरवइ जइ मणिट्ठु ॥६॥
गउ खेरु कहि णिय कज्ज तत्तु । सुहि अच्छहि णिव-सुउ जिणहं भत्तु ॥७॥
अवरहं दिणि कुमरह रहस-चित्त । गउ वण-मज्झें तें दुमइ-चित्त ॥८॥
कोऊहल पिक्खण गवउ तत्थ । एयंतरु फुल्ल लए वि सुच्छ ॥९॥
सुंघिउ णिय घाणह कुमर तत्थ । जे रासहं करणइं अइ समत्थ ॥१०॥
भउ रासभु तं तेएण तत्तु । गोयउ मणुयत्तणु कम्म-कित्तु ॥११॥
घण [तण] धुवइ कच्छालिय दुद्धभाय । सुउ जा णइ-मज्झिणि सुच्छभाय ॥१२॥
अण्णइं-जीउ चिरवइ रमुहि । अण्णण्णइं कम्मकरे विविहि ॥१३॥
पणरह दिण-वित्तइं खयर आउ । णउ दिट्ठउ णिव-सुउ सुच्छकाउ ॥१४॥
तहं दिट्ठउ खलु पउ-पउ करंतु । खग जाणिउ इह णरु भउ तुरंतु ॥१५॥
तं अण्णहं भूरुह-फुल्ल लेइ । सुंघाविय-रासभ असुह-खोइ ॥१६॥
तं पवभावे जं जि सरीरहं । वइरसेणि साहम्मिय संगह ॥१७॥

करके आकाश से चली गयी। हे विद्याधर ! क्या करूँ, आकाश-गमन से भ्रष्ट हूँ ॥१७-१८॥ अब मेरा घर जाना कठिन जानो। भले ही मेरा मरण होवे ॥१९॥

धत्ता—ऐसा सुनकर वह विद्याधारी विद्याधर ने कहा—कुमार, खेद मत करो, धैर्य धरो। मैं अपने विमान से तुम्हें तुम्हारे स्थान पर ले चलता हूँ। यह अपने चित्त में धारण करो, डरो नहीं ॥४-७॥

कहा भी है—वेश्या, चोर, वैद्य, भाट का पुत्र, राजा, लोभी और शिशु इन सातों द्वारा पराया दुःख नहीं जाना जाता ॥छ॥

[४-८]

[वइरसेन का रासभ रूप में परिवर्तित होना तथा विद्याधर द्वारा मनुष्य बनाया जाना]

विद्याधर कहता है—हे गुणों के सागर, भूमिगोचर ! आप कुछ दिन कामदेव के मन्दिर में रहें। मदनदेव की मूर्ति को आनन्दित मन से पूजें, मन की इच्छानुसार घूमना नहीं ॥१-२॥ देव-मन्दिर की पश्चिम दिशा में दो वृक्ष हैं, निश्चय से वहाँ नहीं जाना और न उनकी ओर देखना ॥३॥ एक वृक्ष पर भयंकर व्यंतर और दूसरे वृक्ष पर दुष्ट विचित्र राक्षस रहता है ॥४॥ तुझ पर दृष्टि पड़ते ही नहीं छोड़ेगा, तिल के बराबर टुकड़े कर करके खा जावेगा ॥५॥ इसलिये हे नृपति ! तुम्हारे मन को प्रिय हो तो भी विद्याधर की बात मानकर न देखना और न जाना ॥६॥ ऐसा कहकर विद्याधर अपने कार्य वश चला गया। जिनेन्द्र-भक्त राजपुत्र सुखपूर्वक रहता है ॥७॥ दूसरे दिन कुमार हर्षित चित्त से वन में (वहाँ) गया (जहाँ) वे वृक्ष स्थित थे ॥८॥ कौतूहलवश देखने वह वहाँ गया। एक वृक्ष के सुन्दर फूल लिए ॥९॥ कुमार अपनी नासिका से गधा बनाने में अति समर्थ वे (फूल) सूँघे ॥१०॥ फूलों के प्रभाव से कुमार गधा बन गया। कर्म-कृत मनुष्य का शरीर लुप्त हो गया ॥११॥ दूध पीनेवाला गर्धभी का वह पुत्र अपनी इच्छानुसार नदी के नीचे की गोली भूमि में जाकर [अपना] शरीर धोता है / लोटता है ॥१२॥ वह दूसरे-दूसरे कर्म करते हुए चिरकाल के विविध प्रकार के अन्य-अन्य जीवों में रम जाता है ॥१३॥ पन्द्रह दिन बीतने पर विद्याधर आया। उसे सुन्दर शरीरवाला राजपुत्र (कुमार) दिखाई नहीं दिया ॥१४॥ वहाँ उसे पों-पों करते हुए/ रेंकते हुए (यह गधा) दिखाई दिया। विद्याधर ने तुरन्त इसे मनुष्य से (गधा) हुआ जान लिया ॥१५॥ (विद्याधर ने) गधे के अशुभ को नष्ट करनेवाला दूसरे वृक्ष का फूल लेकर उसे सुँघाया ॥१६॥ उसके प्रभाव से

पणमिउं विज्जाहरु वार-वार । रुट्टुउ विज्जाहरु भणइ-घार ॥१८॥
 मइ वारिउ किं किउ एह कम्मु । णउ याणिउ जुत्ताजुत्त-मम्मु ॥१९॥
 तो णिसुणि भणइं भो गयणगामि । णउ एउ कम्मु ण करउ सामि ॥२०॥
 खम करहु महुप्परि इव हि राय । तुव सरि महु सज्जणु णत्थि भाय ॥२१॥

घत्ता

खं-गाउ विज्जाहरु, भणइं कुमरु वहु,
 कहि सामिय महु दया करि ।
 एयइं ते तर वर, विहि णिम्मिय घर,
 कहि पहु महु इणि गुणु विवरि ॥४-८॥

[४-९]

तो सुणि वि पयंपइ गयणगामि । मइ भूरुह वइयइ इत्थ थामि ॥१॥
 एयंशल्लं लइ णरु सं [सं] घइ । रासहु होइ तत्तु खणि संपइ ॥२॥
 वीयइ भूरुह सुघइं फुल्लइं । दीसइ णरु णिय रूव अमुल्लइं ॥३॥
 खर-मणुवह करणी एह विज्ज । अरि-दप्पु-दलणि णिय अत्थ कज्ज ॥४॥
 तं णिसुणि वयणु णिवपुत्तु वुत्तु । भो भो सामिय हउ रहउ इत्त ॥५॥
 पहुचावहु महु घर वेइ तत्तु । तुव पुण्ण-सहाए णियउ गोत्तु ॥६॥
 सुणि वच्छ पंच दिणच्छु इत्थ । हउं आवउ णिय गिह फिरि निरुत्त ॥७॥
 गाउ अक्खि वि खेयरु अप्प गेहि । ज्ञावाहिं दिण पंच वि रहइ सुहिं ॥८॥
 तहं कुमरहं चित्तिउ णिय मणेण । ए वे तरु फुल्लइ लिउ सुहेण ॥९॥
 जं जित्तउ लंजिय इणि हि तेय । विग्गोवउ दासिय-विविह भेय ॥१०॥
 जोयंति सुरासुर-खयर-लोय । पुणु भाय-मिलइ महु विहि-सजोय ॥११॥
 पावलिय-जुयलु णिय च्चयफलु । कारिच्छलु-वलु-मिस्तीभाउ णिलु ॥१२॥
 लिउ रासहि करि च्चडि उवरि तहिं । ले सउ णिव-पुरयण तत्थ जहिं ॥१३॥
 दउरावमि पुरसह मज्झि तहि । जं जिप्पउ णिव-दलु भुव वलेहिं ॥१४॥
 पुडु पयडु णरिंदहं होउ तहिं । मिलि एव महायण लेय जहिं ॥१५॥

वइरसेन अपना पूर्व शरीर पाकर संक्षेप में कहता है ॥१७॥ उसने विद्या-धर को बार-बार प्रणाम किया । विद्याधर हृष्ट होकर विष के असर से बेचैन वइरसेन से कहता है ॥१८॥ मैंने रोका था, यह क्या कर्म कर लिया, हिताहित का मर्म नहीं जाना ॥१९॥ वइरसेन कहता है—हे आकाशगामी स्वामी ! सुनिए ऐसा कर्म नहीं कहूँ ॥२०॥ हे राजन् ! अब मुझ पर क्षमा करो, तुम्हारे समान मेरा सज्जन भाई नहीं है ॥२१॥

घत्ता—आकाशगामी विद्याधर से कुमार कहता है हे स्वामी ! दया करके विधाता द्वारा पृथिवी पर निर्मित दोनों इन वृक्षों के गुणों को खोलकर मुझे कहियेगा ॥४-८॥

[४-९]

[वइरसेन का दोनों वृक्षों के फूलों का प्रभाव ज्ञात करना तथा वेश्या को उसके किये गये छल का दण्ड देने हेतु विचार-मन्थन-वर्णन]

वइरसेन का प्रश्न सुनकर आकाशगामी प्रजा का पालक (विद्याधर) कहता है—यहाँ ये दोनों वृक्ष मैंने लगाये हैं ॥१॥ एक (वृक्ष) के फूल को लेकर (जो) सूँघता है (वह) तत्काल गधा हो जाता है ॥२॥ (जो मनुष्य) दूसरे वृक्ष के फूल को सूँघता है (वह) अति सुन्दर अपने (पूर्व) रूप में दिखाई देता है ॥३॥ यह विद्या गधा और मनुष्य करनेवाली, शत्रु का मान-मर्दन करनेवाली तथा अर्थ-कार्य करनेवाली है ॥४॥ विद्याधर का कथन सुनकर राजपुत्र ने कहा—हे स्वामी ! मैं यहीं रहता हूँ ॥५॥ तब तो (इसके पश्चात्) मुझे शीघ्र घर पहुँचाओ । अपने पुण्य की सहायता से परिवार में ले चलिए ॥६॥ (विद्याधर कहता है—) हे वत्स ! सुनो ! पाँच दिन यहीं रहो, निश्चय से मैं अपने घर से लौटकर आता हूँ ॥७॥ ऐसा कहकर जब विद्याधर अपने घर गया (कुमार) पाँच दिन सुखपूर्वक रहता है ॥८॥ वहाँ कुमार अपने मन से विचार करता है कि सुख-पूर्वक इन दोनों वृक्षों के फूल लेकर इनके तेज से दासो (वेश्या) के विभिन्न रहस्य को खोल दूँ ॥९-१०॥ सुर-असुर और विद्याधर-जन देख लें । विधि के संयोग से इसके पश्चात् मैं भाई से मिलूँ ॥११॥ छल बल पूर्वक मैत्री भाव करके निश्चय से पावलो का जोड़ा और आम्रफल लेकर उसे गधा बना कर और उसके ऊपर चढ़कर जहाँ राजा और नगर के लोग हों वहाँ ले जाकर नगर में दौड़ाऊँ, पृथिवी पर बलपूर्वक राजा की सेना को जीतूँ ॥१२-१४॥ इसके पश्चात् जहाँ राजा हो वहाँ महाजनों को

तउ मुक्कउ जइ राउच्छुडावइ । बहु ङिण कुट्टणि-जणवइ लावइं ॥१६॥

घत्ता

तं कुमरहं फुल्लइं, वे तरु भल्लइं,
 किय पच्छण्ण णिय गंठि करि ।
 दिण पंचइं वित्तइं, खयरु णिरुत्तइं,
 सम्मायउ किय अवहि-सरि ॥ ४-२ ॥

[४-१०]

लिउ खयर कंचणपुर-कुमार । गउ थाइ वि खग्गु णिय-गिहरवारु ॥१॥
 इत्थंतरि कंचणपुरह-मज्झि । वइसेणि भमइ वइरिय-दुसज्झि ॥२॥
 तहं विविह विलासइं करइ जाम । विलसइ सुहि संपइ विविह ताम ॥३॥
 अण्णहिं दिणि थेरिहि लंजियाहिं । तहं हिट्ठु-कुमरु विड-लुट्टियाहिं ॥४॥
 अचुज्ज रहिय खण इक्कु तहिं । इहु किउ दधि लंघि वि आउ इहिं ॥५॥
 तं वइयरु वुज्झउ कवडु करि । जिउ आवइ महु घर पुत्ति-सरि ॥६॥
 पुणु किउच्छलु-मंडिउ कुमर-सहूँ । किय जाणु कवाटहं वीरवहु ॥७॥
 वंधिय सव्वंगइ दुट्ट णिरु । किय पुत्तिय सत्थहं गहि वि करु ॥८॥
 थिय पास-कुमारह भणइं वत्त । अइ-लोहणि मयण-पाण-सत्त ॥९॥
 आकारु जोइ कुमरोहिं वुत्त । कहि कज्ज वद्ध पट्टिय णिरुत्त ॥१०॥
 महु अक्खहि वइयरु जं जिवित्तु । मण-संसउ फेडहि इव णिरुत्तु ॥११॥
 तं वयणु सुणेविणु लंजियाइं । भो णिसुणि सुहव महु बहु दुहाइं ॥१२॥
 जव तुव कंदप्पह गेह-पत्तु । सुर-वंदण भत्तिहिं रहसजुत्तु ॥१३॥
 इत्थंतरि खगवइ इक्कु आउ । तव पावल्लि लइ महु चलिउ पाउ ॥१४॥
 णह-धायउ सायरु-चइ दुसज्झु । हउ मुक्की कंचणपुरह मज्झु ॥१५॥
 किय कम्मं कहवण गयउ जीउ । तव पावल्लि लइ गउ णह अभीउ ॥१६॥
 महु तुट्टेसह संधाण सव्व । तं कज्जे वंधे चोर भव्व ॥१७॥
 सा वयणु सुणेविणु कुमरु जणि । महु पावल्लि दुक्ख ण अत्थि मुणि ॥१८॥

लेकर पैदल उनसे मिलूँ ॥१५॥ वेश्या के सम्बन्धियों द्वारा लाया गया राजा यदि उस वेश्या को छोड़ाता है, तो छोड़ूँ ॥१६॥

घत्ता—कुमार ने भले दोनों वृक्षों के फूल अपनी गाँठ में छिपा लिये । पाँच दिन बीतने पर अवधि का स्मरण करके निश्चय विद्याधर वहाँ आया ॥४-९॥

[४-१०]

[वडरसेन का कंचनपुर नगरागमन एवं वेश्या का कुटिल वार्तालाप]

विद्याधर कुमार को लेकर कंचनपुर गया और उसने उसे उसके घर के द्वार पर स्थापित कर दिया ॥१॥ इसके पश्चात् वैरियों को दुस्साध्य वडरसेन कंचनपुर नगर में घूमता है ॥२॥ वहाँ (वह) जब तक विविध सुख-सम्पत्ति का भोग-विलास करता है उसी समय किसी दूसरे दिन व्यभिचारियों की लुटेरिन वेश्या को वहाँ कुमार दिखाई दिया ॥३-४॥ वह वहाँ एक क्षण मौन रही, (उसने मन में सोचा)—समुद्र-लांघकर यह यहाँ कैसे आया ? ॥५॥ उसने कपट पूर्वक वडरसेन से पूछा / कहा—मेरी पुत्री के जीवन हेतु घर आइये ॥६॥ इसके पश्चात् उस वेश्या ने कुमार के साथ कपट-रचना की । उस दुष्टा वेश्या ने जान बूझकर किवाड़ बन्द करके पुत्री से हाथ पकड़कर अपने सभी अंग बँधवाये ॥७-८॥ कुमार के पास बैठकर मदिरा-पान में आसक्त अति लोभिनी वह निज वृत्त कहती है ॥९॥ उसकी स्थिति को देखकर कुमार ने कहा—पट्टी किस कारण से बाँधी है ॥१०॥ मेरे मन का संशय दूर करो और यदि वैरी जीवित हो तो मुझे कहो ॥११॥ वडरसेन का कथन सुनकर वेश्या कहती है—हे (कुमार) ! मेरे दुःखों को सुखपूर्वक सुनिये ॥१२॥ जब आप मदनदेव के मन्दिर में भक्तिपूर्वक देवता की वन्दना करने सहर्ष प्राप्त हुए / गये, इसी अन्तराल में एक विद्याधर आया और वह पापी तुम्हारी पावली तथा मुझे लेकर आकाश में दौड़ गया और दुर्लभ्य समुद्र को पार करके मैं कंचनपुर में छोड़ी गयी ॥१३-१५॥ कृत कर्मों से जीव कहाँ नहीं गया । वह निर्भय तुम्हारी पावली ले आकाश से चला गया ॥१६॥ मेरे सभी अस्थि-बन्धन तोड़ डाले । हे भव्य ! इसी कारण कपड़ा (पट्टी रूप में) बाँध रखा है ॥१७॥ वेश्या के वचन सुनकर कुमार ने कहा—मुझे पावली का दुःख नहीं है ऐसा जानो ॥१८॥

घत्ता

तुहं जीवति पाइय, णयण-सुहाइय,
 हरखु उवण्णउ मज्झु हियइ ।
 वपु-सार करिज्जइ, णउ पच्छित्तिज्जइ,
 गय पावलिय तुव पीडलइं ॥ ४-१० ॥

[४-११]

तुव जियइ मुद्ध महु सयल कज्ज । सिज्जेसहि मण-इच्छियइ सज्ज ॥१॥
 तं वयणं लंजिय हरखचित्त । बहु कवलें घर-लिउ दुट्ट-धुत्त ॥२॥
 रइ-रस सुइ-माणइ बहु पयार । हंढइ पुर मज्झहं जुवहं कीर ॥३॥
 सोवण्ण-वण्ण-वण्णइं सरीर । मगण-मण-रंजइ चायं-गहीर ॥४॥
 अण्णहं दिणि लंजिय कुमरु वुत्तु । किउ सम्मायउ महु कहि हियत्तु ॥५॥
 सा वयणु सुणेप्पिणु वइरसेणि । जो णिम्मिउ अरहि वि चिडइसेणु ॥६॥
 पुण्णं वि दुहिज्जइ कामधेणु । अमियं जं समयहं दिण्णु-दाणु ॥७॥
 अमियं जिण-भत्तिय-सुहणिहाणु । अमियं सीयलु जणि सुहवयणु ॥८॥
 अमियं गुण-गुट्ठीहि करइ संगु । अमियं साहुह-परमत्थ-संगु ॥९॥
 अमियं घर-संपइ होइ भव्व । अमि तित्तिए सुंदरि सुद्ध-दिव्व ॥१०॥
 अमियं कुल-मंडणु पुत्तु-वंस । अमियं जसु-गउरउ जण-पसंस ॥११॥
 इय होति सयल किय कम्म जुत्त । साहेहि जईसर णाणपत्त ॥१२॥
 पुणु भणइ विद्ध पइ भणिउ भव्वु । कंदप्प-गेह कह लद्धु दव्वु ॥१३॥
 तं कहि इव वइयरु मज्झु सव्वु । जें संपज्जइ सुहु मज्झु भव्वु ॥१४॥
 सुणि रमणि ण रह हउं देव गेह । आराहिउ मइं कंदप्पु तेह ॥१५॥
 सुत्तुट्टुउ सुरु महु पास आउ । वरु मंगि कुमरु जं तुज्झु भाउ ॥१६॥
 जइ तुट्टुउ महु सुलहु वि करेहि । महु देहि दव्वु मह(हु)घर-घवेहि ॥१७॥
 उक्तं च ॥ पुव्वर्हि जे णसि माणुसहि, नीचे वाया होण ।

विहि मसज्जी णइ चालियइं, सुद्धे मारग तेण ॥१॥

धत्ता—(वेश्या कहती है—) नेत्रों के लिए सुखकर हे कुमार ! तुझे जीवित पाकर मेरे हृदय में हर्ष उत्पन्न हुआ है । शारीरिक शृङ्गार करें, तुम्हारी पीड़ा का कारण पावली के जाने का पश्चात्ताप न करें ॥४-१०॥

[४-११]

[वइरसेन का कंचनपुर आगमन वृत्त एवं कामदेव-मन्दिर से साथ में लायी गयी वस्तुओं का वेश्या से कथन]

तुम्हारे जीवित रहने से मुझे वेश्या के मस्तकस्थ मन इच्छित सभी कार्य शीघ्र पूर्ण होंगे ॥१॥ वेश्या उस दुष्ट घूर्त (कुमार) को वचनों से फँसाकर/ग्रसकर सहर्ष घर ले गयी ॥२॥ वह कुमार बहुत प्रकार के रति-रस रूपी सुख को स्वेच्छानुसार भोगता है । नगर में घूमता है और युवकों से क्रीडा करता है ॥३॥ स्वर्ण-वर्ण के समान शरीरवाला, गम्भीर त्याग से याचकों का मन आनन्दित करता है ॥४॥ किसी दूसरे दिन वेश्या ने कुमार से कहा—कैसे आये ? मेरे हृदय को कहो ॥५॥ वेश्या के वचन सुनकर वइरसेन (कहता है—) अर्हन्त ने बाज पक्षी को जो चिड़िया निर्मित को है (वह उसे प्राप्त होती ही है) ॥६॥ जिसने समय पर अमित दान किया है पुण्य से उसी के द्वारा कामधेनु का दोहन किया जाता है ॥७॥ अमित जिनेन्द्र की भक्ति, अमित शीतल शुभ वचन सुख की निधि हैं ॥८॥ गुणियों की गोष्ठियों और परमार्थ करने वाले साधुओं का संग करे ॥९॥ इससे भव्य जनों के घर संतोष-प्रदाय शुद्ध सुन्दर दिव्य सम्पदा होती है ॥१०॥ जन जन से प्रशंसित, यश और गौरव प्राप्त होता है । वंश में कुलभूषण पुत्र होता है ॥११॥ यह सब शुभ कर्मों के करने से होता है, ज्ञानी यतीश्वर ऐसा कहते हैं ॥१२॥ इसके पश्चात् वेश्या इससे कहती है—हे भव्य ! कहो—मदनदेव के मन्दिर में कौन द्रव्य प्राप्त हुआ ॥१३॥ हे भव्य वइरसेन ! अब मुझे वह सब बताओ जो प्राप्त किया गया हो, जिससे मुझे सुख प्राप्त हो ॥१४॥ हे रमणी ! सुनो ! (वइरसेन ने कहा) मैं न देवालय में रहा और न मैंने मदन देवता की आराधना की ॥१५॥ भली प्रकार संतुष्ट हुआ देव मेरे पास आया । उसने कहा—कुमार ! जो तुझे भावे वह वर माँगे ॥१६॥ मैंने कहा—यदि संतुष्ट हो (तो) मुझे द्रव्य देकर सुलभ कराओ और मुझे घर स्थापित करो/पहुँचाओ ॥१७॥ कहा भी है—निम्न वचन-भाषी होकर जिसने मनुष्यता का पहले विनाश कर लिया है, मिथ्याध्यानी वह विधिपूर्वक शुद्धमार्ग से नहीं चलता है ॥१॥

यउ भणि वि कुमारहं णु वि पिट्ट। अण्णइ अउव्व के लाय सुट्ट ॥१८॥
 तं कहहि वेइ महु हिपइ इट्ट। तं सुणि वि भणइं तव मणह इट्ट ॥१९॥
 ओसहु अउव्वु मइ देव दिण्णु। तं सयलु वि जुवइहि मणि रवण्णु ॥२०॥
 जो करइ जस्स किज्जइ वि श्चत्ति। हिंसायारिहें किज्जहें सजुत्ति ॥२१॥
 पइ लुं चाइय महु पंख णिरु। मइं मुंडाविउ तुव सीसु वरु ॥२२॥

घत्ता

यउ चिंति कुमार, णिज्जिय मारु,
 वुट्ठिय वेसहिं भणइं सुणि।
 जक्खे महु फुल्लइं, विण्ण खण्णइं,
 तिय सुंघइ णिय घाण खणि ॥४-११॥

[४-१२]

तिय होइ विद्ध णव-जोव्वणाइं। णं सुर-अच्छर अवयण्ण णाइं ॥१॥
 तं समउं ण दीसइ कोइ नारि। णं सुखइ-फणि-णर-मयण-मारि ॥२॥
 तं वयणु सुणे वि रंजिय मणेण। महु देहि कुमर ओसहु खणेण ॥३॥
 तं णिसुणि पयंपइ णिवह पुत्तु। वीराण-वीर धुत्ताण-धुत्तु ॥४॥
 मइ तव कज्जे आणिय मियच्छि। लइ वेएं सुघहिं फुल्ल दच्छि ॥५॥
 तं सुघइ रासहि भइय वेइ। सा वयणे कुवरहं दंडु लेइ ॥६॥
 दिण्णउ रज्जू वंधावि तहिं। तं उप्परि भउ असवारु सुहि ॥७॥
 जट्टियहं पीटि नीसरिउ गेहि। सहं णयरु भमइ पिट्टंतु तहि ॥८॥
 पिच्छइ लंछिय-गणु लोय-पुरु। ॥९॥
 पउ-पउ करंति रासहि भमंति। पुरलोयहं सयलइं भइय दित्ति ॥१०॥
 णिय-माय विलंघणु सुणि खणेहिं। णउ णिगाय कुंदलया सुगेहिं ॥११॥
 भल्लउ किउ कुमरें महु भायउ। जं किद्ध (ज्ज) उ पाविणि तं पाविउ ॥१२॥
 जइसउ करइ सु तइसउ पावइ। पर-संताविय दय संतावइ ॥१३॥
 इउ जाणि वि कहु वुरउ ण किज्जइ। तं पावें णरयहं संपज्जइ ॥१४॥

ऐसा कहने के पश्चात् (वेश्या द्वारा) कुमार से पूछा गया अन्य अपूर्व क्या लाये हैं? हे मेरे हृदय के लिए प्रिय! वह मुझे शीघ्र कहो! ऐसा सुनकर वह कहता है—तुम्हारे मन को प्रिय अपूर्व औषधि मुझे देव ने दी है वह सभी स्त्रियों में सर्वाधिक सुन्दर (बना देती है) ॥१८-२०॥ (वेश्या कहती है—) यदि यह ऐसा करती है तब शीघ्रता कीजिए। (कुमार विचारता है)—युक्ति पूर्वक हिसाबान्तर करूँ ॥२१॥ पहले इसने निश्चय से मेरे पंखों का लुचन किया है मैं (इसके) शीश को मुड़वाता हूँ ॥२२॥

घटा—कामजयी कुमार ऐसा विचार कर वृद्धा वेश्या से कहता है—सुनो, यक्ष के द्वारा मुझे सुन्दर फूल दिये गये हैं। अपनी नासिका से स्त्री तत्काल सूँघती है ॥४-११॥

[४-१२]

[वडरसेन द्वारा वेश्या का गधी बनाकर नगर-भ्रमण कराना तथा वेश्या के परिजनों द्वारा विरोध-प्रदर्शन]

इनसे वृद्ध स्त्री नव-यौवनत्व को प्राप्त हो जाती है। वह स्वर्ग से उतरकर नीचे आई देव-अप्सरा के समान प्रतीत होती है ॥१॥ उसके समान इन्द्र, फणीन्द्र, नरेन्द्र, कामदेव और यम की स्त्री भी दिखाई नहीं देनी ॥२॥ कुमार के ऐसे वचन सुनकर (वेश्या) आनन्दित मन से कहती है—कुमार! तत्काल मुझे औषधि दो ॥३॥ वेश्या की प्रार्थना सुनकर वीरों में वीर और धूर्तों में धूर्त प्रजापति राजपुत्र (कहता है)—हे मृग-नयनी! मैं तुम्हारे लिए (ही) लाया हूँ। हे चतुर स्त्री! लो, शीघ्र फूल सूँघो ॥४-५॥ वह (वेश्या) उसे सूँघती है और शीघ्र गधी हो जाती है। खराब वचनों को कहता हुआ (कुमार तब) दण्ड लेकर उसे (गधी को) रस्सी से बाँधवाता है और सुखपूर्वक उसके ऊपर सवार होता है ॥६-७॥ लाठी से पीट-पीट कर घर से बाहर निकालता है और पीटते हुए सम्पूर्ण नगर में घुमाता है ॥८॥ वेश्या के परिजन और नगर के लोग देखते हैं ॥९॥ सभी पुरवासियों को भयभीत करती हुई पों-पों करती गधी घूमती है ॥१०॥ पल भर में अपनी माता है सुनकर कुन्दलता (वेश्या की पुत्री) देर करती हुई घर से बाहर नहीं निकली ॥११॥ (वह कहती है—) कुमार ने भला किया, मुझे अच्छा लगा, जो पापिनी ने किया वह (उसने) पाया ॥१२॥ (जो) जैसा करता है, वैसा ही वह पाता है, दूसरों को दुःख देनेवाले को दैव कष्ट देता है ॥१३॥ ऐसा जानकर किसी का बुरा न

मारिज्जइ णारइय असेसहिं । पंच पयार सहइ दुह तं तहिं ॥१५॥
 इत्थंतरि लंजिय परिवारहं । पुक्कारिउ कोडवार-सपासहं ॥१६॥
 सुण वीनई हमह दुहयारी । किय गद्दिहि हम्महि गरु-यारी ॥१७॥
 यह कोइ विडागु फिरइ महि धुत्तउ । भंडइ पुरय-तियहि तुरंतउ ॥१८॥
 वेयं कारहु तं जि णिकिट्ठउ । परएसिउ घर-परियण-भट्टउ ॥१९॥
 तिणि वयणें कुल-वाल समुट्ठइं । वेढिउ चहुदिमु कुमरु तुरतइं ॥२०॥
 मरु-मरु मारु-मारु पभणंतइं । मुंच-मुंच रे ! पाव तुरंतइं ॥२१॥
 काइ विहिउ रे पाविय वेसहिं । किय रासहिं लंजिय थेरी तुहिं ॥२२॥
 छंडहि जें रुवें करि रे णिग्घिण । णउ जम-कुहरि पडहि रे दुज्जण ॥२३॥

घत्ता

तुहु जुज्जइ, एहउ किज्जइ,
 लंजिय रासहिं कियइ तइं ।
 तुहुं पाविउ, पर-संताविउ,
 कप्पहि सिरु इव तुज्जु सयइं ॥४-१२॥

[४-१३]

तं णिसुणि वि कुट्ठउ राय-पुत्तु । लगउ कुल-वालहं णं कयंतु ॥१॥
 णिय जट्ठिय मुक्किय विज्ज-सरि । तं फिरइ चक्क जि तिण्ह सिरि ॥२॥
 ते मारिय सयलइं चडिय करि । कोलाहलु हूवउ सयल पुरि ॥३॥
 के मारिय-णट्ठइ थरहरंते । के सरणागय अरि-पय पडते ॥४॥
 भोच्छंडि देव तुव करहि सेव । दइ जीवदाणु हम णिरुवमेव ॥५॥
 के जाइ पुकारिय रायपास । भो महि परमेश्वर वडरि-तास ॥६॥
 सुणि अम्ह वयणु तेयं दिणेस । इकु धुत्तु आउ तुह पुरह ईस ॥७॥
 णं खइ कालु गिलण सह आयउ । मागंहि वेसहिं भउ दुह-वायउ ॥८॥
 किय रासहिं चडि पुरहं भनावइ । कोडवाल तुह सह संघाडइ ॥९॥
 पुरयणु णट्टउ तासु भयालइं । सो हरि सें वि भमिउं उम्मालइं ॥१०॥

करें। इस पाप से नरक प्राप्त होता है ॥१४॥ वहाँ सभी नारकी मारते हैं, (जीव) पाँच प्रकार के दुःख सहता है ॥१५॥ इसी बीच वेश्या के परिवार के लोगों ने कोटवार और सिपाही को बुलाया ॥१६॥ उन्होंने कहा—हमारी विनती सुनिए, हम दुःखी हैं, हमारी परम प्रिय (वृद्धा वेश्या) को (इसने) गधी बनाया है ॥१७॥ यह कोई व्यभिचारी एवं धूर्त पृथिवी पर फिरता है और नगर की स्त्रियों को तत्काल इकट्ठा कर लेता है ॥१८॥ घर के परिजनों को भ्रष्ट करनेवाले उस निःकृष्ट, परदेशी को शीघ्र मारो ॥१९॥ उनके ऐसा कहने से कुटुम्ब के बालक उठे और उन्होंने कुमार को चारों दिशाओं से तत्काल घेर लिया ॥२०-२१॥ (वे पूछने लगे) रे पापी ! किस विधि से वेश्या स्त्री को तुमने गधी बनाया है ? ॥२२॥ रे निंघ ! उसका जो रूप बनाया गया है वह छोड़ो, अन्यथा रे दुर्जन ! यम का कुठार पड़ता है ॥२३॥

घत्ता—तुम्हें जो उचित हो वह करो। तूने ही वेश्या को गधी बनाया है। तुम पापी हो, दूमरों को सतानेवाले हो हम स्वयं तुम्हारा शिर काट देते हैं ॥४-१२॥

[४-१३]

[वइरसेन का आक्रमण, राजसेना का पलायन एवं बड़े भाई से मिलन]

(वेश्या के पक्षधरों के आक्रोश पूर्ण वचन) सुनकर राजपुत्र-वइरसेन कुपित हुआ। (वह) वेश्या के वंश के बालकों के पीछे यम के समान लग गया ॥१॥ बिजली के समान (शीघ्रगामी) (उसने) अपनी लाठी छोड़ी। वह उनके सिर पर ऐसे घूमती है जैसे चक्र घूमता है ॥२॥ उसे हाथ में लेकर उसके द्वारा सभी मारे-पीटे गये। सम्पूर्ण नगर में कोलाहल हो गया ॥३॥ कोई मारे जाते हैं, कोई भाग जाते हैं और कोई काँपने लगते हैं। कोई शत्रु शरण में आकर पैरों में पड़ जाते हैं ॥४॥ कोई कहता है—हे देव ! छोड़ दो, तुम्हारी सेवा करते हैं। हे उपमा रहित ! हमें जीवन दान दो ॥५॥ कोई राजा के पास जाकर चिल्लाये हे पृथिवी के स्वामी ! बैरी को त्रास देनेवाले ! हमारे वचन सुनो, हे स्वामी ! सूर्य के समान तेजवान् एक धूर्त तुम्हारे नगर में आया है ॥६-७॥ वह ऐसा प्रतीत होता है मानो निगलकर खाने को काल आया हो (वह) मागधी वेश्या को दुःखदायी हुआ है ॥८॥ गधी बनाकर और उस पर सवार होकर वह उसे नगर में घुमाता है। इतना ही नहीं, वह तुम्हारे कोतवाल को (भी) मार रहा है ॥९॥ उसके भय से नगर-निवासी भाग गये हैं। उस उन्मादी ने सिंह के समान

तं णिसुणेविणु णरवइ कुद्धउ । णिय दलु मुवकउ वइरि विरुद्धउ ॥११॥
 के वयणाय वि कहहि असुद्धहं । मारु-मारु पभणेहि विरुद्धहं ॥१२॥
 तं जंपहि रे पाविय-णिग्घण । कोलवाल किउ मारिय दुज्जण ॥१३॥
 तइ किउ लंजिय रासहि कीई । इव संपत्ती तुय जम दूई ॥१४॥
 सुणि वरसेणि सुहउ इह वयणइ । मारिय जट्टिणि वत्तं सयलइ ॥१५॥
 के णट्टिय गय णरवइ-सरणइ । के लज्जि वि गय वण तव-यरणइ ॥१६॥
 पडिउ भजाणउ पुरयणु णट्टउ । णं हरि-भीर्हाँहि गय-गणु तट्टउ ॥१७॥
 पुक्कारंत णरवह णिसुणेप्पिणु । सरणाई णवयार धरेप्पिणु ॥१८॥
 धायउ णरवइ सेणु लए विणु । ॥१९॥
 जह थिउ अरि-जयसिरि संपत्तउ । जम रूवइ धावंतु तुरंतउ ॥२०॥
 मारु-मारु पभणंतु सु कुद्धउ । रे कहि जाहि जमगइ लद्धउ ॥२१॥

घत्ता

तं वयणु सुणेप्पिणु, गउप्पुलएप्पिणु,
 दिट्टउ वंधव-गरुव सुहि ।
 णरवइ पिच्छइ तहु, यहु भायउ महु,
 माणु-विहंजि वि मिलिय सुहि ॥४-१३॥

इय महाराय सिरि अमरसेण चरिए । चउवग्ग मुकहकहाइमयर-
 सेण संभरिए । सिरि पंडिय माणिक्क विरइए । साधु महणा सुय चउधरी
 देवराज णामं किए । सिरि अमरसेण-वइरसेण-मेलाव-वणणं णाम
 चउत्थंइमं परिच्छेयं समाप्तं ॥ संधि ॥ ४ ॥

युग्मं ॥ येषां योग समुद्दमुद्गरमहद् ध्वाताव संचूर्णिणतो ।
 वंधो भूरिरनादिकाल निचितो भूत्कर्मणां क्लेशदः ।
 तेत्पोभव्यजनास्तपोधनवराः सप्तषि संज्ञाभूतो,
 नित्यं पुत्रकलत्रधान्यधनदोः कुर्वंतु वो मंगलं ॥ १ ॥
 सदाणंद सदावृद्ध यावत् सिद्ध-शिवश्रियः ।
 नृप पूज्यः सदा नित्यं देवराजाच्चिरंजय ॥ आशीर्वादिः ॥
 उक्तं च ॥ साधूनां दर्शनं श्लाघ्यं, श्लाघ्यं सीलस्त्रिया सदा ।
 श्लाघ्यो धर्मजुतो राजा, श्लाघ्ये चारित्र संयमी ॥ १ ॥



भ्रमण किया है ॥१०॥ ऐसा सुनकर राजा कुपित हुआ । (उसने) बैरी के विरुद्ध अपनी सेना छोड़ दी ॥११॥ वे (सैनिक) विरोधी को मारो-मारो कहते हुए अशुद्ध-वचन (गालियाँ) भी बोलते हैं ॥१२॥ उसे (वइरसेन को) कहते हैं—रे निर्दयी, पापी, दुर्जन ! (तुमने) कोतवाल को क्यों मारा ? ॥१३॥ वेश्या को तुमने गधी क्यों बनाया ? (यह) तुम्हारी सम्पत्ति (विद्याएँ) यम-दूत के समान हैं ॥१४॥ वइरसेन ने सुख-पूर्वक दुःखकारी वचन सुनकर सभी के मुँह पर लाठी मारी ॥१५॥ कोई भाग कर राजा की शरण में गये, कोई लज्जित होकर तप करने वन गये ॥१६॥ भगदड़ मच गयी, पुरजन वैसे भाग गये जैसे सिंह के भय से स्थित हस्ति-दल भाग जाता है ॥१७॥ शरणागतों की पुकार सुनकर नवकार (णमो-कार मंत्र) धारण करके राजा सेना लिए बिना ही तुरन्त यम के रूप में उस ओर दौड़ा जहाँ जयश्री प्राप्त शत्रु (वइरसेन) स्थित था ॥१८-२०॥ अति क्रोधित होते हुए उसने कहा—मारो-मारो ! अरे ! यम के आगे प्राप्त होकर पहुँचकर कहाँ जाते हो ? ॥२१॥

घत्ता—उसके (राजा के) वचन सुनकर (वइरसेन) पुलकित होकर गया । उसे सुखपूर्वक बड़ा भाई दिखाई दिया । राजा उसे देखता है और यह मेरा भाई है (ऐसा जानकर) राजा होने का मान त्याग करके (उससे) सुखपूर्वक मिला ॥४-१३॥

अनुवाद

भली प्रकार कही जा सकने योग्य चारों वर्गों की कथा रूपी अमृतरस से पूर्ण शाह महणा के पुत्र देवराज चौधरी के लिए पण्डित माणिकराज द्वारा रचे गये इस महाराज श्री अमरसेन चरित में अमरसेन-वइरसेन-मिलन-वर्णन नाम का यह चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ ॥ संधि ॥ ४ ॥ जिनके ऊपर उठाये गये मुद्गर रूपी योग से महान् अज्ञान अन्धकार क्लेशदायी अनादि का कर्मबन्ध चूर-चूर होकर नाश हो जाता है; नित्य स्त्री-पुत्र, धन-धान्य देनेवाले, पवित्र, भव्य और तपोधन वे सप्तर्षि संज्ञाधारी हमारा कल्याण करें ॥१॥

जब तक सिद्ध और शिवश्री है, राजा से सम्मानित देवराज चिरायु हो, सदा आनन्दित रहे और उसकी सदा वृद्धि हो ॥२॥

कहा भी है—साधुओं के दर्शन, शीलवती स्त्रियाँ, धर्मयुक्त राजा और चारित्रवान् संयमी प्रशंसनीय होता है ॥१॥



पंचम परिच्छेद

सन्धि-५

ध्रुवक

इत्थंतरि पुरयण, रंजिय णिय मण,
सम्माइय जहि राउ थिय ।
णिय वंधव-सहियउ, णिवयण-महियउ,
णमियइं पुरयण चइवि भऊ ॥ छ ॥

[५-१]

वहु दिण गय मिलियइ णिव-कुमार । आणंदिय मणि मणि-रुव-सार ॥१॥
सिरि अमरसेणि पहु अमिय-वाय । अक्खइ णिय भायहं तुव पसाय ॥२॥
कंचणपुर सुह लहु रज्ज-लद्धु । हुउ णिवहं पुज्जु महियलि पसिद्धु ॥३॥
महु चइ वणम्मि कह गयउ वीर । भोयणहं कज्ज पुर-मज्झ-धीर ॥४॥
लहु सम्मायउ णउ मज्झु पास । तव विणु हुउ विट्ठु णिरासु वास ॥५॥
हुंढाविय सह-पुर-उववणाइं । गिरि-गुह-णइ-तीरइ-जिण-हराईं ॥६॥
णउ कत्थण पायउ गिरिहि धीर । कहि अच्छिउ लहु कहि दधि-गहीर ॥७॥
तं वयणु सुणोप्पिणु भणइं सुणि । तुम पुरह पच्छणउ रहउ मुणि ॥८॥
णिए भेउ ण साहिउ कासु सह । भुंजउ णिय रयणइं वेस सह ॥९॥
तं णिसुणि वयणु रंजियउ राउ । अइ-रहसें अंगि ण तित्ति-माउ ॥१०॥
पुणु वुज्झइ पहु कहि सच्च वयणु । किय लंजिय-गद्दिहि गुणु कवणु ॥११॥
उक्त्तं च ॥ अति लोभं न कर्त्तव्यं, लोभं नैव परित्यजेत् ।

अति लोभाविभूताय, कुट्टनी भवति रासभो ॥१॥

बंधिय चउहट्टय मज्झि एहं । तं वइयरु साहहि लच्छि-गेहं ॥१२॥
भो णिसुणि राय थेरिहि पवंचु । अइ लोहें महु किउ इणि पवंचु ॥१३॥
चूयह फलु महु लिउ उवरि कदिद्ध । हुउच्छम्मिउ इहि जण जुट्ठि वुद्धि ।
गर(ह) हाथ णीसारिउ अण्णोहि । णिय सिहरें चुं विय सरय भेह ॥१५॥
सूरगमि चूयह फल-पसायण । करुडा-करत सइ पंच-रयण ॥१६॥
उग्गिलउ णरवइ पडंति वयण । णिउ जुइ उज्जोइय णहि वि तवण ॥१७॥

संधि-५

[५-१]

[अमरसेन-वइरसेन का मिलन, कुशल-क्षेम-वार्ता एवं वेश्या के गधी बनाये जाने का वइरसेन द्वारा हेतु बताया जाना]

ध्रुवक

इसी बोच नगर के लोग अपने मन में हर्षित हो वहाँ आये जहाँ राजाओं से पूजित राजा अमरसेन अपने भाई सहित स्थित थे । पुरवासियों ने उन्हें नमन किया । पश्चात् भाई (अमरसेन) कहता है ॥

बहुत दिनों के पश्चात् राजा मन में आनन्दित होकर चिन्तामणि तुल्य कुमार से मिलता है ॥१॥ राजा श्री अमरसेन अमृत तुल्य मोठी वाणी से अपने भाई से कहता है—तुम्हारे प्रसाद से (मैंने) सुखपूर्वक कंचनपुर का राज्य पाया (और) पृथिवी पर प्रसिद्ध राजाओं का पूज्य हुआ ॥२-३॥ हे धर्म वीर ! वन में मुझे छोड़कर भोजन के कार्य से नगर में कहाँ गये थे ? ॥४॥ मेरे पास शीघ्र लौट करके नहीं आये, तुम्हारे बिना मैं निराश होकर बैठ गया ॥५॥ (मैंने) नगर के साथ उपवन, पर्वत, गुहा, नदी-तीर और जिन-मन्दिर खुजवाये ॥६॥ कहीं नहीं पाया । हे धीर ! कहीं क्या पर्वत पर या किसी गहरे समुद्र में रहे ॥७॥ भाई की बात सुनकर वइरसेन कहता है—सुनो, तुम्हारे नगर में छिप करके रहा हूँ, ऐसा जानो ॥८॥ अपना रहस्य किसी से प्रकट नहीं किया । वेश्या के साथ अपने रत्नों का उपभोग किया ॥९॥ उसके (वइरसेन के) वचन सुनकर राजा हर्षित हुआ । अति हर्ष से संतोष अंगों में नहीं समाया ॥१०॥ इसके पश्चात् राजा पूछता है--किस गुण (विधि अथवा कारण) से वेश्या को गधी बनाया है—सत्य बात कहो ॥११॥ कहा भी है--अति लोभ नहीं करना चाहिये । अति लोभ से आकृष्ट होकर लोभ का त्याग नहीं करनेवाली वेश्या गधी होती है ॥छा॥ इसे चौराहे के बीच बाँध करके लक्ष्मी का भण्डार वह वइरसेन कहता है—हे राजन् ! स्त्री का प्रपंच सुनिये । अति लोभ से इसने मुझे ठगा है ॥१३॥ इसने शरद के मेघों का स्पर्श करनेवाली चोटी के ऊपर से मेरा आम्र फल निकाल कर ले लिया, मुझे हाथ पकड़कर घर से निकाला तो भी मैंने इस मिथ्यावादिनी वृद्धा को क्षमा किया ॥१४-१५॥ आम्र फल के प्रभाव से सूर्योदय होने पर कुल्ला करके उगलने पर सूर्य के समान दीप्तिमान पाँच रत्न गिरते हैं ॥१६-१७॥

घत्ता

तर्हि अवसरि राय, विणु ववसाय,
 किं खज्जइ संयइ रहियइं ।
 मरइ सुह रंधइ, वेसहि लुद्धई,
 किउ कुकम्म महु भेउ लई ॥ ५-१ ॥

[५-२]

अद्ध-रुत्ति हउ पहु आरण्णहिं । विट्ठउ जाइ देव सुह भवणहिं ॥१॥
 तर्हि अवसरि तक्कर संपत्तइं । अणुवम-वत्थ-तिण्णि-लइ पत्तइं ॥२॥
 कंथा-जट्ठिय-णहपावलियाहिं । णिय-तेयइं सुज्जहु जे मिलियाहिं ॥३॥
 तिण्णि कारणि झयडहिं पुरह-मोस । मइ बुज्जे तक्कर महुर-धोस ॥४॥
 किणि कज्जे लग्गहु कहहु मज्झु । हउ झयडउ फेडउ तुम बुसज्झु ॥५॥
 हउ रयणीयलु तुम्ह सहाई । गुज्झु पयासहु सुहिं महु भाई ॥६॥
 हो आइवइ [ते] मज्झु पास । ते अक्खहिं णिसुणहिं महुरभास ॥७॥
 कुइ जोई खण-मासेण विज्ज । साहिय तं सिज्झी तेय-सुज्ज ॥८॥
 दिण्णिय तइ वत्थइ जोइयाहं । जं सयल कज्ज मण-इच्छियाहं ॥९॥
 गय णियस थाणह सुच्छ विज्ज । तुट्ठउ जोईसरु-मिच्छ-पुज्ज ॥१०॥
 जट्ठिय-रिउ-मट्ठण रणि-अजेय । पावलिय णहं गणि सुज्ज-तेय ॥११॥
 कंथा झाडइ सय-सत्त रयण । महियरि पडंत रवि-तेय एण ॥१२॥
 खण-मास हम्म जोई हि पास । सज्जउ मसाणु अइ बुक्ख-वासु ॥१३॥
 मारियउ कवालिय तित्थु ठाई । आणिय तइ वत्थ मणिच्छियाइं ॥१४॥
 ए तिण्णि हत्थ हमि तुरिय जण । णउ वंटिय आवहिं सुच्छ-मण ॥१५॥
 मइ भणिय देहु महु सुच्छ वत्थ । हउं अप्पउ सच्चह वंदि सुत्थ ॥१६॥
 महु दिण्णिय पावलि पहिरि पाय । हउं गयउ खणद्धे पुर-समाय ॥१७॥
 णिय सिरु-धुणे वि पत्थि [च्छ]यउ करि । गय चोर विलक्खइ तत्थयरि ॥१८॥

घत्ता

तुम्हहं जोय ण वंच्छउ, इहच्छुह अच्छउ,
 णिय कंथाह पसाय णिंहि ।
 पुणु दिट्ठउ लंजिय थेरिंहि, विडयण गारिंहि,
 सुह वयणे हउ लियउ घरि ॥५-२॥

घत्ता—हे राजन् ! उस समय व्यवसाय और सम्पदा से रहित क्या खाता ? सुख में छेद करनेवाली लोभिनी वेश्या मरे। मेरा भेद लेकर उसने अच्छा काम नहीं किया है ॥५-१॥

[५-२]

[अमरसेन से वइरसेन का वस्तु-प्राप्ति-वृत्त-कथन-वर्णन]

हे प्रभु ! अर्ध रात्रि के समय में जंगल में जाकर सुखपूर्वक (एक) देवालय में बैठ गया ॥१॥ उसी समय चोर तीन अनुपम वस्तुएँ अपने तेज से जो सूर्य से मिलती हैं (वे वस्तुएँ हैं—) कथरी, लाठी और आकाश में गमनशील पावली लेकर वहाँ आये ॥२-३॥ इन वस्तुओं के कारण नगर-चोर झगड़ते हैं। मैंने मधुर वाणी से चोरों से पूछा ॥४॥ किस कारण से झगड़ते हो, मुझे बताओ, मैं तुम्हारे दुस्साध्य झगड़े को मिटाता हूँ ॥५॥ मैं रजनीचर तुम्हारी सहायता करता हूँ, हे भाई ! मुझे सुखपूर्वक रहस्य प्रकट करो ॥६॥ वे मेरे पास आकर मधुर वाणी से कहते हैं सुनिये ॥७॥ किसी योगी ने छः मास पर्यन्त साधना की। साधना से सिद्ध हुई सूर्य के समान तेजवान् वह विद्या योगी को मन-इच्छित सम्पूर्ण कार्य (करनेवाली) तीन वस्तुएँ देकर अपने स्थान पर चली गयी। वह मिथ्यात्व का पुजारी योगी सन्तुष्ट हुआ ॥८-१०॥ युद्ध में शत्रु का मर्दन करनेवाली लाठी युद्ध में अजेय है, पावली-आकाश में सूर्य के समान तेज गतिमान है ॥११॥ कथरी झड़ाने से सूर्य के समान दीप्तिमान् सात सौ रत्न पृथिवी पर गिरते हैं ॥१२॥ हम छह माह योगी के पास अति दुःख-धाम श्मसान में सोये हैं ॥१३॥ उसी स्थान पर कापालिक को मारकर मन-इच्छित कार्य करने-वाली तीनों वस्तुएँ ले आये हैं ॥१४॥ ये वस्तुएँ तीन हैं और हम (चोर) चार हैं। हे स्वच्छ हृदय ! ये बँटवारे में नहीं आती हैं ॥१५॥ मैंने कहा— पवित्र वस्तुएँ मुझे दो। मैं सत्य कहता हूँ भली प्रकार आप लोगों में बाँट देता हूँ ॥१६॥ मुझे वस्तुएँ दी गयीं। मैं पैरों में पावली पहिन करके आधे पल में चला गया और नगर आ गया ॥१७॥ चोर अपना सिर पीटकर पश्चाताप करके बिलखते हुए वहाँ से चले गये ॥१८॥

घत्ता—तुम्हारे मिलन से वंचित रहा किन्तु अपनी कथरी के प्रसाद से निधि पाकर भूखा नहीं रहा। इसके पश्चात् व्यभिचारी जनों की स्त्री वेश्या के द्वारा देखा गया और मीठी वाणी से मैं घर ले जाया गया ॥५-२॥

[५-३]

पुणु पहु महु वेसहि । मइ साहिउ णह-गइ-पावलियहि ॥१॥
 कंदपदेउ सायरमहि । जंपइ तुव अत्थे जाता तहि ॥२॥
 तं वयणे लइ हउं मण-गेहि । णउ वंदिउ महु पावलिय लेवि ॥३॥
 महुच्छंडि समाइय घरहं सा वि । ॥४॥
 तह सम्मायउ खगु इट्ठु महु । पुव्वह संबंधिउ दिउ सुहु ॥५॥
 सत्तुह सुहयालउ विज्ज णिहु । णिय वइयरु अक्खिउ ताइं सुहु ॥६॥
 हउं वज्जिय सुर-गिर पिच्छ वाल । णउ गमहि अत्थु सुर-गिहर वाल ॥७॥
 महु दिण पणरह दइ अवहि गउ । हउ कम्मं पेरिउ तत्थ गउ ॥८॥
 तहं भूरुह-सुघिउ फुल्लु लहु । भउ रासभु वेयं हउ जि पहु ॥९॥
 तहं आयउ खेयरु पण्ण दिणि । हउ दिट्ठउ रासभु रूव तिणि ॥१०॥
 अण्णहं तरु-फुल्ल सुघाइ महु । हउं जं रूवे वेण्ण पहु ॥११॥
 मइं फुल्ल-भेउ लिउ खयर-पास । पुणु भणिउं पठावहु मज्झु वास ॥१२॥
 रहु पंच दिणइ कहि गयउ मज्झु । हउ अच्छउ सुरगिहि कम्म-वसु ॥१३॥
 तहि अवसरि च्चिउ मणेण । लिय वे तरु-फुल्लइं तखणेण ॥१४॥
 णिय गंठि वंधि खेयर-पच्छण्ण । इह आणिय मइं सु सुयंध वण्ण ॥१५॥
 पुणु विज्जाहर हउं इत्थु मुक्कु । हंडउ पुर-सुच्छइ णाइ सक्कु ॥१६॥
 सा पिच्छ वि हउ डंभहि[पुरेहि] । पट्टे वंधे लंजिय अंगिहि ॥१७॥
 भणि वइयरु खयरहं वयणु महु । लइ गइय गेह विड-रमणि पहु ॥१८॥
 कं लाउ अणुव्वम वत्थ कहु । मइ सुरु आराहिउ सुट्ठु महु ॥१९॥
 विद्धह णव जोवणु होइ लहु । जो सु घइ णिय मणि सुहु करि गहु ॥२०॥
 गउ मुक्कि वि महु इह थाण भडु । दिणिय महु ओसहु दुट्ठह हडु ॥२१॥
 तु णिरंजिय वयण दासि मणि । महु अक्खिउ कूयर वुद्धि सुणि ॥२२॥

घत्ता

महु वेयं देहि, दया करेहि,
 वर ओसहु देहि खण्णउ ।

महु रइ समु काया, करहि सु भाया,

णर-सुर-णायखण्णउ ॥ ५-३ ॥

[५-३]

[वइरसेन का अमरसेन से वेश्या के गधी होने का वृत्त-वर्णन]

इसके पश्चात् हे स्वामी ! वेश्या ने मुझे आकाशगामी पावली से समुद्र के बीच मदनदेव की मेरे अर्थ बोली गयी यात्रा के लिए कहा ॥१-२॥ उसके कहने से मैं (उसे) मदनदेव के मन्दिर ले गया । मैंने वन्दना नहीं की । मेरी पावली लेकर और मुझे छोड़ करके वह (वेश्या) घर आ गयी ॥३-४॥ वहाँ मेरा हितैषी ओर सुखकारी पूर्वभव का सम्बन्धी (एक) विद्याधर आया ॥५॥ प्राणियों के सुखकारी उस विद्याधर से अपने वैरी का मैंने पूर्ण वृत्त कहा ॥६॥ मैं देव मन्दिर पर्वत को देखने तथा जाने को रोका गया ॥७॥ मुझे पन्द्रह दिन की अवधि देकर (विद्याधर) चला गया । मैं कर्म से प्रेरित होकर वहाँ गया ॥८॥ वहाँ छोटे वृक्ष का फूल सुँघा । हे प्रभु ! मैं शीघ्र गधा हो गया ॥९॥ वहाँ दिन पूर्ण होने पर विद्याधर आया । उसके द्वारा मैं गधे के रूप में देखा गया ॥१०॥ वह मुझे दूसरे वृक्ष का फूल सुँघाता है । मेरा जो रूप था वह मैं पा जाता हूँ ॥११॥ मैंने विद्याधर के पास फूलों का रहस्य ज्ञात किया । इसके पश्चात् मैंने कहा— मुझे मेरे निवास पर भेजो ॥१२॥ मुझे पाँच दिन (और) रहने को कहकर विद्याधर चला गया । कर्म-वश मैं देवालय में रहा ॥१३॥ उसी समय मैंने मन में विचार किया और दोनों वृक्षों के फूल तत्काल ले लिये ॥१४॥ विद्याधर से छिपाकर गाँठ में बाँध करके मैं सुन्दर और सुगन्धित (वे फूल) यहाँ ले आया ॥१५॥ विद्याधर के द्वारा मैं यहाँ छोड़ दिया गया । इन्द्र के समान स्वेच्छानुसार (मैंने) नगर में भ्रमण किया ॥१६॥ उस मायाविनी (वेश्या) के द्वारा मैं नगर में देखा गया । वेश्या ने अंगों में पट्टियाँ बाँध लीं ॥१७॥ हे प्रभु ! (वह) वैरिन वेश्या विद्याधर को कहकर मुझे अपने घर ले गयी ॥१८॥ (वहाँ कहने लगी)—शुद्ध मति से देवता की आराधना करके मुझे कौन अनुपम वस्तु लाये हो कहो ॥१९॥ अपने मन से सुखपूर्वक हाथ में लेकर जो वृद्धा सुँघती है वह शीघ्र नव यौवन हो जाती है ॥२०॥ स्वामी मुझे दुःखहारी औषधि देकर और इस स्थान पर छोड़कर गये हैं ॥२१॥ मेरे कहे वचन सुनकर वह क्रूर वृद्धा दासी मन में अति हर्षित हुई ॥२२॥

घत्ता—(वेश्या ने कहा—) दया करो और मुझे शीघ्र श्रेष्ठ तथा सुन्दर औषधि दो । मनुष्य, देव और नागेन्द्र के समान वर्ण-रूप-सौन्दर्य तथा रति की देह के समान मेरा शरीर करो ॥५-३॥

[५-४]

मइ च्चित्तउ पडियउ दाउ महु । जो करतहं करउ ण वेइ लहु ॥१॥
 सो हारइ मणुवहं जम्मु वरु । जण भर्णाहिं हीणु णिकज्ज णिरु ॥२॥
 किय रासहिं फुल्ल सुंघाइ वेस । तं उप्परि विट्ठउ जमह वेस ॥३॥
 पुक्कारिउ परिणु लंजियाइं । कडवाड-सेणु-सहुं हाणिउं मइं ॥४॥
 तं णिसुणि समायउ भाय तुहुं । महु जोइ मिलिउ तुहुं पुज्जु महु ॥५॥
 णिय वइयरु साहिउ वेस तुम्ह । जं जाणहिं णरवइ करहिं अम्ह ॥६॥
 इव मुच्चहिं लंजिय महु कहेण । जं लइय वत्थ तं लइ सुहेण ॥७॥
 णिव-तयणु पमणिउ वइरसेणि । सत्तुह [अ] मुयालउ गुणणसेणि ॥८॥
 वीयइ तरु-फुल्ल सुंघाइ-डुट्ठ । हुइ जं रूवें पहु लोय-विट्ठ ॥९॥
 मग्गियउ कुमारहु वेय वत्थ । सहयाल-फलु वि पावलिय सुत्थ ॥१०॥
 तं दिण्णइं भोयं कुमर-हत्थ । आणदिउ राणउ कुमरु तत्थ ॥११॥
 बहु वायइ वज्जिय जय-सिरीहिं । णच्चंति विलासिणि मण-हरीहिं ॥१२॥
 तहं जय-सद्वे च्चित्तियउ राउ । णिय-बंधव-सहियउ दिनु चाउ ॥१३॥
 विरुयावलि भट्ट भणंत तत्थ । वणिरच्छासोह करंति वत्थ ॥१४॥
 वद्धे चंदोवे तहरवार । मंगलु गाइज्जइ राय-दार ॥१५॥
 आसीसहिं पउमिणि वार-वार । जय णंदि विद्धि पहु सहु कुमार ॥१६॥
 धय रोपिय सिहरहं पंच वण्ण । वद्धे मणि-तोरण मणि-खण्ण ॥१७॥

घत्ता

बहु वाय णिणार्याहिं, पउमिणि गीर्याहिं,

दिउ कुमरह जुयराय-पउ ।

मंगलु-गीयतहं, णारि-णडंतहं,

भउ कंचणपुर-राउ धुउ ॥ ५-४ ॥

[५-४]

[वेश्या को निज रूप और वइरसेन को गत-वस्तु-लाभ तथा राज-द्वार में हुआ हर्षोल्लास-वर्णन]

मैंने (वइरसेन ने) विचारा—मुझे अवसर मिल गया है । जो अवसर पाकर कर्तव्य नहीं करता है, वह श्रेष्ठ मनुष्य-जन्म को व्यर्थ खोता है । लोग (उसे) निश्चय से हीन और निकम्मा कहते हैं ॥१-२॥ (मैंने) फूल सूँघाकर (वेश्या को) गंधी के रूप में किया (और) घम के वेष में उसके ऊपर बैठा ॥३॥ वेश्या के कुटुम्बियों ने मुझे मारने की सेना सहित कोतवाल को बुलाया ॥४॥ यह सुनकर मेरे पूज्य हे भाई ! मेरे निमित्त से आप आये (और) मिले ॥५॥ (मैंने) तुम्हें वेश्या के अपने वैर को कहा / बताया है । हे राजन् ! जो जानें हमारा करो ॥६॥ (राजा ने कहा)—मेरे कहने से वेश्या को अभी मुक्त करो (और) जो (उसने तुम्हारी) वस्तुएँ ली हैं वे सुखपूर्वक ले लो ॥७॥ वइरसेन ने राजा के वचन स्वीकार किये । गुणों की शृंखला स्वरूप वइरसेन ने शत्रु (वेश्या) को नहीं मारा ॥८॥ (वह) दूसरे वृक्ष का फूल उस दुष्ट वेश्या को सुँघाता है । वह जिस रूप में पहले लोगों के द्वारा देखी गयी थी (उस रूप में परिवर्तित) हो गयी ॥९॥ कुमार ने आम्र-फल और पावली दोनों वस्तुएँ माँगीं ॥१०॥ (उसने) वे वस्तुएँ भय-भीत होकर कुमार के हाथ में दे दीं । राजा और कुमार वहाँ हर्षित हुए ॥११॥ जय-जयकार हुआ, बहुत प्रकार के बाजे बजाये गये । मन-आकर्षित करनेवाली विलासिनी स्त्रियाँ नृत्य करती हैं ॥१२॥ राजा दान देते हुए जय-जय ध्वनि के बीच भाई के साथ चला ॥१३॥ वहाँ भाट विरुदावलियाँ कहते हैं, वर्णिक अपनी ओर से सुन्दर वस्तुएँ भेंट में देते हैं ॥१४॥ क्रमानुसार चंदोवे बाँधे गये, राज-द्वार पर मंगलगीत गाये गये ॥१५॥ स्त्रियाँ बार-बार आशीष देती हैं कि कुमार के साथ राजा की जय हो, आनन्दित रहें और वृद्ध हो ॥१६॥ महलों के अग्रभाग पर पाँच वर्ण की ध्वजाएँ स्थापित की गयीं । सुन्दर मणियों से निर्मित तोरण बाँधे गये ॥१७॥

घत्ता—कुमार वइरसेन को युवराज पद दिया गया । इस अवसर पर राजा के कंचनपुर नगर में अनेक वाद्य-ध्वनियाँ की गयीं । स्त्रियों ने मंगल-गीत गाये और नृत्य किया ॥५-४॥

[५-५]

वहुं णेहे अच्छहिं विण्णि भाय । णिय-पय सुहि पालहि साणुराय ॥१॥
 णउ चोरु-जारु तिणि रज्ज-तेय । णं भउवइरिहं सुद्धि वसहि लोय ॥२॥
 पावलिय-जट्ठि तहं [लइ] कुमार । खेयर सह वसि किय दुण्णिवार ॥३॥
 सह वधि वि घल्लिय णिवह पाय । णिव-आण मण्णि णियपुर समाय ॥४॥
 सह राय अ (ह) त्थु लिउ कुमर दंडि । जित्ते रणभूमिहि माणुखंडि ॥५॥
 हुव सयल-वसुंधर राय-राय । धम्मत्थ-काम संजुत्त भाय ॥६॥
 जिणु-सुय-गुरु-पुज्जहिं तिण्णिकाल । तहं सुणहिं जिणागमु मइ-विसाला ॥७॥
 पोसहि चउ संघह असण-दाण । सुहझाणं अच्छहिं गुण-णिहाण ॥८॥
 णिय पउमिणि रइ-सुह रमहि तत्थ । सुह रज्जु-करंतइ सुमइ-पंथ ॥९॥
 आणाविय पिउ णिय जणणि भाय । महपुरयण चंड-समाणु आय ॥१०॥
 वहु उच्छवेण लिय णिय गिहेण । देवंग-वत्थ पहिराय तेण ॥११॥
 सुण्हाइं पय-लग्गिय हत्थ-जोरि । तूरहं सरु-वज्जइ मयण-भेरि ॥१२॥
 थप्पिउ सिंहासणि णियय ताउ । वोलियइ णिरंतर विणइ वाउ ॥१३॥
 वहु विणय-णविवि णिव तुह पसाय । हम रज्जु-लद्धु कंचणपुराय ॥१४॥
 किय सयल-राय-वसि णिय वलेण । णिव-कण्ण-विवाहिय वहु विहेण ॥१५॥
 तुम्हहं किउ भल्लउ हम सुहेहिं । जं णिवकासिय इवि णिय-गिहेहिं ॥१६॥
 सावईय-गाय वयणइं सुणेवि । हं मणहं मणोरहं पुज्ज वे वि ॥१७॥
 किय-कम्म-सुहासुह णिरु वमेहिं । णउ अण्णु हाइ किय सुह-डुहेहिं ॥१८॥
 णउ चल्लइं मत्थइं लिहिउ देव । णउ करि विसाउ ते वविहिय सेव ॥१९॥
 एवहिं मण-इच्छिउ करहि रज्जु । हंमि सेवहि तुव पय राय-सहु ॥२०॥
 सुव-वयण-सुणि वि णिउ भणइ जुत्त । जं पुण्ण-सहायउ होइ मित्तु ॥२१॥

[५-५]

[वडरसेन की दिग्विजय, दोनों भाइयों की माता-पिता के प्रति
कृतज्ञता तथा कर्म-सिद्धान्त-वर्णन]

दोनों भाई बहुत स्नेह से रहते हैं और अनुराग पूर्वक सुख से अपनी प्रजा का पालन करते हैं ॥१॥ उनके तेज से राज्य में चोर और व्यभिचारी नहीं (रहे), वैरियों का भय नहीं (था), लोग सुख से रहते हैं ॥२॥ कुमार-वडरसेन ने पावली और लाठी लेकर दुर्जय सभी विद्याधरों को वश में करके एक साथ बाँधकर और राजा के पैरों में डाल राजा की आज्ञा मनवाकर अपने नगर आया ॥३-४॥ राजा के साथ कुमार ने हाथ में दण्ड लिया और रणभूमि में मनुष्यक्षेत्र जीता ॥५॥ राजा का सम्पूर्ण पृथिवी पर राज्य हो गया । दोनों भाई धर्म, अर्थ और काम में संलग्न हो गये ॥६॥ मतिमान् वे दोनों भाई जिन-देव, जिन-श्रुत और जिन-गुरु की त्रिकाल पूजा करते हैं और वहाँ जिनागम सुनते हैं ॥७॥ आहार-दान देकर चतुर्विध संघ का पोषण करते हैं और वे गुणनिधि शुभ ध्यान में रहते हैं ॥८॥ शुभ मति के पथिक वे सुखपूर्वक राज्य करते हुए अपनी स्त्री के रति-सुख में रमण करते हैं ॥९॥ नगर के तेजस्वी बड़े लोगों के द्वारा अपने माता-पिता को बुलवाकर बहुत उत्सव के साथ उन्हें वे घर ले जाते हैं और उन्हें देव तुल्य वस्त्र पहिनाये जाते हैं ॥११॥ तुरही, सरु, मदन और भेरी वाद्य बजाये गये । भली प्रकार स्नान कराके वे हाथ जोड़कर चरणों में प्रणाम करते हैं । तुरही, मृदंग और भेरी वाद्य बजाये जाते हैं ॥१२॥ वे अपने ताऊ को सिंहासन पर बैठाते हैं और निरन्तर विनम्र वचन बोलते हैं ॥१३॥ बहु विनय पूर्वक प्रणाम करके राजा (अमरसेन कहता है—) राजन् ! आपके प्रसाद से ही हमें कंचनपुर का राज्य मिला है ॥१४॥ निज बल से समस्त शासक वश में क्रिये हैं, अनेक विधियों से राज-कन्यायें विवाही हैं ॥१५॥ आप लोगों ने भला किया है जो कि हमें अपने घर से निकाला, हम सुखपूर्वक हैं ॥१६॥ (आपने) सौतेली माता के वचन सुनकर हमारे मन के मनोरथों को पूर्ण किया है ॥१७॥ निश्चय से कृत, शुभ और अशुभ कर्म उद्वमन करते हैं / शुभाशुभ फल देते हैं । कृत सुख और दुःख देनेवाले कर्म अन्यथा नहीं होते हैं ॥१८॥ भाग्य ने (जो) माथे पर लिख दिया है, (वह) अचल है । आप खेद न करो । जो बोया था वह पाया है ॥१९॥ इस प्रकार मन की इच्छानुसार राज्य करो । राजाओं सहित हम आपके चरणों की सेवा करते हैं ॥२०॥ पुत्र के

तं सह भुंजइ णिहि [णिव] णिरुत्तु । अक्खंति जिणेसरु णाण-णेत्तु ॥२२॥

घत्ता

तहं दुज्जण-पाउ, पर-संताउ,
 सुयणच्छिद्ध जोवइ कुमई ।
 अप्पहो णउ जोवइ, सुयण-वि गोवइ,
 वज्झइ णरयहं दुहह गई ॥ ५-५ ॥

[५-६]

वहु विणयं सावत्तिय मार्यहि । खम्माविय णाणा सुह-वार्यहि ॥१॥
 पुणु ते डाविय णिव कोड-वावार । जिण्डु मरणकाल मुक्किय कुमार ॥२॥
 गुणु मणिण पसंसिय देस-दिण्ण । दिय देव-वत्थ सव्वह खण्ण ॥३॥
 पुर-वाहिर दिण्णइं धरणि सण्ण । णिय वण्णे भासिय जे विवण्ण ॥४॥
 इत्थंतरि कुमरइ सुहि रमंत । धम्मत्थ-काम भुंजंत संत ॥५॥
 जिर्णात्रिव अकित्तिम-कित्तिमाइं । वंदहि गह-गइ-पावल-पसाइं ॥६॥
 णियसेण-सहिय वण-करहि कील । जल-सरवर-वायहि करहि कील ॥७॥
 अण्णह दिण सोयर-वे वि सुहि । णिय घर-गवक्ख विट्ठइं जुवेहि ॥८॥
 आवंत दिट्ठ णहि मुणि-जुयलु । चरियहं णियह णिमित्त रयणत्त घलु ॥९॥
 अवयण्णइं पुर-साधार-दीहि । परिगाहिय भोयणु दिण्णु तहि ॥१०॥
 गय अक्खय-दाणु वइ गइय ते वि । सुर-णर-णाइंदइं णमहि ते वि ॥११॥
 उत्तिण्ण रहिय णिव उववणम्मि । तं वंदिय पुरयण थुइव-रयम्मि ॥१२॥
 पुणु दिट्ठ कुमारह भउ सरंवि । पुव्वहं भवाइं इणु समु णिएवि ॥१३॥
 विवहारिय घर-सम्भाविद्याइं । भुंजाविय भोयणु अप्पु भाइं ॥१४॥
 धण्णंकर-पुण्णंकर कम्मकर । इव वंदहि मुणिवर-असुहहर ॥१५॥
 हम कहहि पुव्व भउ दिव्विञ्जुणि । [कम्म] णास जुत्तइ पयउ जणि ॥१६॥
 तह गयइ सपरियण जुत्त भाय । वंदिय मुणि जुयलइ चच्चि पाय ॥१७॥

वचन सुनकर राजा (वइरसेन का ताऊ) युक्त वचन कहता है—हे मित्र ! जो पुण्य सहाई होता है तो ज्ञान नेत्रवाले जिनेश्वर कहते हैं कि निश्चय से (वह) निधियों के साथ राज्य भोगता है ॥२१-२२॥

घत्ता—दुर्जन, पापी, दूसरों को सतानेवाला, (जो) दुर्बुद्धि सज्जनों में दोष देखता है, अपने (दोष) नहीं देखता, सज्जनों की गोपनीयता भंग करता है वह दुःखदायी नरकगति का बन्ध करता है ॥५-५॥

[५-६]

[अमरसेन-वइरसेन की कोतवाल के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन, अकृत्रिम चैत्यालय-वन्दना एवं पूर्वभव-स्मरण]

कुमारों ने अनेक प्रकार के शुभ वचनों से बहु विनय पूर्वक सौतेली माता से क्षमा कराई ॥१॥ इसके पश्चात् राजा ने कोतवाल को बुलाया जिसने मरणकाल में कुमारों को छोड़ दिया था ॥२॥ (उसके) गुणों को स्वीकार करके प्रशंसा करते हुए उन्हें सभी नये दिव्य वस्त्र देकर उपदेश दिया ॥३॥ नगर के बाहर जहाँ उस वर्ण के लोग रहते थे वहाँ उन्हें शरण देते हुए रहने को भूमि दी ॥४॥ इसके पश्चात् कुमार धर्म, अर्थ और काम को भोगते हुए सुखपूर्वक रमण करता है ॥५॥ आकाशगामी पावली के प्रसाद से दोनों भाई कृत्रिम और अकृत्रिम जिन-प्रतिमाओं की वन्दना करते हैं ॥६॥ अपनी सेना सहित वन-क्रीडा और सरोवर तथा वापियों में जल-क्रीडा करते हैं ॥७॥ किसी दूसरे दिन वे दोनों भाई सुखपूर्वक घर के झरोखे पर बैठकर देखते हैं ॥८॥ उन्हें अपनी चर्या के निमित्त आकाश से आते हुए रत्नत्रय से विशुद्ध दो मुनि दिखाई दिये ॥९॥ वे नगर के एक श्रावक के घर उतरते हैं । उसने पडगाह करके वही (उन्हें) आहार दिया ॥१०॥ उन्हें अक्षय दान देकर (दोनों सहोदर) चले गये और सुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा नागेन्द्र जिन्हें नमस्कार करते हैं वे मुनि भी चले गये ॥११॥ उपवन में रथ से उतरकर राजा और नगर-वासियों ने स्तुतियाँ रचकर उनकी वन्दना की ॥१२॥ इसके पश्चात् कुमार को पूर्वभव का स्मरण हुआ कि इन मुनियों के समान हो निश्चय से मुनि व्यापारी के घर आये हैं । हम भाइयों ने (उन्हें) अपना भोजन कराया था ॥१३-१४॥ धण्णंकर और पुण्णंकर कर्मचारियों ने अशुभ को दूर करनेवाले मुनियों की वन्दना की है ॥१५॥ पूर्वभव में इन्हींने हमें दिव्य-ध्वनि से कर्मनाश की युक्ति प्रकट की थी ॥१६॥ दोनों भाई परिवार सहित वहाँ गये और दोनों ने मुनियों की चरण-पूजा करके वन्दना की ॥१७॥

घत्ता

विट्ठइ मुणि-पासहि, मयणु-विणासहि,

वय-तव-संजम-वय-धवल ।

णिगंथ दियंवर, रिद्धि गयण वर,

तव-तेयं जिउ तरणि वर ॥ ५-६ ॥

[५-७]

पुणुःपुणु पणविवि रावहं मुणिवर । कहि परमेसर धम्मु वि सुहयरु ॥१॥
 मुणि अक्खइ णिसुणहु लोय सारु । जिणधम्मु-दयालउ लोय सारु ॥२॥
 सायार-धम्मु भव्वयण-इट्ठु । जो पालइ सावय-वयइ सुट्ठु ॥३॥
 सुइगइ-गमणु वि सिव-सुह-दायउ । थावर-तस भेयइ वहु कायउ ॥४॥
 मण-वय-कायहं जो दय-हिययहं । रक्खइ-धम्मिउ डिभ समेयहं ॥५॥
 सच्चहं धम्महं धम्मु पहाणउ । दाणु-चउविवह सुहगुण-ठाणउं ॥६॥
 मुणि-तव-सावय-वयइ पहिल्लइं । सुह-गइ कारण सइ एकल्लइं ॥७॥
 सुहम-थूल जे जीवह उत्तइं । णाण गणह समाणइं वुत्तइं ॥८॥
 जा कुइ ताहं विणासइ पाणइं । सुब्भ-गई सो णियमें माणइं ॥९॥
 जो रक्खइ सो सव्व सुहकरु । सिद्धि बहुल्लिहे सो सच्चइ वरु ॥१०॥
 सच्च-वयइं-आयरइं जि जणि । सच्चु-पर्यं पइ भावइ णियमणि ॥११॥
 एवमेव जो अलियउ भासइं । मुक्कु होइ सो दुग्गइ-फासइ ॥१२॥
 अलिय-भासि इह परभउ हारइं । होइ पमाणु ण सुहगइ वारइ ॥१३॥
 गड्ढिउ-पडिउ परहधण-पिच्छि वि । लेइ ण देइ ण पर-मणु वंचि वि ॥१४॥
 अणु दिण्णउ जो परधणु साहइ । चोरु होइ सो णिय कुसु दाहइ ॥१५॥
 परवसु-धूलि-समायउ माणइं । णियमत्तहु उवरिम संठाणहु ॥१६॥
 तक्कराहं बहु संग ण किज्जइ । वाधारु वि आलाउ चइज्जइ ॥१७॥

घत्ता

पर जुवई-संगमु, कय दुग्गइ गमु,

सुगइ-वारणु अजसघर ।

रावणु पयडिउ जणि, परुतिय धरि मणि,

णरय-पवण्णउ पयरु भडु ॥ ५-७ ॥

घत्ता—काम-विनाशक, व्रत-तप और संयम से उज्ज्वल अवस्थावाले, निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, ऋद्धियों से आकाशगामी, तप-तेज से सूर्य के विजेता मुनियों के पास (राजा) बैठ जाता है ॥५-६॥

[५-७]

[राजा को पंच-पाप-त्यागमय चारण-मुनि कृत धर्मोपदेश]

राजा ने बार-बार नमस्कार करके (कहा)—हे मुनिवर ! सुखकारी धर्म कहो / समझाओ ॥१॥ मुनि कहते हैं—सुनो ! लोक में सार स्वरूप दयालु जैनधर्म है ॥२॥ भव्य जनों को गृहस्थ-धर्म इष्ट है, जो श्रावक के व्रत भली प्रकार पालता है (वह) शिव-सुख को देनेवाली शुभगति में गमन करनेवाला होता है । स्थावर और त्रस के भेद से (जीव) बहु कायिक हैं ॥३-४॥ इन पर मन, वचन और काय पूर्वक बच्चों के समान हृदय से दया रखना धर्म है ॥५॥ प्रधान सत्य धर्म है । चारों प्रकार का दान शुभ-गुणों का स्थान है ॥६॥ मुनियों को तप और श्रावकों को व्रत-शुभगति के सैकड़ों कारणों में एक अकेला पहला कारण है ॥७॥ जो सूक्ष्म और स्थूल जीव बताये गये हैं, उनकी विभिन्न जातियाँ कही गई हैं ॥८॥ जो उनके प्राणों का विनाश करता है वह नियम से नरकगति पाता है ॥९॥ जो रक्षा करता है वह सब प्रकार से सुखकारीरुचि के अनुसार श्रेष्ठ अनेक सिद्धियाँ पाता है ॥१०॥ जो जन सत्य वचन अपने मन से आचरते हैं वे शाश्वत पद पाते हैं ॥११॥ इसी प्रकार जो झूठ बोलता है वह मूक होता है और दुर्गति में फँसता है ॥१२॥ झूठ बोलकर वह आगामी भव बिगाड़ता है, वह प्रतीति का पात्र नहीं होता और न शुभगति पाता है ॥१३॥ पराये धन को देखकर (मनुष्य) गड्ढे में गिरा है (अतः) लेन देन में पर को मत ठगो ॥१४॥ जो बिना दिया पराया धन प्राप्त करता है, वह चोर होकर अपनी कुशलता को जलाता है ॥१५॥ (जो) पराये धन को धूलि के समान मानता है वह नियम से ऊपर (ऊर्ध्वलोक में) स्थित होता है ॥१६॥ चोरों की संगति नहीं करे, बाधाकारी झूठ को भी त्यागे ॥१७॥

घत्ता—परस्त्री-रमण करनेवाला दुर्गतिगामी और सुगति का निवारक तथा अपयश का घर होता है । प्रबल योद्धा रावण पर-स्त्री को मन में धारण करके नरक को प्राप्त हुआ यह लोगों में प्रकट है ॥५-७॥

[५-८]

परतिय दुग्गइ-गमणहं सुहयारि । परतिय अवजइ जलहु जि सुरसरि ॥१॥
 परतिय-संगमि जो रस-माणउं । तिण-समाणु मणिज्जइ राणउ ॥२॥
 आयरु करि वि अण्ण तिय-वज्जहु । सुहगइ-गमणु वि णियमइ सज्जहु ॥३॥
 अइयारु वि मणि लोहु ण किज्जइ । लोहें धम्मायरु णउं दिज्जइ ॥४॥
 लोहासत्तउ कासु ण मण्णइं । गम्मागम्मु किं चि णउ गण्णइं ॥५॥
 अण्णु अणत्थ दंदु पर-कारणु । जाणि वि णरय-दुक्ख सय-धारणु ॥६॥
 णियमु गहिज्जइ तण्हाच्छंडि वि । मणु पसरंतउ धरइ विहडि वि ॥७॥
 दिसि-विदिसहि गम संखा-करणउं । पावस-कालि गमणु परि हरहणउं ॥८॥
 खर-वव्वर पुल्लद जहि णिवसहिं । जिणवर-धम्मु णत्थि तहिं देसहिं ॥९॥
 तहिं णउं वसइ णत्थि साधम्मिउं । भाउ वि गउ करेइ सुह कम्मिउं ॥१०॥

घत्ता

जो पाव परायणु, पाविय खलयणु,
 तिरयंच वि जे दुट्ठ-मण ।
 ते धरइ ण पालइ, कह ण णिहालइ,
 मज्झत्थें अच्छहि सयणु ॥५-८॥

[५-९]

रामायउ किज्जइ एयचित्ति । सव्वहं जीवहं धारे वि मित्ति ॥१॥
 अट्ठमि-च्चउदसि पोसहु करे वि । पसरंतउ णियमणु संहरेवि ॥२॥
 भोगोवभोय-संखा विहाणु । किज्जइ सावयहिं वि सुह-णिहाणु ॥३॥
 अतिहिं सो भोयणु मुणिहिं वित्ति । ते भोयभूमि-सुहु णर लहंति ॥४॥
 रयणिं भोयणु बहु दुरिय-खाणि । णउ सुज्जइ किं पि वि खाणि-पाणि ॥
 अणगाल-तोउ सायणेण जीउ । बहु-रोयहं पीडिउ होइ कीउ ॥६॥
 सायार-धम्मु यहु मुणिहिं जुत्ति । अणुरायं धरहिं जि लहंति मुत्ति ॥७॥
 सव्वे वि गहि वि तं णविवि साहु । मण्णिउं मणि भयउ अउव्व लाहु ॥८॥
 पुणु सुणि वि कुमारहं मुणिहिं पाय । पणविवि अक्खहि थिर अमियवाय ॥

[५-८]

[परस्त्री-त्याग एवं लोभ-परिहार तथा गुणव्रत सम्बन्धी धर्मोपदेश]

परस्त्री-रमण से दुर्गति होती है और परस्त्री-रमण त्याग गंगा जल के समान सुखकर होता है ॥१॥ हे राजन् ! जो परस्त्री के सहवास में आनन्द मानते हैं (उन्हें) तिनके के समान मानें ॥२॥ परस्त्री-सहवास त्यागो, सदाचार का पालन करके सज्जन नियम से शुभगति में जाते हैं ॥३॥ मन से लोभ का अतिक्रमण न करें। लोभ से धर्माचरण नहीं दें ॥४॥ लोभ में आसक्त पुरुष किसी को नहीं मानते। गमनागमन का कुछ भी विचार नहीं करते ॥५॥ सैकड़ों दुःखवाले नरक तथा अन्य अनेक अनर्थकारी झगड़ों का कारण जानकर तृष्णा-लोभ का परित्याग करके नियम ग्रहण करे और फैलते हुए मन का संकोच करके धारण करे ॥६-७॥ दिशाओं और विदिशाओं में गमन करने की संख्या/मर्त्यादि-निश्चय करे और वर्षा ऋतु में गमनागमन छोड़े ॥८॥ कठोर स्वभावी, अनार्य और भोल जहाँ निवास करते हैं, जहाँ जैनधर्म नहीं है, जहाँ साधर्मी नहीं है और भाई भी नहीं है वहाँ निवास न करे और न शुभकर्म करे ॥९-१०॥

घत्ता—जो आप में रत है, पापी है, दुष्ट है ऐसे लोगों और दुष्ट मन-वाले तिर्यञ्चों को न पकड़े, न पालन-पोषण करे, न बोले और न देखे। सज्जन (इनमें) मध्यस्थ रहे ॥५-८॥

[५-९]

[शिक्षाव्रत-उपदेश एवं अमरसेन का पूर्व-भव-वृत्तान्त]

सभी जीवों के मैत्रीभाव धारण करके एकचित्त से सामायिक करे ॥१॥ अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों में प्रोषधोपवास करके फैलते हुए अपने मन का संकोच करे ॥२॥ श्रावक सुख का निधान-भोग और उपभोग की वस्तुओं के परिमाण का नियम करें ॥३॥ जो अतिथियों और मुनियों को आहार कराते हैं वे मनुष्य भोगभूमि के सुख पाते हैं ॥४॥ रात्रि का भोजन बहुत पापों की खदान है। रात्रि में खाने-पीने में कुछ भी दिखाई नहीं देता ॥५॥ अनछना पानी पीने से जीव बहुत रोगों से पीड़ित होता है, कीड़े पड़ जाते हैं ॥६॥ इसे सागारधर्म जानो। जो इसे सस्नेह धारण करता है (वह) मुक्ति पाता है ॥७॥ सभी ने इसे ग्रहण करके साधु की वन्दना की तथा मन में अपूर्व लाभ माना ॥८॥ इसके पश्चात् कुमार मुनि के चरणों में नमस्कार करके स्थिर होकर अमृतोपम वाणी से कहता है

कहि सामिय अम्हहि पुव्व-भवंतर । हिय संदेहु हमि[मेटहु] मुणिवर ॥१०॥
 तं सुणे वि अक्खइ संसयहरु । सुणहु राय अक्खउ तुम्ह दुहहरु ॥११॥
 इह जंबूदीवह भरहखित्तु । लवणोदधि मंडिउ वर पवित्तु ॥१२॥
 जहि णयरइ संति मणोहराईं । धण-कण-कंचण-संपइ-हराईं ॥१३॥
 इह लोय-पसिद्धउ पुर-वरिट्ठु । उसम्भपुरु णामें तं वि सुट्ठु ॥१४॥

घत्ता

तहं पुरउ-पहाणउ, विणय सहाणउ,

अरि-मदणु णामें पयउ ।

देवलदे भामिणि, णं सुर-कामिणि,

पट्ट धरणि, णरवइ-विमलु ॥५-९॥

[५-१०]

णिय सुविह-मंति मंतत्थ-जाणु । णिय सेवय-पुरयण महि पहाणु ॥१॥
 तहं अभयंकरु णामें विवहारी । णिवसइ रिद्धि-सहइ विवहारी ॥२॥
 तं भामिणि कुसलावतिय सुच्छ । जिणधम्मसत्तिय चत्त-मिच्छ ॥३॥
 तं गिहि वे अच्छहि कम्मकरा । धणकरु-पुण्णंकरु भाय वरा ॥४॥
 गरुवउ घर-कम्मु करेइ तहि । लहुवउ धणु-रक्खइ उववणेहि ॥५॥
 अभयंकर-सेट्ठिहि अहव-भत्त । सुहि अच्छहि वणिवर गिह संचित्त ॥६॥
 अहो पुण्णहं अंतरु जगि हवेइ । सुर-णर-फाणद-सिवपउ लहेइ ॥७॥
 पावह फलु अंतरु भाय जोइ । मर घर-कम्मेरउ दुहिउ होइ ॥८॥
 यउ चित्तहि विण्णि वि भाय तहि । अम्हइं णिय णय कम्मरहि ॥९॥
 संसार-भववुहि पडिउ जोउ । णीसरइ ण विणु जिणधम्म-कीउ ॥१०॥
 यउ चित्ति वि जिणवरःधम्म-भत्त । अच्छहि सुहज्झाणें लोण-चित्त ॥११॥
 णउ वहह सत्तुह कहह तहि । कीरंति केर विवहारियाहि ॥१२॥
 अण्णहि दिणि जाइय साहु तहि । विण्णि वि जिणधम्मह जोइ तहि ॥१३॥
 किज्जइ उवयारु वि इणि सुहिउ । णित्थरहि असुह किउ कम्मुरउ ॥१४॥
 तहं ण्हाणु कुणिउं वे वंधवेहि । रहिराविय वत्थइं धवल तेहि ॥१५॥

सुनो ॥१॥ हे स्वामी ! हमारा पूर्वभव कहकर हमारे हृदय का सन्देह दूर करो ॥१०॥ ऐसा सुनकर संशय दूर करनेवाले (वे मुनि) कहते हैं— हे राजन् ! सुनो ! दुःखहारी तुम्हारा (पूर्वभव) कहता हूँ ॥११॥ इस जम्बूद्वीप में लवण-समुद्र से सुशोभित श्रेष्ठ भरतक्षेत्र है ॥१२॥ वहाँ धन-धान्य और स्वर्ण-सम्पदा के घर मनोहर नगर हैं ॥१३॥ उनमें लोक में प्रसिद्ध ऋषभपुर नाम का श्रेष्ठ और सुन्दर नगर है ॥१४॥

घत्ता—उस प्रधान नगर का स्वभाव से विनयवान अरिमर्दन नाम का राजा था । देवांगना के समान सुन्दर उस विशुद्ध नृपति की देवलदे नाम की पटरानी (थी) ॥५-९॥

[५-१०]

[अमरसेन-वडरसेन का पूर्वभव-वृत्त]

पृथिवी पर प्रधान वह राजा अपने सुविध मन्त्री से मन्त्रणा (सलाह) करके पुरजनों की सेवा करता है ॥१॥ उस नगर में अभयंकर नामक ऋद्धियों से सम्पन्न (एक) व्यापारी रहता है ॥२॥ व्यवहार में कुशल उसकी स्त्री मिथ्यात्व का त्याग करके जैनधर्म में आसक्त थी ॥३॥ उसके घर धण्णंकर और पुण्णंकर (नाम के) दो कर्मचारी भाई रहते हैं ॥४॥ बड़ा भाई वहाँ घर का काम करता है और छोटा भाई उपवन में धन की रक्षा करता है ॥५॥ सेठ अभयंकर अर्हन्त का भक्त था । वह सुखपूर्वक घर में विचार करते हुए रहता है ॥६॥ अहो ! संसार में पुण्य का अन्तर होता है, पुण्य से देव, मनुष्य, फणीन्द्र और मोक्ष पद (भी) प्राप्त होता है ॥७॥ हे भाई ! पाप के फल का अन्तर देखो दोनों भाई मरकर घर के दुःखी कर्मचारी हुए ॥८॥ वहाँ सेठ के घर दोनों भाई विचारते हैं—कि हम न्याय-नोति से काम में रहें / काम करें ॥९॥ संसारी जीव भवसागर में पड़ा है, जिनधर्म (धारण) किये बिना (वह) बाहर नहीं निकलता है ॥१०॥ ऐसा विचार करके जैनधर्म के भक्त वे दोनों भाई शुभ ध्यान में चित्त से लीन हो जाते हैं ॥११॥ ऐसा प्राणी संसार-सागर में नहीं डूबनेवाला कहा गया है । वे दोनों भाई व्यापारी के पास क्रीडा करते हैं ॥१२॥ किसी दूसरे दिन सेठ वहाँ जाता है, दोनों भाइयों को जैनधर्म में देखता है ॥१३॥ वह सुखपूर्वक इनका उपकार करता है, (उन्हें) किए अशुभ कर्मों की रति से निकालता है ॥१४॥ दोनों भाइयों को वहाँ स्नान कराके शुभ्रवस्त्र पहिना कर— ॥१५॥

घत्ता

गउ लइ जिणवर-गेहंहिं, बहु सोहा जहिं,

मुणि थक्कइ चउमासहिं ।

वणि अट्टइ-पव्वहिं, उववासिउ तहिं,

गयइं तिण्णि-जिण-भवणु तहिं ॥ ५-१० ॥

[५-११]

जिण गंथ-गुरहं अंचणहं हेय । लिय पुपफमाल वणि सुच्छ जोय ॥१॥
 अद्धे कम्मेरहं देइ सुच्छ । णउ गिण्हहिं ते पर-दव्व वत्थ ॥२॥
 बुज्झइ विवहारी किण्ण लेहु । महु हिय अच्चरिय डभगस देहु ॥३॥
 ते भणइं जस्स हम फुल्ल लेहिं । तं पुण्णु होइ अम्हा ण सुहिं ॥४॥
 णउ गिण्हहिं वणिवर णिच्चएण । इय भासहिं गिर ललियक्खरेण ॥५॥
 तों सुणि विवहारी हरख-चित्तु । णिय जयवर-पासह वर पवित्तु ॥६॥
 जिणधम्मोवरि जिणि चित्तु लाय । पुणु-पुणु वणिवर गुर पणवि पाय ॥७॥
 सुणि जइवर ए दो सुच्छ भाय । णउ पुज्जहिं जिणु हम दव्व-चाय ॥८॥
 तं कारणु बुज्झहिं साहु-भव्व । एयाहं वि दुण्णिहु विगय गव्व ॥९॥
 तं णिसुणि वि मणइ गुरु अमियवाय । णरवइ-सुरवइ-फणि णमहिं पाय ॥१०॥
 भो कम्मं रहु प्या-जिणिंद । तुम किं ण करहु तिल्लोयवंद ॥११॥
 सावउगम-मण णहच्छेय-पियारी । सुर-णर-फणिंद सिव-गमणह सारी ॥१२॥
 तं णिसुणि वि धण्णंकर-पुण्णंकरु । अण्णहिं वयणुल्लउ सुच्छि णिरु ॥१३॥
 णिय दव्वहं कुसुमइं अम्ह लेहिं । चच्चहिं जिणु-सामिउ थुइ करेहिं ॥१४॥
 भो भणइ जईसरु किंचि दव्वु । जइ अत्थि तुम्महहिं कहहिं भव्वु ॥१५॥

घत्ता

इक्कहं कम्मंकर, भणिउं महुर सर,

महु पहि कउडी पंच जई ।

तं मोलहिं जहिं, किं लव्वइ तहिं,

कुसुम अमोल्लइ सुणि सुमई ॥ ५-११ ॥

घत्ता—उन्हें जिन-मन्दिर के उस स्थान पर ले गया जो सुशोभित था। जहाँ चातुर्मास में मुनि विराजमान रहते हैं। इसके पश्चात् दोनों ने जिन-मन्दिर में आष्टाह्निक पर्व में उपवास किया ॥५-१०॥

[५-११]

[धण्णंकर-पुण्णंकर का पर पूजा द्रव्य न लेने पर मुनि कृत सम्बोधन]

सेठ (अभयंकर) देव-शास्त्र और गुरु की पूजा के हेतु सुन्दर-स्वच्छ पुष्पमाल लेकर आधे पुष्प कर्मचारी दोनों भाइयों को देता है किन्तु वे पर-द्रव्य ग्रहण नहीं करते ॥१-२॥ सेठ पूछता है—क्यों नहीं लेते ? मेरा पौद्गलिक हृदय आश्चर्यचकित है। यह बात देह में डाभ के समान चुभ रही है ॥३॥ वे भाई कहते हैं—यदि हम फूल लेते हैं तो उससे मुखपूर्वक उत्पन्न पुण्य हमें प्राप्त नहीं होता है ॥४॥ हे सेठ ! निश्चय से हम (पर द्रव्य) ग्रहण नहीं करते—ऐसा वे मोठी वाणी से कहते हैं ॥५॥ ऐसा सुनकर सेठ हर्षित चित्त से (उन्हें) श्रेष्ठ और यति के पास ले जाकर जिनेन्द्र और जैतधर्म पर चित्त लगाकर तथा गुरु के चरणों में पुनः-पुनः प्रणाम करके (कहता है) ॥६-७॥ हे मुनिराज ! सुनिये ! स्वच्छ-हृदय ये दोनों भाई—हम इन्हें पूजा की द्रव्य देते हैं (फिर भी) जिनेन्द्र की पूजा नहीं करते ॥८॥ हे भव्य मुनिराज ! गर्व विहीन दोनों भाइयों से इसका कारण पूछिए ॥९॥ ऐसा सुनकर मुनि अमृतोपम-वाणी से कहते हैं—हे कर्मचारी भाइयो ! नृपति, सुरपति और फणिपति त्रैलोक्य वन्द्य जिनेन्द्र के चरणों की पूजा करते हैं, तुम क्यों नहीं करते ? ॥१०-११॥ वह श्रावक के मन को परम प्रिय है। सुरेन्द्र, नरेन्द्र, फणीन्द्र सभी का मोक्ष-गमन के लिए सार-स्वरूप है ॥१२॥ ऐसा सुनकर धण्णंकर और पुण्णंकर ने अन्य सुन्दर वचन कहे ॥१३॥ हम अपनी द्रव्य से फूल लेकर जिनेन्द्र स्वामी की पूजा और स्तुति करते हैं ॥१४॥ मुनिराज कहते हैं—हे भव्य (भाइयो) यदि तुम्हारे पास कुछ द्रव्य है तो कहो ॥१५॥

घत्ता—एक कर्मचारी ने मीठे स्वर से कहा—हे यति ! मेरे पास पाँच कौड़ियाँ हैं। हे बुद्धिबन्त यति सुनिये—फूल अमूल्य हैं। कौड़ियों के मूल्य को छोड़ो, उससे क्या प्राप्त हो (सकता) है ॥५-११॥

[५-१२]

तं णिसुणि वि गरुवउ भणइं वाय । हउं किं करेमि निहि-हीणु जाय ॥१॥
 णउ इक्क वराडीय मज्झु वाय । किं अंचउ जिणु-तिल्लोय-पहु ॥२॥
 यउ भणि वि जई पहि लिउ उवासु । चउविह आहारहं णेमु-घोसु ॥३॥
 दिणु-रयणि रहिय जिण सुच्छ गेह । णिय कूड एण चुं विय सुमेह ॥४॥
 सुविहाणइं णहाणु करे वि तेहिं । जिणु-सुय-गुरु-पुज्ज करेवि तहि ॥५॥
 सु वराडी पंचहं फुल्ल ले वि । चाडाविय जिण-पय थुइ करे वि ॥६॥
 पुणु गय विवहारिय-सत्थ गेहि । तहिं अवसरि सेट्ठिणि खड रसेहिं ॥७॥
 दिण्णउं भोयणु कम्मक्करेहिं । अइ-विणयं कहि ललियक्करेहिं ॥८॥
 संपुण्ण थालु लइ विट्ठु सुट्ठु । हिय चिंत्तहिं भायर कोइ इट्ठु ॥९॥
 जइ आवहि मुणिवर-पत्त इत्थ । तिण्हु णिय भोयणु पुण्णेण अत्थ ॥१०॥
 यउ भावण-भावाहिं वे वि जाम । मुणि-जुयल समाइं चरिय ताम ॥११॥
 तो पिच्छि विण्ण मुणि भायरेहिं । परिगाहिय मुणिवर णय-सिरेहिं ॥१२॥
 मुणि-तिट्ठ-तिट्ठ सुह मो [भो] यणेहिं । पाराविय णिय आहारु वे(दे)हिं ॥१३॥
 गय अक्खयदाणु चारण-णहेहिं । संतुट्ठु सेट्ठि कम्मंकरेहिं ॥१४॥
 लहु कियउ पुण्णु तुम्हि सुगइ-पंधु । चारण-पाराविय भव्व इत्थु ॥१५॥
 इव भुंजहु भोयणु अण्णु इत्त । णउ करहि भोजु वहु तित्ति-पत्त ॥१६॥
 चउविह आहारह हम णिवित्ति । अण्णहि दिणि भुंजहि सेट्ठिक्कत्ति ॥१७॥
 दाणहं पहाइं तुम्ह मरि वि पत्त । सणकुमर-सग्गि [वे] घिय महंत ॥१८॥
 रिसि-सायर भोयं-भुंजियत्त । उप्पण्णइं णरवइ-गेहि पुत्त ॥१९॥

घत्ता

कहि अम्ह जईस, तिहुवण-ईस,

सावत्तिय-मायहि विहित ।

किं कज्जे अम्हहं, दिउ लच्छणु तहं,

हम्म विडं वियणु भउ ॥ ५-१२ ॥

[५-१२]

[पूर्वभव में किये अमरसेन-वडरसेन के पात्र-दान का माहात्म्य-वर्णन]

ऐसा सुनकर बड़ा भाई कहता है—मैं क्या करूँ ? निधि/द्रव्य-हीन उत्पन्न हुआ हूँ ॥१॥ हे ऋषि ! मुझ पापी के एक कौड़ी भी नहीं है । तीन लोक के स्वामी जिनेन्द्र की पूजा कैसे करूँ ? ॥२॥ ऐसा कहकर मुनि के पास (उसने) गहरी साँस ली और चारों प्रकार के आहार के नियम (त्याग) की घोषणा की ॥३॥ मेघों का चुम्बन करनेवाले अपने शिखर/कलश से युक्त जिनालय में दिन-रात रहकर दूसरे दिन वहीं स्नान करके उसके द्वारा जिनेन्द्र, जिन-श्रुत और जिन-गुरु की पूजा की गयी ॥४-५॥ पाँचों कौड़ियों से फूल लेकर जिनेन्द्र के चरणों में चढ़ाकर स्तुति की गयी ॥६॥ इसके पश्चात् सेठ के साथ घर गये । उस समय सेठानी ने अति विनय-पूर्वक मोठी बोली से कहकर कर्मचारियों को छहों रसों से (निर्मित) भोजन दिया /परोसा ॥७-८॥ सम्पूर्ण थाली लेकर और भली प्रकार बैठ कर दोनों भाई हृदय में विचारते हैं—पुण्योदय से यदि कोई यहाँ श्रेष्ठ मुनि-पात्र आता है (तो) उनके लिए हमारा भोजन हो (हम देवें) ॥९-१०॥ जिस समय वे दोनों भाई ऐसी भावना भाते हैं उसी समय चारण ऋद्धिधारी दो मुनि आते हैं ॥११॥ दोनों भाई मुनियों को देखकर विनत सिर से उन्हें पङ्गाह करके (कहते हैं—) हे मुनि ! यहाँ शुद्ध भोजन है, ठहरिये-ठहरिये ! (इस प्रकार पङ्गाह करके) दोनों भाई अपना आहार देते हैं । पारणा करके अक्षय दान देनेवाले चारण मुनि आकाशमार्ग से चले गये । कर्म-चारियों से सेठ सन्तुष्ट हुआ ॥१२-१४॥ (वह कहता है)—हे भव्य ! यहाँ चारण मुनियों को पङ्गाह करके आप लोगों ने पुण्यार्जन किया है, तुम लोग सुगति-मोक्ष के पथिक हो ॥१५॥ अब भोजन करो यहाँ और (भी) भोजन सामग्री है । (वे भाई) कहते हैं—बहुत तृप्ति प्राप्त हुई है (हम) भोजन नहीं करते ॥१६॥ हम चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं । हे सेठ ! दूसरे दिन शीघ्र भोजन करेंगे ॥१७॥ दान के प्रभाव से तुम दोनों मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में महान् पद पाकर और सात सागर समय भोग भोगकर राजा के घर राजपुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो ॥१८-१९॥

वृत्ता—हे यतीश्वर ! त्रिभुवन के स्वामी ! कहिएगा कि हमारी सौतेली माता ने किस कारण से हमें वहाँ दोष लगाया ? और हमारा तिरस्कार हुआ ॥५-१२॥

[५-१३]

भो सुणहु णरानिव भणउं धुउ । इव कम्मुप्पाउ सिध्धु किउ ॥१॥
 तुम माइ-सवत्तिहिं सल्लु घरिणि । जं पुत्त-रज्ज-कज्जेण सरि ॥२॥
 तुम्ह दिण्णउ लंछणु कवडु किए । पट्टु लग्गउ तुम्हहं किय-कहिए ॥३॥
 णिव मारणत्थ चंडहि सहिउ । चंडह-इयभाव विएसु दिउ ॥४॥
 लह सुकिप्प-कम्म तुम्ह रज्जु भउ । णउ अलियउ अण्हह वाय धुउ ॥५॥
 पुव्वहं संवधे कम्म-किउ । णउच्छुट्टुइ जिउ विहि-पासि पडिउ ॥६॥
 भुंजेइ कम्मु सुहु-असुह विहिउ । ॥७॥
 यउ जाणि वि किज्जइ खमहं भाउ । सह सत्तुह-उप्परि मित्तिभाउ ॥८॥
 जं पंच वमुराडी फुल्ल-लेवि । जिणु-वच्चि चडाविय पय-णवेवि ॥९॥
 तं पुण्ण-पहावे रयण-णिहि । सय पंच चूयफल रयण सुहि ॥१०॥
 सइ सत्तइ कंथा झडहि तंहि । सूरोग्गमि भणिय वि वाय महि ॥११॥
 णह गामिणि-पावलि लउठि सुट्टु । भू-गोयर-खेयर राय दुट्टु ॥१२॥
 वसि कियइ अतुल-वलभिच्चकित्त । अणु दिणु पग-सेवहिं एयचित्त ॥१३॥
 तुणु भणइ जईसरु सुणहु वत्थु । पाएसहु सुर-णर-पउ मणित्थु ॥१४॥
 पुणु विण्णि वि तुम्हइं तउ करेवि । जाएसहु सिवपुरि-थाणिवे वि ॥१५॥
 णिय सुणिवि भवंतर विण्णि भाय । आणंदे हियइ ण कत्थ माय ॥१६॥
 अण्ह णर-णारिहि सुणिवि धम्मु । सद्धिउ हियइ तं विगयच्छम्मु ॥१७॥
 केहिमि तहं लयइं अणुव्वयाइं । केहिमि सावय-वय गिण्हयाइं ॥१८॥
 केहिमि तियाल जिणवरहं पुज्ज । केहिमि केलव्वउ सुरह-पुज्ज ॥१९॥
 केहिमि वय-सोलह कारणाइं । केहिमि दह-लक्खणु वउ लियाइं ॥२०॥
 केहिमि पचइव्वउ लयउ सुट्टु । केहिमि चउ पव्विय लइय इट्टु ॥२१॥

घत्ता

णिव-सुयणहं पमुह णर, पणविवि मुणिवर,
 धम्मु वि अणुवय सहियइं ।
 गय विण्णि वि भायर, गुण-रयणायर,
 गय णिय पुरयहं पयस-हियर ॥ ५-१३ ॥

[५-१३]

[अमरसेन-वइरसेन द्वारा पूर्वभव में की गयी जिन-पूजा का फल, उनके शिव-पद पाने की भविष्यवाणी एवं व्रत-ग्रहण वार्ता-वर्णन]

हे भाई ! सुनो ! निश्चय से कहता हूँ—अब शीघ्र कर्मों का उपाय करो ॥१॥ अपने पुत्र को राज्य प्राप्त कराने के निमित्त सौतेली माता को तुम शल्य-स्वरूप थे । (इसलिए) उसने दोषारोपण किया, कपट किया और राजा से तुमने किया है कहा ॥२-३॥ राजा ने (तुम्हें) मारने को चाण्डल से कहा और चाण्डाल ने दया-भाव से विदेश दिया ॥४॥ वहाँ शुभ कर्मों से तुम्हें राज्य मिला । (यह) झूठ नहीं है और न निश्चय से अन्यथा बात है ॥५॥ पूर्वभव में किये कर्म छूटते नहीं हैं । जीव के पास पड़े रहते हैं ॥६॥ किये शुभ और अशुभ कर्म (फल) भोगो ॥७॥ ऐसा जानकर सहज रूप से शत्रुओं पर मैत्री-भाव और क्षमा-भाव कीजिये ॥८॥ जो पाँच कौड़ियों से फूल लेकर जिनेन्द्र के चरणों में सिर झुकाकर चढ़ाये थे । उस पुण्य के प्रभाव से सुखपूर्वक पाँच सौ रत्न सूर्योदय में भूमि पर देनेवाला आम्रफल, सात सौ रत्न झड़ानेवाली कथरी और आकाशगामिनी पावली तथा भूमि-गोचरी राजाओं, विद्याधरों और दुष्ट राजाओं को जो वश में करती है, (जिससे) अतुल बलशाली जन आश्चर्यचकित होकर एकाग्रचित्त से प्रतिदिन (तुम्हारे) चरणों की सेवा करते हैं—वह लाठी (प्राप्त हुई है) ॥९-१३॥ इसके पश्चात् मुनि कहते हैं—हे वत्स ! मन में स्थित (इच्छित) सुरेन्द्र, नरेन्द्र का पद प्राप्त करोगे ॥१४॥ इसके पश्चात् तुम तप करके मोक्ष जाओगे ॥१५॥ दोनों भाई अपना पूर्वभव सुनकर इतने आनन्दित हुए कि वह आनन्द हृदय में नहीं समा रहा था ॥१६॥ अन्य नर-नारियों ने धर्मोपदेश सुनकर बिना किसी श्रम / खेद के उस पर हृदय से श्रद्धान किया ॥१७॥ किसी ने अणुव्रत लिए, किसी ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए ॥१८॥ कोई त्रिकाल देव जिनेन्द्र की पूजा (के नियम को) कोई सोलहकारण व्रत को, कोई दशलक्षण व्रत लेते हैं तथा कोई देवों द्वारा पूज्य व्रतियों से केलि करते हैं ॥१९-२०॥ किन्हीं ने भली प्रकार पंचमी का व्रत लिया और किन्हीं ने इष्ट (मास के अष्टमी-चतुर्दशी) चारों पवों के व्रत लिये हैं ॥२१॥

घत्ता—गुणों के सागर वे दोनों भाई और उन राजपुत्रों के प्रमुख जन मुनि को नमस्कार करके धर्म और अणुव्रतों से सहित प्रसन्न हृदय से अपने नगर गये ॥५-१३॥

[५-१४]

इय दाण-फलइं सुणि सुच्छ भाय । इव दिज्जइ पत्तह असुह-वाह ॥१॥
 पह-अमरसेणि-वडरसेणि राय । जिण्ह-दाणें उप्परि सुच्छ-भाय ॥२॥
 पुर-पट्टण-दीवहं-णयर-गाम । काराविय दाणइं-साल ताम ॥३॥
 दिण-दिण पहियहं तहं दुत्थियाहं । खडरस-भोयणु तहं दित्तियाहं ॥४॥
 बहु सत्तुव-पालइं ठाइं-ठाइं । पंथियहं दित्तव पुसुयराइं ॥५॥
 धम्मत्थ-हेय जिणवर-विहार । जिण-अच्चण-बुद्धह-ण्हाणचार ॥६॥
 कूवा-वाई वहुंवि कराविय । सरवर-कमलणिच्छयण कराविय ॥७॥
 उक्तं च ॥ पुत्रसोक समो सोक, रिच्छि-हत्या ममं ततः (पः) ।

धर्मो-दया समो नास्ति, ण च दान-समा निधिः ॥१॥

पत्तहं चउविह दाणें पोसहिं । हीण-दीण-दय-दाणें पोसहिं ॥८॥
 जहिं-जहिं तित्थंकर-उप्पण्णइं । तहं तहं णाणु मोक्खु संपुण्णइं ॥९॥
 अवर थाइ जहं सिद्धउवण्णइं । तहिं तहिं थाइं कराविय चेयइं ॥१०॥
 ठाइं-ठाइं जिण-पडिम-कराविय । करि पत्तिट्टु चेईहर-थाविय ॥११॥
 सुर-केर्ताहिं णिय संपइ-वाइय । विविह महोच्छव किय जिण-सामिय ॥१२॥
 जहिं जहिं काराविय चेयालइं । तहिं तहिं पुज्जिय जिण-जयसालइं ॥१३॥
 सयल तित्थ णमियइं जिण-णाहंहिं । कित्तिमकित्तिमाइं पुज्जिय तहिं ॥१४॥
 तित्थि-पवण्णु पोसह-उववासइं । चउविह आहारहं सण्णासइं ॥१५॥
 काओसग्गें ज्ञाणें अच्छहिं । सूरग्गामि ण्हाइ वि जिणु-अंर्चहिं ॥१६॥
 सत्त घडिय मुणिवरु-दइ भुंजहिं । सज्जण-जण-मण-णयणे रंजहिं ॥१७॥
 धम्मे-ज्ञाणें रहहिं दयालइं । सत्त विसण दूरें णिदचालइं ॥१८॥
 णिय जस-पडहउ दिण्णु तिलोयहं । किज्जइ भवियहं पुव्व किउ सब्वहं ॥१९॥
 जिणवर-प्य दाणुं-चउसंघहं । दिज्जइ मण-वय-काय-तिसुद्धहं ॥२०॥
 अण्णइ जिणगिह-मणिमय वद्धइं । थप्पिज्जहिं जिण-विंव तिसुद्धइं ॥२१॥

[५-१४]

[अमरसेन-वइरसेन कृत धार्मिक-कार्य-वर्णन]

इस प्रकार दान का फल सुनकर स्वच्छ हृदय दोनों भाई अशुभ-हारी पात्रों को (दान) देते हैं ॥१॥ राजा अमरसेन और वइरसेन स्वच्छ/शुद्ध दोनों भाई जिनेन्द्र के प्रति दान में आगे (रहते हैं) ॥२॥ वे वर्ष भर पुर, पट्टन, द्वीप, नगर और ग्रामों में दान कराते हैं ॥३॥ वहाँ वे प्रति-दिन दुःखी पथिकों को छहों रस-सहित भोजन दिलाते हैं ॥४॥ स्थान-स्थान पर प्राणियों का पालन करते हैं । पथिकों को पोसरे (प्याऊ) देते हैं / खुलवाते हैं ॥५॥ धर्म के लिए, धर्म जानने/समझने के लिए और जिनेन्द्र की पूजा के लिए जिन-विहार / मन्दिर तथा जिन-स्नपन के लिए बहुत कुछ, बावलीं तथा कमलों से आच्छादित सरोवर बनवाये ॥६-७॥ कहा भी है—पुत्र-शोक के समान शोक, इच्छा-हनन / निरोध के समान तप, दया के समान धर्म और दान के समान (अन्य) निधि नहीं है ॥१॥ वे पात्रों का चारों प्रकार के दान से और दीन-हीन पुरुषों का दया-दान से पोषण करते हैं ॥८॥ जहाँ-जहाँ तीर्थकरों ने जन्म लिया है, केवलज्ञान और मोक्ष पाया है । अन्य वे स्थान जहाँ सिद्धों ने जन्म लिया है वहाँ-वहाँ इन दोनों भाइयों ने चैत्यालय बनवाये ॥९-१०॥ स्थान-स्थान पर जिन प्रतिमाएँ बनवायीं और प्रतिष्ठा करा करके उन्हें चैत्यालयों में स्थापित किया ॥११॥ अपना द्रव्य व्यय करके जिनेन्द्र स्वामी के मन्दिर में विविध महोत्सव किये ॥१२॥ जहाँ-जहाँ चैत्यालय बनवाये वहाँ-वहाँ जिन-यज्ञशालाओं की पूति की / जिन-यज्ञशालाएँ बनवायीं ॥१३॥ जिन स्वामी के सभी तीर्थों की वन्दना की और कृत्रिम, अकृत्रिम जिन-स्वामी की पूजा की ॥१४॥ पर्व की तिथियों में प्रोषधोपवास करते हुए चतुर्विध आहार से संन्यास लेते हैं ॥१५॥ कायोत्सर्ग से ध्यान में रहते हैं । सूर्योदय होने पर स्नान करके जिनेन्द्र की पूजा करते हैं ॥१६॥ सातवीं घड़ी में मुनि को (आहार) देकर भोजन करते हैं और सज्जनों के मन तथा नेत्रों को आनन्दित करते हैं ॥१७॥ वे दयालु धर्मध्यान में रहते हैं । सप्त-व्यसनों से नित्य दूर चलते हैं ॥१८॥ अपना यश रूपी नगाड़ा तीनों लोक में बजवाया । वे पूर्वभव में किये के समान भव्य जनों को सब करते हैं / सुविधाएँ देते हैं ॥१९॥ मन, वचन और काय तीनों की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्र की पूजा और व्रतीसंघ को दान देते हैं ॥२०॥ अन्य जिन-मन्दिरों में तीनों प्रकार की शुद्धिपूर्वक मणि-मय जिन-प्रतिमाएँ स्थापित कराते हैं ॥२१॥

घत्ता

सुहि रज्जु करंतइं, जिणु-पय-भत्तहि,
 गिय परिणु रंजहि कुमर ।
 अण्हिदिणि णिवसहं, विट्ठ सुणहि कह,
 चरिउ-तिसट्ठि सलाक वर ॥ ५-१४ ॥

[५-१५]

तं अवसरि वणवालु समायउ । फुल्ल-फलइं भरि डालरि लायउ ॥१॥
 णरवइ-अग्गइ धरिय तुरंतइं । पणविवि णरवइ भणइं हसंतइं ॥२॥
 भो भो णरवइ महु वाय सुणि । जइवरु सम्मायउ तुम्ह वणि ॥३॥
 देवसेणि-भडालउ संघ-हिउ । सुर-णर-णरिंद-णायंदह महियउ ॥४॥
 तं सुणि वयणु राउ संतुट्ठउ । वत्थाहरण वि दिण्ण समुट्ठिउ ॥५॥
 तहं आणंद-भेरि देवाविय । ते सव्दें पुरयण-सम्माइय ॥६॥
 चत्तल्लु पट्टु णिय परिण-जुत्तउ । मुणिवर-जातय लोय-संजुत्तउ ॥७॥
 गउ णंदणवणि दंतिहि-हिट्ठउ । ओयरेवि तं उवरि सतुट्ठउ ॥८॥
 ति-पयाहिण इह मुणिहिं णरिदांहि । पणमिउं णरवइ जय-जय सदांहि ॥९॥
 पुणु तहं सवण-संघु तहं वंदिउ । पुणु-पुणु देवसेणि-मुणि वंदिउ ॥१०॥
 कहि परमेसर जं जिण कहियउ । सावय-धम्मु वि भव्वयण सुहियउ ॥११॥
 सुरवर-णर-विज्जाहर-महियउ । तं णिसुणि वि मुणि णाहें कहियउ ॥१२॥
 धम्मु राय जीवहं दय-सहियउ । तं पालिज्जइं पढमु दयालउ ॥१३॥
 णं कयाइं अलियउ वोलिज्जइ । अलियइं थु-थुक्कारु करिज्जइ ॥१४॥
 परदव्वहं णउ करु लाइज्जइं । लोयइं चोरु भणि वि मारिज्जइं ॥१५॥
 पर-तिय-संगु ण कहव करिज्जइ । सिरु-मुं डि वि खर-रोहणु किज्जइ ॥१६॥
 तुंडु-किण्णु करि पुर-फेरिज्जइ । णाकक्खुवि णीसारि वि दिज्जइ ॥१७॥

घत्ता

तहं णिव लोयहं भय, णासइ जिउ लय,
 मरि कुज्झाणें णरयगइ ।
 तहं पंच पयारहि, दुहमणिवारहि,
 छेइज्जइ तिलु-तिलु कुगई ॥ ५-१५ ॥

घत्ता—जिनेन्द्र-चरणों के भक्त कुमार सुखपूर्वक राज्य करते हुए अपने परिजनों को अनुरंजित करते हैं। किसी दूसरे दिन कुमार राजा के साथ बैठ करके त्रेसठ शलाका पुरुषों की चरित-कथा सुनते हैं ॥५-१४॥

[५-१५]

[मुनि देवसेन का समवशरण-आगमन, अमरसेन-वडरसेन की मुनि-वन्दना एवं श्रावक धर्म-श्रमण]

उसी समय वनपाल डलिया (टोकरी) में फल-फूल भर कर लाया ॥१॥ नृप के आगे डलिया रखकर राजा को प्रणाम करके हँसते हुए (वह वनपाल) कहता है ॥२॥ हे ! हे नृप ! मेरी बात सुनो ! आपके वन में देव, मनुष्य, नरेन्द्र और नागेन्द्र से पूजित यतिवर स्वामी देवसेन का हितकारी संघ आया है ॥३-४॥ उन वनपाल के वचन सुनकर राजा ने उठकर उसे वस्त्राभूषण देकर संतुष्ट किया ॥५॥ वहाँ आनन्द-भेरी बजवाई। उसकी ध्वनि से नगरवासी आ गये ॥६॥ राजा एकत्रित हुए लोगों और परिजनों के साथ मुनिवर की यात्रा के लिए चला ॥७॥ सहर्ष हाथी से वह नन्दन-वन गया और हाथी से उतर कर संतुष्ट होते हुए राजा ने मुनि की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर जय-जय शब्द उच्चारण करते हुए प्रणाम किया ॥८-९॥ इसके पश्चात् श्रमण-संघ की वन्दना की तथा मुनि देवसेन की बार-बार वन्दना की ॥१०॥ (राजा अमरसेन ने निवेदन किया) हे परमेश्वर (मुनिराज) ! जो जिनेन्द्र (भगवान्) ने भव्य जनों के लिए कहा है वह सुखकारी श्रावक-धर्म कहिएगा ॥११॥ राजा के निवेदन सुनकर देव, मनुष्य और विद्याधरों से पूजित मुनिनाथ ने कहा ॥१२॥ हे राजन् ! जीवों की दया से सहित ही धर्म है अतः हे दयालु ! पहले उसे पालना चाहिए ॥१३॥ झूठ कभी नहीं बोलें। झूठ बोलनेवालों का तिरस्कार करें ॥१४॥ पराया-धन पाकर मत लाओ। लोग उसे चोर कह कर मारें ॥१५॥ परस्त्री-सहवास कभी न करें। उसका सिर मुड़वा करके उसे गधे पर बैठाओ। १६॥ काला मुँह करके नगर में घुमावें और नाक काटकर नगर से निकाल दें ॥१७॥

घत्ता—हे राजन् ! ऐसा करने से लोक के भय से जीव प्राण नाश कर देता है और कुड्यान से मरकर नरकगति पाता है। वहाँ (वह) जिन दुःखों को रोका नहीं जा सकता वे पाँच प्रकार के दुःख (पाता है) (उस) कुगति में छेदा जाता है और तिल के समान देह खण्ड-खण्ड की जाती है ॥५-१५॥

[५-१६]

परिगहु-किज्जइ दुग्गइ-कारणु । ॥१॥
 परिगह-मोहिउ किपि ण चेयइ । वहु वावार करइ णिहि-संचइ ॥२॥
 पहिलइ-भूलउ मूल-अयाणउं । खोदत-मुहुं करि पच्छित्ताणउं ॥३॥
 तिहं मुह-धू अहि इव संपणी । णउ खद्धी णउ पत्तहं दिण्णी ॥४॥
 गय-संपय लोहंधहं पावहं । मरि वि जाइ हिय कट्टि वि णरयहं ॥५॥
 पंच अणुव्वयाइं जो पालइं । सो सिवपुरि-तिय-वयणु-णिहालइं ॥६॥
 चउसिक्खावय तिणिण गुणव्वय । पालिज्जइ भव्वयणु सुहगय ॥७॥
 कहिउ जिणागमु सयलु जिणंदहं । पुरिस तिसट्ठि हि चरिउ अणंदह ॥८॥
 विवरिय आव-काय तहं जइयहं । कहिउ पमाणु तिलोयहं सयलहं ॥९॥
 सुर-णर-णारय-भेउ पयासिउ । जिणवर-ईरिउ सयलु समक्खिउ ॥१०॥
 भो शयाहिराय यउ किज्जइ । वय-तवयरणहं भाउ रइज्जइ ॥११॥
 जं चउगइ गइ पाणिउ दिज्जइ । सासय-गमणु जेण पाविज्जइ ॥१२॥
 सासयाइं णउ पुत्त-कलत्तइं । धणु-जोव्वणु-सुयणइ णउ मित्तइं ॥१३॥
 दीसहि सयल वत्थ जे मणहर । इंदधणुह तर्हि वुव्वुद-धण सर ॥१४॥

घत्ता

चउवीस जिणेसर, जय परमेसर,
 कुलयर यंद फणंद णर ।
 वारह चक्केसर, णव हरि-परिहर,
 वर णारय जम-गसि धर ॥ ५-१६ ॥

[५-१७]

भो अमरसेणि-वरसेणि भाय । णउ पुग्गलु अप्पुण होइ राय ॥१॥
 पोसिज्जइ खड-रस एह काय । णउ जीवहं सत्थे एह जाय ॥२॥
 किमु परियणु-पुत्त-कलत्त-गेहु । सासइ ण कस्स विणसंति सहु ॥३॥
 मइं कहिउ राय जाणहु हिण्ण । जि कहिउ जिणेसर णिच्चएण ॥४॥
 मुणि कहिउ धम्मु सुणि विणिण भाय । तव यरणहं उप्परि भय सराय ॥५॥

[५-१६]

[अमरसेन-वइरसेन के लिए मुनि देवसेन कृत धर्मोपदेश]

परिग्रह-दुर्गति के कारणों को (उत्पन्न) करता है ॥१॥ परिग्रह का मोही कैसे भी सचेत नहीं होता । वह विविध प्रकार के व्यापार करता है और धन को जोड़ता है ॥२॥ मूल में प्रथम भूल उसकी अज्ञानता है । छिपकली को मुँह में लेकर जैसे सर्प पछताता है—वह न खा पाता है और न उसे छोड़ पाता है ऐसे ही परिग्रही द्रव्य को न (स्वयं) भोग पाता है और न पात्र को दे पाता है ॥३-४॥ सम्पत्ति का लोभी-पापी (मनुष्य) मरकर हृदय के लिए अति कठिन महा दुःखकारी नरकगति में जाता है ॥५॥ जो पाँच अणुव्रतों को पालता है वह शिव-वनिता का मुखावलोकन करता है ॥६॥ भव्य जन-शुभ गति (हेतु) चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रतों का पालन करे ॥७॥ मुनि ने सानन्द सम्पूर्ण जिनागम और त्रैसठ-शलाका-पुरुषों का चारित्र्य कहा ॥८॥ यति ने (जीवों की) आयु और शारीरिक अवगाहना तथा तीनों लोक का प्रमाण खोलकर समझाया ॥९॥ देव, मनुष्य और नारकियों के भेद तथा जिनेन्द्र कथित सभी प्रकट करके कहा ॥१०॥ हे राजाओं के राजा ! ऐसा करें जिससे व्रत और तपाचरण के भाव रहें ॥११॥ चतुर्गति के प्राणियों को ज्ञान दें, जिससे शाश्वत् गमन प्राप्त करें ॥१२॥ पुत्र, स्त्री, धन, यौवन, सुजन और मित्र शाश्वत् नहीं हैं ॥१३॥ जो सुन्दर वस्तुएँ दिखाई देती हैं वे इन्द्र-धनुष, जल के बबूलों और पानी के बादलों के समान (क्षणभंगुर) हैं ॥१४॥

घत्ता—जगत के ईश्वर जिनेन्द्र चौबीस तीर्थंकर, कुलकर-वृन्द, फणीन्द्र, मनुष्य, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र तथा नारकी सभी को पकड़ करके यम ग्रस लेता है ॥५-१६॥

[५-१७]

[अमरसेन-वइरसेन का आत्म-चिन्तन तथा दीक्षा हेतु निवेदन-प्रस्तुति]

हे राजन् ! हे अमरसेन-वइरसेन सहोदर ! पुद्गल अपना नहीं होता है ॥१॥ छहों रसों से पोषित यह शरीर जीव के साथ नहीं जाता है ॥२॥ कुटुम्बी, पुत्र, स्त्री, भवन-कोई भी शाश्वत् नहीं, सभी नाशवान् हैं / नष्ट हो जाते हैं ॥३॥ हे राजन् ! निश्चय से जो जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है वही मैंने कहा है (उसे) हृदय से जानो ॥४॥ मुनि द्वारा उपदिष्ट

गय मुणिवर रक्खि वि णिय घरेहि । तवयरणहं उप्परि भाउ जेहि ॥६॥
 सह-पुरयण सेवहि सयण-मित्त । ॥७॥
 सावत्तिय हिय करि[भउ]णिसल्लु । जहि विहिउ कुमारहं हियइ सल्लु ॥८॥
 विण्णि वि णिय-णिय जाण-रूढ । सह पुरयणेण तेएण पूढ ॥९॥
 ते णिग्गय णयरहंछडि मोहु । णयरज्जणाहं मणे जाइ खोहु ॥१०॥
 स लहंति परोपर चरित ताहं । पेच्छहु-पिच्छहु णिम्मल मणाहं ॥११॥
 णव जुव्वणिच्छडि वि सयल चित्त । धणु-परियणु-पुत्त-कलत्त-मित्त ॥१२॥
 णिय णरभउ सहलु करंति भव्व । णिविण्ण-चित्तए विगय-गव्व ॥१३॥
 जे हीण-सत्त-मह-लोभ-सत्त । मिच्छा-मयरिक्खि-वसेहि खुत्त ॥१४॥
 माया-मय-रस-वस वसण-भुत्त । गिह-भार विसम दहि णिच्च खुत्त ॥१५॥
 पंचेदिय-विषयहं गणिय-दीण । णउ चेयहिं अप्पउ दुक्खरीण ॥१६॥
 ते दीसहिं गिहिणउ[दुहि]असंख । भवि भमिहहिं जे पुणु जोणि-लक्ख ॥१७॥
 दुल्लहु णरभउ पाविवि सुधम्म । जो ण करइ तहु इह मणुवजम्म ॥१८॥
 धण्णास-कयत्था वंदणिज्ज । ए विण्णि वि सुहि सुपसंसणिज्ज ॥१९॥
 इय वणि जंतइ पुणु पुरयणोहिं । सु पसंसा विरइय णरयह तेहिं ॥२०॥
 ते गय खणेण तावस-वणेण । सारिय माह वि जेहिं कलरवेण ॥२१॥

घत्ता

तहिं मुणिवर सारउ, मयण-विलायउ,
 वियणं वंदिउ णिरहु तहिं ।
 पुणु विणयं भासिउ, सुवण सुहासिउ,
 मा उवेक्ख सामिय करहिं ॥ ५-१७ ॥

[५-१८]

जणण समुद्दह पार-उत्तारी । अम्हह दिक्ख देहि मुणिसारी ॥१॥
 तुह पसाय णर-त्तउस कियत्थइं । करहि चइ वि दुविहइ गिह-गंथइं ॥२॥
 मुणिणाहें तं णिसुणि वि सुहयर । दिण्णिय ताहिं महव्वय-दुद्धर ॥३॥

धर्म दोनों भाइयों ने सुना और वे तपश्चरण पर अनुरागी हुए ॥५॥
 जिनके तपश्चरण पर भाव हुए [ऐसे वे दोनों कुमार] मुनि को सुरक्षित
 छोड़कर अपने घर गये ॥६॥ परिजनों सहित स्वजन और मित्रों की वे
 सेवा करते हैं ॥७॥ सौतेली माता के कारण कुमारों के हृदय में उत्पन्न
 शल्य दूर हुई / वे निःशल्य हुए ॥८॥ तेज से परिपूर्ण दोनों भाई अपने
 अपने वाहनों पर आरूढ़ हुए ॥९॥ और पुरजनों सहित नगर का मोह
 त्याग करके (नगर से) निकल गये । राज्य का उनके मन में क्षोभ
 उत्पन्न नहीं होता है ॥१०॥ वहाँ वे श्रेष्ठ चारित्र धारण करते हैं । उन्होंने
 निर्मल मन से अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन किया ॥११॥ वे भव्य-नव यौवन,
 धन, परिजन, स्त्री और मित्र आदि की समस्त चिन्ता छोड़कर, गर्व
 विहीन, निर्विकार चित्त से अपना नरभव सफल करते हैं ॥१२-१३॥ जो
 लोभासक्त जीवों को मारते हैं वे हीन (अपंग) और जो मिथ्यात्व तथा
 मदिरा के वशीभूत हैं वे क्षुब्ध होते हैं ॥१४॥ (जो) माया और मद रूपी
 रस के वशीभूत हैं, सप्त व्यसनों के भोगी हैं, वे विषम गार्हस्थिक-भार
 से जलकर निश्चय से क्षुब्ध होते हैं ॥१५॥ दीन-पंचेन्द्रियों के विषयों को
 ही महत्त्व देते हैं अपने चेतन (आत्मा) को महत्त्व नहीं देते (अतः)
 वे दुःखी होते हैं ॥१६॥ जो सांसारिक लाखों योनियों में भ्रमते हैं वे
 असंख्य गृहस्थ दुखी दिखाई देते हैं ॥१७॥ जो दुर्लभ नरभव पाकर सुधर्म
 नहीं करता इस संसार में वह मनुष्य अजन्मा ही है ॥१८॥ आशाओं से
 कृतार्थ (रहित) ये दोनों भाई धन्य हैं, वन्दनीय और प्रशंसनीय हैं ॥१९॥
 इस प्रकार वन में जाते हुए नगरवासी मनुष्यों के द्वारा उन कुमारों की
 प्रशंसा (स्तुतियाँ) की गयीं ॥२०॥ वे माघ मास में पल भर में तपोवन
 में वहाँ गये जहाँ सारिका-मैना पक्षी कलरव करते हैं ॥२१॥

घत्ता—उस विजय वन में उन्होंने निष्काम, सार स्वरूप मुनिराज
 को देखकर उनकी वन्दना की । इसके पश्चात् सुन्दर-सुखद वचनों से विनय
 पूर्वक कहा—हे स्वामी (हमारी) उपेक्षा मत करो ॥५-१७॥

[५-१८]

[अमरसेन-वडरसेन की दीक्षा एवं परिजनों का व्रत-ग्रहण-वर्णन]

हे मुनिराज ! लोगों को संसार-सागर से पार उतारनेवाली सार
 स्वरूप हमें दीक्षा दीजिए ॥१॥ तुम्हारे प्रसाद से गृहस्थ मनुष्य दोनों
 प्रकार के परिग्रहों का त्याग करके तप करते हैं ॥२॥ मुनिनाथ ने ऐसा

सिर-सेहर कर-कंकण-कुंडल । कडि-मेहल मुक्किय महि उज्जल ॥४॥
 वर-वत्थइ-कुसमइ तणु-मंडणु । पय-णउरइ विज्जहं महुरउ मणु ॥५॥
 उत्तारि वि खणेण महि मुक्कइं । णं णह-मंडल णहयल चुक्कइं ॥६॥
 तणु-संसार-भोय णिव्विण्णाहिं । पडिगाहिस दिक्ख साधण्णाहिं ॥७॥
 सयल उपाडि वि तहं सिर-च्चिहुरइं । भणि वि पंच-गुरु हय दुह-विहुरइं ॥८॥
 पुणु पिउ-माइ-सयलु अंतेउर । लइय दिक्ख मुणि-पासह-सुहयर ॥९॥
 संसारासारत्तु मुणेप्पिणु । थिय बहु णरवइ दिक्ख-लएप्पिणु ॥१०॥
 अण्णेहिमि संगहिउसदंसणु । मुणि-पणवि वि तहं बहु मलफंसणु ॥११॥
 केहिमि अप्पउ गरहिउ णिदि वि । गिह-वय-गिण्हियाइं जइ-वंदि वि ॥१२॥
 णिय-णिय सत्तिए वउ-तउ लेप्पिणु । गयसणि हेलेणि मुणि-पणवेप्पिणु ॥१३॥
 एव्हिं विण्णि वि भाय मुणीसर । तउ-तवेहि दुविसह खंडियसर ॥१४॥

घत्ता

जं तणु-उववासहिं, दुत्तिम्मासहिं,
 सो सिज्जइ मण-दुह-रहिउ ।
 अण सणु तं सुहयरु, सोसिय भव-मलु,
 तउ पहिल्लु मुणिणा कहिउ ॥ ५-१८ ॥

[५-१९]

सावयहं गेह कालेण लद्धु । तंसणु-लेहि मुणिवर विसुद्धु ॥१॥
 आयम-भासिय रस-गिद्धि चत्त । अवमोयणु मुणु तं वीउ वुत्तु ॥२॥
 रसणेंदिय-पर णिरोहहिं हेउ । वत्थहु संखा जं करण भेउ ॥३॥
 पसरंतउ वारइ सकय-चित्तु । तं वित्ति-चाउ तउ इहु पवित्तु ॥४॥
 घय-पय-दहि-सक्कर-पमुह दव्व । तह णियमु करइ मुणि विगय-गव्व ॥५॥
 छह रस-णउं भुंजाहिं मुणि-वरेंद । रस-चाउ एउ तं वउ अणिद ॥६॥
 अण्णहु सयणासणु-थाण जोइ । णिवसइ णउ सोवइ भव्वु कोइ ॥७॥
 पर-सप्पर लग्गाहिं अंग जत्थ । सुहमह-जीवहं खउ होइ तत्थ ॥८॥

सुनकर उन्हें सुखकारी दुर्धर महाव्रत दिये ॥३॥ (दोनों भाई) देह की शोभा रखनेवाले उज्ज्वल सिर के मुकुट, हाथों के कंगन, कानों के कुण्डल, कमर की करधनी, सुन्दर वस्त्र, पुष्प, मधुर शब्द करनेवाले तूपुर और विद्याओं को पलभर में उतार कर पृथिवी पर वैसे ही त्याग देते हैं जैसे आकाशगामी विद्याधर आकाश मण्डल को क्षण भर में त्याग देते हैं ॥४-६॥ शरीर और सांसारिक-भोगों से वे उदासीन हो जाते हैं और दीक्षा ले लेते हैं । धन्य हैं (वे) पंच परमेष्ठी का नाम स्मरण करके बिना दुःखी हुए सिर के केश उखाड़ते हैं / केश-लौच करते हैं ॥७-८॥ इसके पश्चात् (दोनों भाइयों के) माता-पिता और अन्तःपुर के लोगों ने मुनि के पास सुखकारी दीक्षा ली ॥९॥ संसार को असार जानकर अनेक राजाओं और रानियों ने दीक्षाएँ लीं ॥१०॥ इतर जनों के द्वारा मुनि को प्रणाम किया जाकर सम्ब्यदर्शन ग्रहण किया गया । दोषों में फँसे हुए किन्हीं लोगों ने आत्म-निन्दा-गर्हा की और मुनि को प्रणाम करके गृहस्थ के व्रत ग्रहण किये ॥११-१२॥ अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत और तप ग्रहण करके मुनि को नमस्कार करते हुए सभी शीघ्र चले गये ॥१३॥ इस प्रकार मुनीश्वर दोनों भाई निष्काम होकर दोनों प्रकार के तप तपते हैं ॥१४॥

घत्ता—वे दुःख रहित मन से दो-दो, तीन-तीन मास के उपवास करते हुए सोते हैं । भव-भ्रमण-दोष को सुखाने हेतु सुखकर अनसन करना मुनि ने प्रथम तप बताया ॥५-१८॥

[५-१९]

[अमरसेन-वडरसेन का बाह्य-तपाचरण-वर्णन]

मुनि-अमरसेन-वडरसेन आहार-वेला में श्रावक के घर विशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं ॥१॥ रसों की गृद्धता का त्याग करके भूख से कम खाना (ऊनोदर / अवमौदर्य) आगम-भाषित दूसरा तप कहा है ॥२॥ रसना-इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों के निरोध का हेतु है । वस्तु-संख्यात्मक उसके भेद हैं ॥३॥ चित्त-प्रसार का निवारण करना, धन त्यागना पवित्र तप है ॥४॥ घाँ, दूध, दही, शक्कर आदि प्रमुख द्रव्यों का वे मुनि गर्व रहित होकर नियम लेते हैं ॥५॥ वे श्रेष्ठ मुनि छहों रसों को नहीं भोगते । अर्निद्य रस-परित्याग तप यही है ॥६॥ वे जहाँ कोई दूसरा भव्य नहीं सोता ऐसे एकान्त स्थान में सोने-बैठने का स्थान देखकर रहते हैं ॥७॥ जहाँ अंग परस्पर में लगते / स्पर्श करते हैं वहाँ सूक्ष्म-जीवों का क्षय होता है ॥८॥

इय मुणिविवि सत्तासत्त-सार । कीरंति जईसर दुण्णिवार ॥१॥
 तरुमूलि सिलायलि गिरि वणंति । गिय तणु-तिणसउ मुणिवर गणंति ॥१०॥
 रवि-कर-उण्हालइ सिसिर-सोउ । तरु-तलि णिवसहि वरिसंति वीउ ॥११॥
 दंडासणि-मडयासणि असंक । वज्जासणि वसहिवि विगयपंक ॥१२॥
 पोमासणि-गोदोहासणम्मि । छह विहु वरि रत्तइं थिर-मणम्मि ॥१३॥
 मुणि अमरसेणि-वरसेणि तहिं । आभितर-तउ पुणु सा करेहिं ॥१४॥

घत्ता

विणु पायच्छित्ते, माया चत्ते,
 तउ-बिसुद्धु णउ होइ इह ।
 पुणु दंसण-णाणहुं, चरण-पहाणहु,
 गुरु परमेठिहिं विणउ इहु ॥ ५-१९ ॥

[५-२०]

गणहं गलाणहुं पाठय-मुणिवर । बह-विहु बइयावच्च णिहय-सर ॥१॥
 आयम-सत्था सासु गिरंतरु । करहिं तपि-सज्जाउ-दुरियहरु ॥२॥
 तणु-चायं रयण-त्तउ भावहिं । धम्म-सुक्क-भाणइं महि भावहिं ॥३॥
 इय वारह-विहि तउ पालंतइं । पुव्वकिय कम-मलु खालंतइं ॥४॥
 भव्वहं धम्म-पंथि लायंतइं । महि विहरहिं तित्थइं वंदंतइं ॥५॥
 चारि णिओय चित्ति भावंतइं । सुय-विहाणु लोयहं भासंतइं ॥६॥
 वोहिउ सयलु लोउ जिण-धम्महिं । सिच्छंदंति मउणिहिं हरि-णार्णहिं ॥७॥
 संपत्तइं देवगिहिं रवणी । धण-कण-अणवहु देस-परिपुणी ॥८॥
 देवसेणि तह पहु णिव-माणउं । देवसिरिय गिय भज्ज समाणउं ॥९॥
 थिय सिंहासण गिय सह जुत्तउ । वणवालु वि इत्थंतरि पत्तउ ॥१०॥
 फल-फुल्लइ-णवल्ल भरि डल्लरि । णरवइ अग्गइ धरि णइ गिय सिरि ॥११॥
 भो णिव तव णंदणवणि मुणिवर । सम्मावियाइं वे लोयहं सुहयर ॥१२॥
 आणंदभेरी देवावियाइं । तें सद्धें पुरयण सम्मावियाइं ॥१३॥

इस प्रकार सत्य और असत्य का सार जानकर वे मुनि दुर्निवार तप में केलि करते हैं ॥९॥ वे मुनि अपनी देह को तृण के समान गिनते/मानते हैं । सूर्य की किरणों तपने पर (ग्रीष्म में) वे पर्वत पर, वृक्ष तले शिलातल पर, शिशिर की शीत में पर्वत पर और वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे रहते हैं ॥१०-११॥ दोष-रहित वे वन में रात्रि में बिना किसी शंका के दण्डासन मृतकासन, वज्रासन, पत्यंकासन, पद्मासन और गोदोहासन इन छह आसनों से स्थिर मन से रहते हैं ॥१२-१३॥ इस प्रकार मुनि अमरसेन-वइरसेन वहाँ आभ्यन्तर तप करते हैं ॥१४॥

घत्ता—बिना प्रायश्चित्त और माया-त्याग के यहाँ विशुद्ध तप नहीं होता । वह प्रधानतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र और गुरु तथा परमेष्ठियों को विनयपूर्वक होता है ॥५-१९॥

[५-२०]

[मुनि अमरसेन-वइरसेन का आभ्यन्तर तप एवं राजा देवसेन का उनकी वन्दनार्थ आगमन-वर्णन]

[वे दोनों मुनि] संघ के थके हुए या बीमारी से ग्रस्त पीडित उपाध्याय और (अन्य) मुनियों की दस प्रकार से वैयावृत्ति करते हैं ॥१॥ शाश्वत आगम-शास्त्रों का पापहारी निरन्तर स्वाध्याय-तप करते हैं ॥२॥ देह-त्याग करके भी रत्नत्रय को भाते हैं (कायोत्सर्ग करते हैं) और पृथिवी पर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ध्याते हैं ॥३॥ इस प्रकार बारह प्रकार का तप पालते हुए पूर्वकृत कर्म-मल धोते हैं ॥४॥ पृथिवी पर विहार करते हैं, तीर्थों की वन्दना करते हैं और भव्यजनों को धर्म-पथ पर लाते हैं ॥५॥ चारों अनुयोगों को हृदय में भाते हैं [और] लोगों को शास्त्रोक्त रीति से श्रुत समझाते हैं ॥६॥ उन्होंने सभी लोगों को जैन-धर्म से सम्बोधित किया । उनका मिथ्यात्व वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे सिंह का बंध होते ही हाथी मौन हो जाते हैं ॥७॥ (वे) धन-धान्य और लोगों से परिपूर्ण देश के सुन्दर देवालय में आते हैं ॥८॥ राजाओं से सम्मानित राजा देवसेन अपनी भार्या (सहित) वहाँ आया और दोनों अपने सिंहासन पर बैठे । इसी बीच वनपाल आया ॥९-१०॥ (उसने) नए फूल और फलों से भरी टोकरी राजा के आगे रखकर और अपना सिर झुकाकर (कहा)—हे राजन् ! आपके नन्दन-वन में लोक को सुखकारी दो मुनिराज आये हैं ॥११-१२॥ (राजा) आनन्द-भेरी बजवाता है,

णिय परियण-पुरयण संजुत्तउ । गउ मुणिवर-वंदण णय-भत्तउ ॥१४॥

घत्ता

मुणि वंदिउ रायहिं, मण-वय-कार्यहिं,
कहि मुणि धम्मु हम्म-हियउ ।
तं सुणिवउ मुणि, पभणइं पहु सुणि,
सम्मददंसणु असुह-हउ ॥५-२०॥

[५-२१]

ध्रुवक

पणवीसहिं दोसहिं, पमणिय सत्थाहिं,
वज्जिउ दंसणु-वज्जरिउ ।
तहिं तं तहिं वोहिउ, चरिउ वि सोहिउ,
तें विणु णत्थि णाणु-चरिउ ॥ छ ॥

पुव्वे जिण-ईरिउ जिण-हरेहिं । गणहरहं कहिउ मुणिवरहं तेहि ॥१॥
मुणिवरह कहिउ वुह-सावयेहिं । तेहिं त्रि भाविउ णिय भाव एहि ॥२॥
तें सम्मददंसणु पुज्जणिज्जु । पाहाणहं जिहं मणि-णाअवज्जु ॥३॥
गय रूव विरूइं तेण जुत्तु । धण-रहिउ वि सो महि पूरि-वित्तु ॥४॥
णिविकरियहं किरिया-तव-वयदुदु । वुह-अग्गेसरु पुणु होइ मूढु ॥५॥
पिय-वज्जिय जिह कुल जुवइ सिट्ठ । कुल-तिय-विणु जिह घर विट्ठि णट्ठ ॥६॥
तहं सम्मतुज्झिय दाण-पूय । उववास-पमुह सयलाविरूव ॥७॥
तं कारणेव सम्मत्तु-पुव्व । भव्वयणहं अक्खमि ताइं सव्व ॥८॥
जिणपूया-फलु इय कास जाउ । तं पढमु भणमि हय-दुरिय-भाउ ॥९॥
इह जंबूदीउ सुरविसि विदेहिं । वर अज्जखंडे णह-लग-गेहिं ॥१०॥
कच्छावइदेसहिं पुरि सुसोम । णं विहिणा णिम्मिय सोवखसोम ॥११॥
वरदत्तु णाउं पुह-ईसु तित्थु । चक्केसभूमि मंडिउ पसत्थु ॥१२॥
अण्णहिं दिणि सो वणवालएण । विणत्तु कुसुम-फल-करभ-एण ॥१३॥
सिवघोसु णामु तित्थयरु णाहु । समवसरण-सिरि-सोहिउ-अवाहु ॥१४॥

भेरी की आवाज से पुरजन आ जाते हैं ॥१३॥ राजा एकत्रित हुए परिजन और पुरजनों के साथ मुनियों की वन्दना तथा पाद-भक्ति के लिए गया ॥१४॥

घत्ता—राजा ने मन, वचन और काय से मुनियों की वन्दना की और मुनि से अपने लिए हितकारी धर्म-समझाने का निवेदन किया । निवेदन सुनकर मुनि कहते हैं—हे राजन् ! मुनिए—सम्यग्दर्शन अशुभ-हारी है ॥५-२०॥

[५-२१]

[अमरसेन-वइरसेन मुनि का देवसेन के देश में आगमन एवं देवसेन को सम्यग्दर्शन तथा जिनेन्द्र पूजा-फल-वर्णन]

ध्रुवक—शास्त्र-प्रमाणित दृढ़-सम्यग्दर्शन पच्चीस दोषों से रहित होता है । ऐसे सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुशोभित होते हैं , उसके बिना ज्ञान और चारित्र नहीं होते ॥छ॥ वह सर्व प्रथम जिनेन्द्र ने गणधरों को कहा पश्चात् उनके द्वारा वह मुनियों को कहा गया ॥१॥ मुनियों ने विद्वान् श्रावकों को कहा और उनके द्वारा अपनी भावना के अनुसार विवेक पूर्वक ग्रहण किया गया ॥२॥ हे राजन् ! पाषाणों में नागवज्रमणि जैसे सम्यग्दर्शन को पूजो ॥३॥ इससे जिसका रूप चला गया है वह कुरूप रूप युक्त हो जाता है, निर्धन-धनवान् बन जाता है ॥४॥ निष्क्रिय जन के तप और व्रत-क्रिया बढ़ती है, मूर्ख-पण्डितों में अग्रेसर हो जाता है ॥५॥ पति के त्याग देने से जिस युवा कुलीन स्त्री के बिना घर की वृद्धि नष्ट हो जाती है, इससे वह कुलांगना प्राप्त हो जाती है ॥६॥ सम्यक्त्व के बिना सभी प्रमुख दान, पूजा और उपवास आदि नहीं शोभते ॥७॥ इसी कारण से जिन भव्य जनों को सम्यक्त्वपूर्वक को गयो पाप-भावहारी जिन-पूजा का फल उत्पन्न हुआ है उसे सर्व प्रथम कहता हूँ ॥८-९॥ इस जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र की पूर्व दिशा में आर्यखण्ड में नभस्पर्शी भवनवाली कच्छावती देश की सुसीमा नगरी है, वह ऐसी प्रतोत होती है मानो सुख की सीमा स्वरूप विधाता ने उसकी रचना की हो ॥१०-११॥ प्रशस्त चक्रवर्ती की भूमि से सुशोभित उस नगर का वरदत्त नाम का राजा था ॥१२॥ किसी एक दिन वनपाल ने हाथ में फल-फूल लाकर दिनय की ॥१३॥ हे स्वामी ! शिवघोष नाम के तीर्थकर की सुशोभित एवं अवाधित समवशरण-लक्ष्मी नगर के बाहर पर्वत की तलहटी में आकर

पुर-वाहिर गिरि-तरि आइ थक्कु । तस्सुत्तु सुणि वि भत्ति गुरुक्कु ॥१५॥
 गउ परिणणेण जुउ पुहइ-राउ । तें भत्तिए वंदिउ वीयराउ ॥१६॥
 पुणु धम्ममाहम्महो तणिय वत्त । सुहदाइणि वहु दुहरासि चत्त ॥१७॥
 छह-दव्व-पयत्थइं सत्त-तच्च । भासियइं सउच्चइ सह वि सच्च ॥१८॥
 आ अच्चइ पहुता सुरह-राउ । देवीउ-विण्णिण सम-सरणि आउ ॥१९॥
 जिणु णविवि पइट्ठाइद वि पासु । तहं णिय वि णरेसहु जा उहासु ॥२०॥

घत्ता

पुच्छइ जिणदेवहु, वियलिय लेवहो,
 सामिय महु मणि अच्चरिउ ।
 वड्ढइ कहि अच्चिउ, एह उपच्चिउ,
 अच्चर-जुयलउ सुहरिउ ॥ ५-२१ ॥

[५-२२]

किं पुत्त-मित्त-घर बंदु तत्थ । जं गायउ सुखइ-णाह सत्थ ॥१॥
 जिणु चत्रइ राय अहुणा वि जाय । ते कारणेण पच्छइ समाय ॥२॥
 तं सुणि जं पुण्णे सग्गि हव । सव्वहं जणाहं आणंदु हव ॥३॥
 इह पुर वरि मालायारियस्स । पुत्तीउ विण्णी जायउहियस्स ॥४॥
 कुसुमावलि-कुसुमलया हि हाणु । अण्णोण्ण-णेहु पालण-विहाण ॥५॥
 कुसुमाइं वि लेप्पिणु पडि दिणंम्मि । पिउ डल्लउ-पूरि वि पुर-वरम्मि ॥६॥
 आवंतहो मग्गि परिट्ठियस्स । सिहरंविय जिणवर-मंदिरस्स ॥७॥
 देहलिहि वि एक्केक्कउ वि फुल्ल । धरिऊण पणामे सहं णवल्लु ॥८॥
 जय-जय सरु पडिदिणु भणि वि जाहिं । केतडउ कालु जा एम थाहिं ॥९॥

घत्ता

ता अण्णाहिं वासरि, पिय डल्लउ करि,
 कुसुमत्थें भूरुह-सघणे ।
 पियरह आणा वस, कोऊ हल-रस,
 ताउग्गय दाडिभिंहि खणि ॥ ५-२२ ॥

[५-२३]

तहं कुसुम-विणंतहं कुसुम-एक्कु । लय-मज्झि दिट्ठु फुल्लिउ-गुरुक्कु ॥१॥
 अहमवि-अहमवि गिण्ह वि भणेवि । जिण-देहलि अच्चहि एक्क णेवि ॥२॥

विराजमान हैं। उन गुरु से भक्तिपूर्वक सूत्र (आगम) सुनिष्णा ॥१५॥
नगर का राजा परिजनों के साथ गया और उसने भक्तिपूर्वक वीतरागी
की वन्दना की ॥१६॥ पश्चात् (गुरु ने) दुःख राशि की उन्मोचिनी और
सुखदायिनी धर्म-अधर्म सम्बन्धी वार्ता की ॥१७॥ वे छह द्रव्य, (नौ)
पदार्थ और सात तत्त्वों तथा सत्य को सोचकर कहते हैं/समझते हैं ॥१८॥
प्रभुता से सहित स्वर्ग की दो अप्सरा-देवियाँ स्वामी की शरण में आयीं
॥१९॥ जिनेन्द्र शिवघोष मुनि को नमस्कार करके (गुरु) के समीप बैठ
गयीं। राजा भी उनके पास जाकर उपहास करता है ॥२०॥

घत्ता—राजा निर्लिप्त भाव से मुनि से पूछता है—हे स्वामी ! मेरे मन
में आश्चर्य बढ़ रहा है। ये दोनों अप्सराएँ कहाँ से सुखपूर्वक उपस्थित हुई
हैं ? ॥५-२१॥

[५-२२]

[अमरसेन-वडरसेन कृत अप्सराओं का पूर्वभव-वर्णन]

मुनि कहते हैं—हे राजन् ! क्या पुत्र, क्या मित्र और क्या मकान सभी
में झगड़ा है। इसीसे इन्द्र साथ नहीं आया है। ये (अप्सराएँ) अभी-अभी
उत्पन्न हुई हैं इसी कारण से पीछे आई हैं ॥१-२॥ वह सुनो, जिस पुण्य से
सभी लोगों को आनन्द हुआ और ये स्वर्ग में उत्पन्न हुई ॥३॥ इसी श्रेष्ठ
नगर में दोनों (एक) माली की पुत्रियाँ हुई ॥४॥ कुसुमावलि और कुसु-
मलता। इनमें कुसुमलता छोटी थी। इनका पालन-पोषण पारस्परिक
स्नेह से हुआ ॥५॥ वे प्रतिदिन इस श्रेष्ठ नगर में पिता की फूलों से भरी
टोकरी लेकर आते हुए मार्ग में स्थित गगनचुम्बी शिखर वाले जिनमन्दिर
की देहरी पर एक-एक नया फूल चढ़ाकर प्रणाम करती हैं और प्रतिदिन
जय-जय स्वर कहकर जाती हैं। इस प्रकार इस स्थान पर कितना ही
समय निकल जाता है ॥६-९॥

घत्ता—किसी दूसरे दिन पिता की आज्ञा-वश वे दोनों हाथ में पिता
की टोकरी लेकर फूलों के लिए सघन वृक्षों में क्षणभर में किसी रस पूर्ण
फलवाले अनार की ओर गयीं ॥५-२२॥

[५-२३]

[कुसुमावलि और कुसुमलता बहिनों की जिनपूजा, सर्पदंश से
मरण तथा स्वर्ग-प्राप्ति वर्णन]

वहाँ फूल बीनते हुए एक लता में फूला हुआ बड़ा फूल दिखाई
दिया ॥१॥ मैं भी लेती हूँ, मैं भी लेती हूँ कहती है किन्तु जिन-मन्दिर

जा करु-छित्तइं ता विसहरेण । एका वट्ठी पुणु वीय तेण ॥३॥
 मुय जिणपूया-भावंतियाउ । मरिऊण सग्गि सुर-जुवइ जाउ ॥४॥
 पच्छा-आगमणहं एउ हेउ । एयहं तत्थ जि णिव तणुअ-भेउ ॥५॥
 णिवडिउ अच्छइ इय सुणि वि वाय । पुव्वहं पणवेप्पिणु जिणहं पाय ॥६॥
 सिधि वीयराय-पूया विहीसु । तप्पर जायाकय-णव-णिहीसु ॥७॥
 जो कुवि वसु-भेय-विही-समग्गु । विरयइं जिण-पूया संस-भग्गु ॥८॥
 तहु किं णव संभव होइ एत्थु । सिज्जउ भव्वहं तुरियउ पयत्थु ॥९॥

घत्ता

अण्णु जि मगहाहिव, मणि-भाविय किव,
 मिच्छादिट्ठउ कोवि णरु ।
 पीयंकरु णामें, सुह-परिणामें,
 परिभमंतु महि सो जिवरु ॥ ५-२३ ॥

[५-२४]

सो गउ पोयणपुर अण्ण दिणि । जिण-भवण-पइट्टउ जाइ खणि ॥१॥
 पोयणपुर-पहुणा महिम-किय । जिणणाहहु केरी दुरिउ-हय ॥२॥
 तं पिच्छि वि तें मणि सोउ किय । महु जन्मु-णिरत्थउ सयलु गउ ॥३॥
 णउ तिरइय एरिस महिम-मया । कइया वि ण दिट्टउ अण्ण-कया ॥४॥
 इय अणुमोयणु-गुण पूरियउ । सो देसि उकालें चोइयउ ॥५॥
 जक्खाहिउ जायउ दिव्व-तेउ । मुणिविदहं तं उवसग्गु-हेउ ॥६॥
 रक्खिय दावग्गि-जलंत जई । तम्हाउ चएप्पिणु सुद्ध मई ॥७॥
 वेयद्ध-णिवासी खयर-पहु । मुदिदोदय णामें विज्ज वहु ॥८॥
 पुणु जिण-अच्चण पुण्णेण दिवि । हुउ सणकुमार संभवि विभवि ॥९॥

घत्ता

तहं आवि वि लंका उरिहिं, णिउ मह रक्खु भय उपयलु ।
 महियलु भुंजि वि कालेण पुणु, हउं सिवउरि माणिक्क वरु ॥५-२४॥

की देहरो पर एक भी नहीं चढ़ा पाती ॥२॥ जिस हाथ से (फूल) लेती हैं सर्प द्वारा इस लिया जाता है । पश्चात् दूसरी (बहिन) का हाथ भी उसी सर्प द्वारा इस लिया जाता है ॥३॥ जिन-पूजा को भाती हुई मरीं और मरकर स्वर्ग में देव की देवियाँ हुई ॥४॥ पीछे आने का यही कारण है, और हे राजन् यही (उनके) शारीरिक-सौन्दर्य का रहस्य है ॥५॥ ऐसे वचन सुनकर पहले राजा मुनि के चरणों में प्रणाम करके पश्चात् बैठ जाता है ॥६॥ शीघ्र वीतराग (देव) की पूजा की । पूजा में आसक्त इसके अकृत नव (नौ) निधियाँ उत्पन्न होती हैं ॥७॥ जो कोई संशय-रहित होकर आठ प्रकार की सामग्री से जिनेन्द्र की पूजा रचाता है/करता है, उसे क्या संभव नहीं होता । भव्य जनों को यहाँ शीघ्र पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥८-९॥

घत्ता—हे मगध नरेश ! किसी मिथ्यादृष्टि मनुष्य को मन में ऐसी भावना कैसे (हो सकती है) । प्रीतंकर नाम का मनुष्य शुद्ध परिणामो होकर भी परिभ्रमण कर रहा है ॥५-२३ ॥

[५-२४]

[प्रीतंकर को पूजन-अनुमोदना-फल-प्राप्ति-वर्णन]

वह प्रीतंकर किसी दूसरे दिन पोदनपुर गया और क्षण भर में जाकर जिनालय में बैठ गया ॥१॥ पोदनपुर के राजा के द्वारा पापहारी जिन-नाथ की पूजा की गयी ॥२॥ उसे देखकर उसने मन में पश्चाताप किया (कि) मेरा सम्पूर्ण जन्म निरर्थक गया ॥३॥ मेरे द्वारा पूजा की ऐसी रचना नहीं की गयी । दूसरों के द्वारा की गयी भी कभी नहीं देखी गयी ॥४॥ इस प्रकार अनुमोदना-गुण से सहित वह उसी देश में असमय में मरा ॥५॥ (मरकर वह) दिव्य तेज से युक्त यक्ष देवों का स्वामी हुआ । मुनि संघ के उपसर्ग से दावाग्नि से जलते हुए मुनि संघ की रक्षा करके वह विशुद्ध बुद्धि इस पर्याय से चयकर मुदिदोदय नाम का विजयार्थ के निवासी विद्याधरों का स्वामी विद्याधर (हुआ) ॥६-८॥ इसके पश्चात् जिनेन्द्र की पूजा के पुण्य से वैभवशाली सनत्कुमार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ॥९॥

घत्ता—पूजा के भाव रखकर वह लंकापुरो में आकर राजा के रूप में प्रकट हुआ । वह कुछ समय पृथिवीतल को भोग कर पश्चात् शिवपुर (गया) । कवि माणिक्य कहते हैं कि मैं भी शिवपुर पाऊँ ॥५-२४॥

इय महाराय सिरि अमरसेण-चरिए । चउवग्ग सुकह-कहामयरसेण
 संभरिए । सिरि पंडिय माणिककविरइए । साधु महणा-सुय-चउधरी देव-
 राज णामंकिए । सिरि अमरसेण-वइरसेण-पावज्ज-गहण सिरि महाराय
 देवसेण-वंदण-भत्तिकरण । जिण-पूया-धम्म-फल-णिसुणण-वणणणं णाम
 पंचम इमं परिच्छेयं सम्मत्तं ॥ संधि ॥ ५ ॥

लावण्योमृत पूरपरितवपु सौभाग्य-लक्ष्मीवितो,
 मुक्ताहार विकासकास यशसा श्वेतीकृतासामुखः ।
 श्रीमद्वीर-जिनेश-भाषित कथालापे प्रलीनश्रुतिः,
 महणा साधु-सुतः सदाभिनंदतो कलौ देवराज नामा सुधीः ॥
 ॥ आशीर्वादिः ॥



हिन्दी-अनुवाद

इस प्रकार चारों वर्ग की-कहने में सरल कथा रूपी अमृतरस से परिपूर्ण श्री पंडित मार्णिक-कवि द्वारा साधु महणा के पुत्र देवराज चौधरी के लिए रचे गये महाराज श्री अमरसेन के इस चरित्र में अमरसेन-वइरसेन का प्रवज्याग्रहण, महाराज देवसेन की वन्दना, भक्ति और उनसे जिन-पूजा एवं धर्म-फल श्रवण-वर्णन करनेवाला यह पाँचवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ ॥ सन्धि ॥ ५ ॥

सौन्दर्य रूपी अमृत से शरीरवान्, सौभाग्यशाली, लक्ष्मीवान्, मोतियों के हार और फूले हुए काँस के समान शुभ्र यश से दिशाओं रूपी मुख को श्वेत (उज्ज्वल) रखनेवाला, वीर-जिनेन्द्र द्वारा भाषित कथा-आलाप सुनने में लीन कर्णवाला साधु महणा का देवराज नाम का विद्वान् पुत्र सदा आनन्दित रहे ॥

इति-आशीर्वाद



षष्ठम परिच्छेद

सन्धि-६

ध्रुवक

एवाँह सुणि साहु, अरि-गय-वाहु,
महणा-णंदण-अण्ण कहा ।
जिणवर-पूयहं फलु, भउ-भेउ जिमु,
तं देवराज-चउधरि-हियसुकइ ॥ छ ॥

[६-१]

जिण-अच्चणाइं इय भावणाइं । मण-इच्छिय सुर-पउ-पावणाइं ॥१॥
ददुदुख साउ काय वि विराउ । जिं मण-वय वि काउ जिं कियउ-भाउ ॥२॥
हुउ सग्गि देउ सुरणियर सेउ । मंडूय-केउ अच्छर-समेउ ॥३॥
समसरणि पत्तु भत्तिए णमंतु । सम्मइं कियंतु गुण-गण-थुवंतु ॥४॥
मगहाहिवेण पिच्छे विइंदु । पुच्छिउ गणेंदु-णाणें-दिणेंदु ॥५॥
वुद्धिय-अमंदु मंडूय केउ । किं जाउ देउ गुण-गण-णिकेउ ॥६॥
महु कहहि भेउ गणि कहइ तासु । [कहइ कवि सुणि] संसयम-णासु ॥७॥
इह तउ पुरीहि अरि-भय-हरीहिं । तहि भूरि वित्तु वणि णायदत्तु ॥८॥
तहो गुण-मणोज्ज भयदत्त-भज्ज । कय अट्टमाणु वणि चत्त-पाणु ॥९॥
णिय घरस-पासि वावी-पएसि । जलि रमिय काउ मंडूय-जाउ ॥१०॥

घत्ता

हुउ जाई सरणउं, मण-दुहयरणउं,
सो ददुदुरु सेठिणि-णिय वि ।
सम्म-हुउ-धावइ, सिरि-पउ दावइ,
आरडोइ अंचलु धरि वि ॥ ६-१ ॥

[६-२]

जइया-जइया सेठिणि आवइ । तइया-तइया सम्मुहुं धावइ ॥१॥
तहु-भएण जल-कज्ज ण गच्छइ । अहणिसु चितंती मणि अच्छइ ॥२॥

[६-१]

[देवराज चौधरी के निवेदन पर कवि द्वारा कथित मेंढक-पूजा कथा वर्णन]

ध्रुवक—शत्रु रूपी हाथी के लिए बाधा स्वरूप—साहु महणा के पुत्र चौधरी देवराज ने इस प्रकार जिनेन्द्र की पूजा का फल सुनकर, मेंढक की जैसी कथा हुई उस कथा (के कहने का निवेदन किया) ॥छ॥

(चौधरी देवराज कहता है हे माणिककराज !) जिनेन्द्र भगवान् की अर्चना और भावना से मन की इच्छा के अनुसार देवपद प्राप्त किया जाता है ॥१॥ शरीर से विरक्त होकर मन, वचन और काय से जिसने (जिनेन्द्र की पूजा का) भाव किया है, वह कोई प्रिय मेंढक देव-समूह से सेवित तथा आसराओं सहित स्वर्ग में देव हुआ ॥२-३॥ वह वीर भगवान् के समवशरण में प्राप्त हुआ / गया, उसने भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए सम्यक् रूप से गुण-स्तुति की ॥४॥ चन्द्र स्वरूप मगध-नरेश श्रेणिक के द्वारा देखे जाने पर ज्ञान-दिवाकर गणधर से पूछा गया ॥५॥ हे गुण-समूह के आगार-गणधर ! अमन्द बुद्धि यह मेंढक कौन है ? देव कैसे हो गया ? ॥६॥ चौधरी देवराज ने कहा हे कवि ! गणधर ने श्रेणिक से जैसा यह रहस्य कहा, मुझे कहो और मेरा संशय मिटाओ । कवि कहते हैं सुनो ॥७॥ इन्हीं श्रेणिक राजा की नगरी में शत्रु-भय को दूर करनेवाला महान् धनवान् वणिक नागदत्त (था) ॥८॥ उसकी गुणों से मनोज्ञ भय-दत्ता भार्या (थी) । वणिक ने आर्त्तध्यान से प्राण त्यागे (और) अपने घर के पास वापी-प्रदेश में (वावली में) जल रमण करनेवाला कोई मेंढक हुआ ॥९-१०॥

घत्ता—वह मेंढक (पूर्वभव को) अपनी सेठानी का मन दुखाने उसकी शरण में जाता है । सामने होकर दौड़ता है, सिर तथा पैर दिखाता है तथा आँवल पकड़कर ऊपर चढ़ता है ॥६-१॥

[६-२]

[सुव्रत मुनि से मेंढक की क्रियाओं का कारण ज्ञात कर तथा उसे पूर्वभव का अपना पति जानकर सेठानी द्वारा स्नेह-प्रदर्शन-वर्णन]

सेठानी जहाँ-जहाँ आती है (वह मेंढक) वहाँ-वहाँ आगे-आगे उचकता है / दौड़ता है ॥१॥ (सेठानी) उसके भय से पानी लेने नहीं जाती है,

एक्क वि वासरि सुव्वय णामें । णाणत्तय-जुत्तो हय-कामें ॥३॥
 रिसु-पुच्छिउ वणि-भज्जइ वंदि वि । पुणु पुणु णारिहिं जम्मणु-णिंदि वि ॥४॥
 सामिय भेउ लवणु किं कारणि । मुहु पिच्छि वि कुट्ठि लग्गइ खणि-खणि ॥५॥
 मुणिणा उत्तु सेठि अहिदत्तहो । वा किं णीडिउ तणु जिणभत्त हो ॥६॥
 अट्ट-सरि वि भेयत्तणि-पत्तो । उप्पण्णउ णिययाय तुरंतो ॥७॥
 णेह-वसें तव दंसणुमागइ । जाई सरणि मुणेइ सम्मग्गइ ॥८॥
 ता सेट्ठिणिय वावार-विसायं । हा-हा कम्म-कित्त संजोयं ॥९॥
 किं हमहु णाहु भयउ गय-भेयहिं । सो ददुदुर घर आणिय मोर्याहिं ॥१०॥
 भूरि जलासएण कंहिं रविखउ । जिणवर-भासिउ धम्मपसिक्खिउ ॥११॥

घत्ता

इय णिवसंतहु घरि-वावि तहो,
 अण्ण-दिवसि पइ मगहाहिव इहु ।
 भव्वहं मेलावय-कारणेण,
 दाविय जत्ता-भेरि लहु ॥ ६-२ ॥

[६-३]

जिण-जत्ता-भेरी-रव-वेयं । भव्वु-लोउ पुणु चलिउ-उगोयं ॥१॥
 ददुदुरो वि जिण-पय-अच्चण-मणु । कमल-धरि वि दंतग्गि-मुइय-मणु ॥२॥
 मग्गि चलंते संकल जाणे । सेणिय तत्थ गइवि-पय-ठाणे ॥३॥
 चप्पिउ पाणहं मुक्कु-वराउ । सुहभावें दिवि देऊ जाऊ ॥४॥
 इय मंडूकि-धयं कियु सो णिव । तामु वि अज्जपहिं अच्छइ कय किव ॥५॥
 भेकु वि विगय-विवेउ तिरिक्खो । जायउ सग्गि देउ पच्चक्खो ॥६॥

घत्ता

इह विप्पहु तणुया, मय णिय पुणुया, कुसुमंजलि वयह लेणचिरु ।
 सुरवर-पउ पावि वि, पुणु तउ भावि वि, सिद्धि-गया णामेण सिरु ॥६-३॥

रात-दिन मन में चिन्ता करती हुई रहती है ॥२॥ एक दिन वन में सेठ की पत्नी ने बार-बार नारि-जन्म की निन्दा करते हुए निष्काम, तीन ज्ञान के धासी सुव्रत नामक ऋषि से पूछा ॥३-४॥ हे स्वामी ! इसमें क्या रहस्य है, क्या कारण है ? (जो कि यह) कुटिल—(मेंढक) क्षण-क्षण मेरे पीछे लगा रहता है ॥५॥ मुनि के द्वारा उत्तर दिया गया—वह सेठ नागदत्त है । इस जिनभक्त को क्या शारीरिक-पीड़ा दी थी ॥६॥ वह आर्त्तध्यान से मरकर मेंढक की देह में उत्पन्न हुआ और तुरन्त अपनों के (पास) आया ॥७॥ स्नेह वश तुझे देखने शरण में आता है, ऐसा जानो ॥८॥ वह सेठानी भयदत्ता अपने कृत्य पर खेद करती है (और विचारती है) हाय ! हाय ! (यह) उपार्जित कर्मों का संयोग है ॥९॥ हमारे स्वामी ही जाकर मेंढक हुए हैं, (इस विचार से वह) मेंढक को सहर्ष घर लाकर उसे जहाँ गहरा पानी था वहाँ रखा तथा जिनेन्द्र के द्वारा कथित धर्म की शिक्षा दी / सिखाया ॥ १०-११॥

घत्ता—इस प्रकार उसके घर वावली में रहते हुए एक दिन यहाँ मगध नरेश (श्रेणिक) आये । (उन्होंने) भव्य जनों को एकत्रित करने के लिए शीघ्र यात्रा-भेरी बजवाई ॥६-२॥

[६-३]

[मेंढक को जिन-पूजा-फल-प्राप्ति-वर्णन]

जिन-यात्रा-भेरी की आवाज से भव्य लोग सूर्योदय होते ही चले ॥१॥ मेंढक भी जिनेन्द्र के चरणों की पूजा करने के भाव से हर्षित मन से दाँतों के अग्रभाग से कमल-पुष्प को पकड़कर मार्ग में चलते हुए संकीर्णता ज्ञात कर राजा श्रेणिक के हाथी के पैरों में जाकर पिचल गया और बेचारा शुभ भावों से प्राण-त्याग करके स्वर्ग में देव हुआ ॥२-४॥ हे राजन् ! इसलिए उसने ध्वजा में मेंढक अंकित कर रखा है । इसने आज भी अच्छा कृत्य (काम) किया है ॥५॥ प्रत्यक्ष देखो विवेक-रहित तिर्यच मेंढक भी स्वर्ग में देव हुआ ॥६॥

घत्ता—यहीं कोई श्री नाम की ब्राह्मण की पुत्री ने कुसुमांजलि-व्रत लेने के पश्चात् निज मरण करके शीघ्र सुरेन्द्र का पद पाया । इसके पश्चात् तप करके सिद्ध-गति को प्राप्त हुई ॥६-३॥

[६-४]

जह तं वउ आयरिउ णरेसरु । तहं ससमित्तउ भाणि-जिणेसरु ॥१॥
 जंबूदीवहिं पृव्व विदेहीहिं । सीता-सरि-दाहिण त्तिहिं सोहीहिं ॥२॥
 मंगल-विसए रयणसंचय-पुरि । वज्जसेणु णिव पिय अग्गेसरि ॥३॥
 णाम जयावइ सा एकहिं दिणि । पासायहो सिरि संठिय सामिणि ॥४॥
 सहिय-समाणी जा दिसि जोवइ । णयर-मग्गि[ता]णियणइ ढोवइं ॥५॥
 ता पाढयवर-मंदिर-होता । पढिऊणं-करताल-हणता ॥६॥
 अपरंपर-दुव्वयण-चवंता । तणु-धूसरिय गयणु-फालंता ॥७॥
 पुरयण-सिसु-णिगंथ-पेच्छंती । सुय-जम्मणु माणसि इच्छंती ॥८॥
 महदुक्खे पुणु अंसु-मुयंती । पिच्छि वि पिय राएण तुरंती ॥९॥
 पुच्छिय किं कारणु तास-महियइं । भासिउ आजम्म वि तहु सुहियइं ॥१०॥
 सुय-जम्मणु पिच्छइ दुह-घाइय । णिव अच्छइ राणिय उम्माइय ॥११॥
 ता णरवइ दुह-उवसमणत्थे । जिणहरि णीय देवि-परमत्थे ॥१२॥
 बीयराउ तहं अंचिउ-भावें । फेडिय रोय-सोय-संतावें ॥१३॥
 पुणु सुयसायरु वंदि वि रिसिवरु । परि पुच्छइं णरेसु चिंताउरु ॥१४॥

घत्ता

पियरणिहि-पुत्तो, वंसहं जुत्तो, होही अह णउ होइ मुणि ।

जंपइ चक्केसरु, जय-लच्छी वरु, होसइ णंदणुराय मुणि ॥ ६-४ ॥

[६-५]

वंदेप्पिणु भक्तिए रिसह-पाय । संतोसपरायणस गिहि आय ॥१॥
 कववय दिणेण णंदणुपजाउ । सुहुवद्धिय-परियण-अइरि-ताउ ॥२॥
 सिसुभावि पढाविउ पवर-सत्थु । पूरिय राणिहि इच्छा-पसत्थु ॥३॥
 णामेण रयणसेहलु गुणालु । सुहि णिवसंतहो जा जाइ कालु ॥४॥
 ता वणकीला संपत्तयासु । खगु इक्कु णहहु ओयरि वि तासु ॥५॥
 मिल्लिउ दोहि मि दंसणेण-मोहु । वंच्छिउ मण-गय-चिंता-णिरोहु ॥६॥

[६-४]

[राजा देवसेन को अमरसेन मुनि द्वारा कथित कुसुमांजलिव्रत कथा]

हे राजन् ! जहाँ वह व्रत आचरित हुआ उसे जिनेश्वर ने संक्षेप से (इस प्रकार) कहा है ॥१॥ जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी की दायीं ओर मंगलावती देश की रत्नसंघपुरी में राजा वज्रमेन की परमप्रिय जयावती नाम की पटरानी एक दिन महल के ऊपरी भाग पर बैठकर सहेली की आगमन दिशा में, नगर-मार्ग में धूल-धूसरित देहवाले, बहु दुर्वचन कहते हुए, भूमि लाँघ-लाँघ कर चलनेवाले मन्दिर के अध्यापक को हाथ से पीट-पीट कर समर्पित छात्रों को ले जाते हुए देखती है ॥२-७॥ पुरजनों के नग्न बालकों को देखते हुए (वह) मन में पुत्र-जन्म की इच्छा करती है ॥८॥ इसके पश्चात् महान् दुःख से आँसू बहाते हुए वह तुरन्त पति के द्वारा देखी गयी और पूछी गयी कि हृदय-त्रास का क्या कारण है ? उसने भी कहा कि आजन्म से सुखी हूँ ॥९-१०॥ पुत्र-जन्म दुःखकारी दिखाई देता है । राजा उन्मादित होकर रानी से कहता है ॥११॥ वह राजा दुःख उपशमन करने और परमार्थ के लिए रानी को जिन-मन्दिर ले गया ॥१२॥ वहाँ (उसने) रोग, शोक और सन्ताप मिटानेवाले वीतराग की भाव-पूर्वक पूजा की ॥१३॥ पश्चात् श्रेष्ठ ऋषि श्रुतसागर को नमस्कार करके राजा चिन्तित हृदय से पूछता है ॥१४॥

घत्ता—हे मुनिराज ! माता-पिता की निधि, वंश के योग्य पुत्र होगा अथवा नहीं ? मुनि कहते हैं—हे राजन् ! विजयलक्ष्मी का वरण करने-वाला चक्रवर्ती पुत्र होगा ॥६-४॥

[६-५]

राजा और रानी श्रुतसागर ऋषि के चरणों की भक्तिपूर्वक वन्दना करके संतुष्ट होकर घर आये ॥१॥ कुछ दिनों बाद परिजनों के सुखों की वृद्धि करनेवाला और वैरियों का सन्तापकारी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२॥ शिशु-अवस्था में ही उसे श्रेष्ठ शास्त्र पढाये और रानी को प्रशस्त इच्छाओं की पूर्ति की ॥३॥ रत्नशेखर नाम से गुणवान् (पुत्र के साथ) सुख-पूर्वक रहते हुए सुखपूर्वक समय व्यतीत होता है ॥४॥ उस रत्नशेखर को वन-क्रीड़ा के समय एक विद्याधर आकाश से उतर कर प्राप्त हुआ/मिला ॥५॥ दोनों एक दूसरे से मिले, (परस्पर) दर्शन से मोह हुआ

संभासणु विहि अण्णोण्ण सिट्ठ । विण्णि वि संजाया परम-इट्ठ ॥७॥
 मणिसेहरेण तासु जि पउत्तु । को तुहुं कहि आयउ कासु पुत्तु ॥८॥
 तुह-उप्परि वट्ठइ भूरि णेहु । खयरेसु चवइ ता वज्जगेहु ॥९॥
 खग्गगिरि-दाहिण-सेट्ठि रम्भु । जयवम्मु राउणं परमधम्मु ॥१०॥
 विणयादेवी पिय हउ जि पुत्तु । घणवाहणु णामें वलणि उत्तु ॥११॥

घत्ता

महु देप्पिणु णिव-सिरि, राणउ गउ गिरि,
 दो विह तउ-पंथम्मि थिउ ।
 मइ पुणुस पयावें, कय खउ-भावें,
 खगें खेय-चक्कु जिउ ॥ ६-५ ॥

[६-६]

णिय इच्छाइ गयणु-विहरंतउ । णह-जाणहो खलणें इह पत्तउ ॥१॥
 तुहुं दिट्ठउ पइ-पुच्छिउ वइयरु । भासिउ णिरइसेसु मइ हिययरु ॥२॥
 तुहुं पुणु णिय वित्तं तु पयासहि । जणणि-जणणु-पुरणामुब्भासहि ॥३॥
 सो चवेइ इय मणिंसंचयपरि । पहु पविसेणु जिणिय संगरि अरि ॥४॥
 णंदणु हउं मणिसेहरु जायउ । वणकीला-कारणि इह आयउ ॥५॥
 दोहिमि अइ-मित्तणु वट्ठिउ । परसप्पर-णेहेण रसट्ठिउ ॥६॥
 मेरु-जिणालय-वंदण-इच्छा । महु मणि अहणिसु होइ सुणिच्छा ॥७॥
 घणवाहणु जंपहि णह-जोर्णाहि । चडु वेयं महु सुच्छ विमार्णाहि ॥८॥
 तं णिसुणि वि अक्खइ मणिसेहरु । णिय विमाणु जइ होइ सुहायरु ॥९॥
 तेणारुहिं वि जिणालइ-वंदमि । पर क्रिय णह-जाणहि णाणंदमि ॥१०॥

घत्ता

तातें तह मंतो, दिण्ण महंतो, आराहिउ मणिसेहरेण ।
 विज्जागणु-सिद्धउ, भुवणि पसिद्धउ, किउ विमाणु सोहणु खणेण ॥६-६॥

दोनों ने मन की चिन्ताओं का निरोध चाहा ॥६॥ परस्पर में बातचीत करके वे दोनों परम मित्र हो गये ॥७॥ मणिशेखर के द्वारा पूछा गया कि तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? और किसके पुत्र हो ? ॥८॥ तुम्हारे ऊपर बहुत स्नेह बढ़ रहा है । यह विद्याधर उस वज्रागार रत्नशेखर से कहता है ॥९॥ विजयार्द्ध पर्वत की रम्य दक्षिणश्रेणी में परम धर्मात्मा राजा जयवर्मा हैं ॥१०॥ उनकी प्रिया विजयादेवी का मैं पुत्र हूँ । वक्रता से घनवाहन नाम से कहा जाता हूँ ॥११॥

घत्ता—राजा (जयवर्मा) मुझे राज्यलक्ष्मी देकर पर्वत पर गये और द्विविध तपवाले मार्ग में स्थिर हुए । पश्चात् भाग्यशाली मैंने क्षमा भाव से तलवार के द्वारा विद्याधरों को जीता और चक्रवर्ती हुआ ॥६-५॥

[६-६]

[मणिशेखर की स्वयं निर्मित-यान से मेरु जिनालय-वन्दना
इच्छा एवं यान-रचना]

अपनी इच्छानुसार आकाश में विहार करता हुआ आकाशगामी यान के स्खलित हो जाने से यहाँ आ पहुँचा हूँ ॥१॥ तुम्हारे दिखाई देने पर प्रजा ने पूछा—वैरी है, (तब) मैंने सम्पूर्ण (वृत्त) कहकर (तुझे अपना) हितैषी बताया ॥२॥ अब आप अपना वृत्तान्त (परिचय) प्रकट करो, माता-पिता और नगर बताओ ॥३॥ वह मणिशेखर कहता है—इस रत्न-संचय नगरी में राजा वज्रसेन ने युद्ध में शत्रुओं पर विजय की ॥४॥ मैं मणिशेखर पुत्र हुआ, वनक्रीड़ा के लिये यहाँ आया हूँ ॥५॥ दोनों में पारस्परिक बहु स्नेह से अधिक मैत्री भाव बढ़ा ॥६॥ (रत्नशेखर ने कहा मित्र घनवाहन) सुनो ! मेरे मन में रातदिन मेरु पर्वत के जिनालयों की वन्दना करने की इच्छा होती है ॥७॥ घनवाहन कहता है—शीघ्र मेरे आकाशगामी-इच्छानुसार गमनशील विमान पर चढ़ो ॥८॥ घनवाहन से ऐसा सुनकर मणिशेखर कहता है—यदि सुखकारी अपना विमान हो तो उस विमान पर चढ़कर जिनालयों को वन्दूँ । पराये आकाशगामी यान से मुझे आनन्द नहीं आता ॥१०॥

घत्ता—इसलिए मणिशेखर के द्वारा बहुत दिन मन्त्र की आराधना की गयी । सिद्ध हुई विद्या ने पल भर में लोक में प्रसिद्ध सुशोभित विमान की रचना की ॥६-६॥

[६-७]

तम्मि चडि वि कंचणगिरि-जिणहर । अढ्ढाई-दीवहि ते रुह मणहर ॥१॥
 दो असेस वंदि वि अंचेप्पिणु । सिद्धकूड-जिणमंदिरि एप्पिणु ॥२॥
 पूजि वि जिणहु जाम उवविट्ठा । तात्तिहि दिट्ठा कण्ण-मणिट्ठा ॥३॥
 मयणमजूसा णाम किसोयरि । जिणु-पूजंती मयण-हलीदरि ॥४॥
 मणिसेहरु णिय-विसामो-हिय । मयण-सरोहिं चित्ति वि रोहिय ॥५॥
 ता कण्णा-जण्णे वित्तंतो । परियाणि वि णिय-गेहि समित्तो ॥६॥
 मणिसेहरु णेप्पिणु घर-घप्पिउ । पुणु वि सयंवरु पट्टणा रोप्पिउ ॥७॥
 जणमय-पच्चय-कारणे खेयर । आहूया सयल वि लच्छीहर ॥८॥
 विहिय सयंवरि रयणासिहर सिरि । माला-कय घल्लिय तेणहु सिरि ॥९॥
 ताम वियच्चर सयल विरुद्धा । असि वर-धारइ तेण गिरुद्धा ॥१०॥
 पाहुडकय ते सरण पइट्ठा । ते परिणिय तं कण्ण-मणिट्ठा ॥११॥

घत्ता

कइवय-दिण-पच्छइं, पुणु कय णिच्छइं,
 णिय उरि गउ पिय मत्त जुउ ।
 दिट्ठउ तहं जुयलउ, णह-पय विमलउ,
 भज्जइं सहु भत्ती-इणुउ ॥ ६-७ ॥

[६-८]

घणवाहणु-मणिसेहरुसप्पिउ । अण्णाहिं दिणि कंचण-सिहरिहि गउ ॥१॥
 तहं वंदि वि चारणु अमियगई । धम्महु वि णिसुणि वि सुद्धमई ॥२॥
 तं पुच्छिउ णिय पुणाय सऊ । जं पुरह रज्जु-लद्धय अजेउ ॥३॥
 णेहहु-कारणु मित्तहो पियाहिं । आहासइ तामु जईसु तहिं ॥४॥
 तहं भरहीहिं मंगलवइ-णयरि । संभव-जिण तित्थि णिहित्ति अरि ॥५॥

[६-७]

[मणिशेखर की निज विमान से अढाई-द्वीप वन्दना तथा
मदन-मंजूषा-परिणय वृत्त वर्णन]

वे दोनों (मणिशेखर और घनवाहन) उस विमान पर चढ़कर सुमेरु-पर्वत और अढाई-द्वीप के मनोज्ञ सम्पूर्ण जिनालयों की वन्दना तथा अर्चना करके सिद्धकूट के जिन-मन्दिर में आये ॥१-२॥ जिनेन्द्र की पूजा करके जैसे ही बैठे कि वहाँ उन्हें जिनेन्द्र की पूजा करती हुई कामोत्पादनी मदनमंजूषा नामक कृशोदरी मनोज्ञ कन्या दिखाई दी ॥३-४॥ वह (कन्या) मणिशेखर को अपने हृदय में विश्राम देकर काम-वागों से चित्त में संरोधित हो गयी ॥५॥ उस कन्या ने अपने घर आकर माता-पिता को वृत्तान्त की जानकारी दी ॥६॥ राजा के द्वारा मणिशेखर अपने घर (राजभवन) ले जाया गया और रोका गया तथा स्वयंवर रचाया गया ॥७॥ जनमत के प्रत्यक्षीकरण हेतु लक्ष्मी के भण्डार समस्त विद्याधर बुलाये गये ॥८॥ स्वयंवर में उस श्रेष्ठ कन्या ने भी रत्नशेखर के सिर में माला पहिनायी ॥९॥ सभी (आये) विद्याधर उसके विरुद्ध हो गये । तब तलवार लेकर उस रत्नशेखर द्वारा व रोके गये ॥१०॥ वे उपहार देकर (रत्नशेखर की) शरण में आये और रत्नशेखर ने उस मनाज्ञ कन्या को विवाहा ॥११॥

घत्ता—कुछ दिन पश्चात् कृत निश्चय के अनुसार प्रिया सहित अपने नगर गया । वहाँ निर्मल आकाश में भक्त-पत्नी के साथ यह युगल देखा गया ॥६-७॥

[६-८]

[घनवाहन को राज्य लाभ तथा मणिशेखर का प्रिया में स्नेह होने
का कारण बताने के संदर्भ में अमितगति मुनि
द्वारा कथित प्रभावती-कथा]

किसी दूसरे दिन घनवाहन मणिशेखर से रुष्ट होकर मेरु पर्वत के शिखर पर गया ॥१॥ वहाँ उसने चारण ऋद्धिधारी अमितगति की वन्दना करके शुद्ध बुद्धि से धर्म भी सुनकर उसने अपने पुण्यास्रव से अपने पूर्वजों के अजेय राज्य की प्राप्ति तथा प्रियमित्र में स्नेह का कारण पूछा । मुनिवर उसे कहते हैं ॥२-४॥ भरतक्षेत्र में मंगलावती नगरी है जहाँ जिनेन्द्र तीर्थंकर संभवनाथ ने कर्म-शत्रुओं का घात किया था ॥५॥

जियसत्तु-राउ विण्णाय गाउं । कंचणमाला-पिय-भोयराउ ॥६॥
 सुयकित्ति-परोहिउ सुय-पउरो । वंधुमइ-कलत्तहि हियइ-हर ॥७॥
 तहु पुत्ति-पहावइ गुणह-णिहिं । सा पडि(ठि)य जिणायम जुत्ति विहि ॥८॥
 अण्णहि-दिणि वंधुमई अहिणा । सुत्ती सिज्जहि वट्ठी अहिणा ॥९॥
 सुय णियइ विप्पु दुक्खिउ ख्वई । सक्कार-करणि णउ तणु मुवई ॥१०॥
 मह कट्टु कहव-कहव दहिउ । तहं विणसोएं विउ पज्जलिउ ॥११॥

घत्ता

जणु-सुयण जि सोयाउरु, लिउ जहि मुणिवरु,
 संबोहिउ गिरिणा जि बिउ ।
 तं भय णिविण्णं, सोयादण्णं,
 धारिउ अइरिं कुवि तऊ ॥ ६-८ ॥

[६-९]

मंतवाय ददरेण दियंवरु । सो चल-चित्तु जाउ संसययरु ॥१॥
 सिद्धाणिय-विज्ज तउच्छंडिउ । भोय-पवट्टणि अप्पउ-मंडिउ ॥२॥
 तासु पहावइ अह्णिमु जंपइ । एरिमु कम्मु ण जुउ-संपज्जइ ॥३॥
 चरिय-रयणु मित्ति वि तुसखंडो । के सं-गहहिविप्प दुह-कंडो ॥४॥
 पुणु-पुणु इय भासंती पावणु । तहो भट्टहु हवेइ दुह-दाहणु ॥५॥
 एणइं दुहियइं हउं संताविउ । हमि अहिउ समु मसि[हिय]भाविउ ॥६॥
 पुणु तंहि कुद्धे णिय णिज्जण-वणि । मेलाविय पुत्ती विज्जइ खणि ॥७॥
 तत्थइं सा सुह्माणे थक्की । भावइ अणुवेहा भय-मुक्की ॥८॥
 पुणु जणणे आलोयणि विज्जा । पेसिय अवलोयणेण मणोज्जा ॥९॥
 ताइं पहावइ णिय कइलासहि । थाइ वि सिद्धखेत सिव-वासहि ॥१०॥
 सयल जिणंदहं णवि वि पहावइ । जा ठिय जिण-हरि पयल-महावइ ॥११॥

वहाँ जितशत्रु नाम का राजा और कंचनमाला उस राजा की प्रिया जानो ॥६॥ श्रुतप्रवर-श्रुतकीर्ति पुरोहित और हृदयहारिणी बन्धुमती (उसकी) स्त्री थी ॥७॥ इन दोनों की पुत्री गुणों की निधि प्रभावती ने जिनागम का विधि-पूर्वक स्वाध्याय किया था ॥८॥ एक दिन शय्या पर सोते हुए बन्धुमती सर्प द्वारा डस ली गयी ॥९॥ पुत्री—विप्र श्रुतकीर्ति के निकट दुःखी होती हुई रोती है । अग्नि-संस्कार करने को (माता की मृत) देह नहीं छोड़ती/दिती ॥१०॥ कह-कहकर बड़ी कठिनाई से उसे जलाया । (पश्चात्) शोक रहित होकर दीप प्रज्वलित किया ॥११॥

घत्ता—शोकाकुलित स्वजन-जन (उस प्रभावती को वहाँ ले गये) जहाँ मुनिराज (उसके पिता) थे, उन्होंने वाणी से सम्बोधन दिया । भय और अन्य शोक आदि निवृत्त होकर उसने शीघ्र द्विविध तप धारण कर लिया ॥६-८॥

[६-९]

[प्रभावती द्वारा श्रुतकीर्ति का समझाया जाना, रुष्ट होकर श्रुतकीर्ति द्वारा प्रभावती को कैलास पहुँचवाना, प्रभावती का महाव्रती होना तथा पद्मावती देवी का समागम-वर्णन]

वह दिगम्बर (प्रभावती का पिता) सशंकित होकर चंचल-चित्त हो गया । उसने दृढ़ता-पूर्वक मान्त्रिक वचनों से सिद्ध की गयी विद्या को ले जाकर उस प्रभावती पर छोड़ा और स्वयं को भोग-प्रवृत्तियों में लगाया ॥१-२॥ उसे प्रभावती रातदिन कहती है / समझाती है किन्तु इसके कर्म ठीक नहीं होते ॥३॥ हे विप्र ! रत्नत्रय-चारित्र्य को पाकर दुःख के पिटारे तुष-खण्ड को कौन ग्रहण करता है ॥४॥ इस प्रकार बार-बार कहे गये पवित्र वचन उस भ्रष्ट श्रुतकीर्ति को दुःखदायी होते हैं ॥५॥ इस पुत्री के द्वारा मैं सताया गया हूँ । हमें इसने सर्प के समान काले हृदय का समझा है ॥६॥ इसके पश्चात् क्षणभर में क्रोध से श्रुतकीर्ति ने पुत्री को निर्जन वन में ले जाकर क्षणभर में विद्या से मिला दिया ॥७॥ वहाँ वह (पुत्री-प्रभावती) शुभ-ध्यान में स्थित होकर भय-मुक्त हो अनु-प्रेक्षाओं को भाती है ॥८॥ इसके पश्चात् देखने में मनोज्ञ उस प्रभावती को देखने पिता ने विद्या भेजी ॥९॥ विद्या ने उस प्रभावती को सिद्धक्षेत्र-कल्याणभूमि कैलास पर्वत पर ले जाकर स्थापित किया ॥१०॥ प्रभावती सभी जिनेन्द्रों की वन्दना करके जिनालय में जाकर महाव्रतों को प्रकट करके स्थित हो गयी ॥११॥

घत्ता

ता पोमादेवी, सुर-सय-सेवी,
 तत्थाइ वि पणविवि जिणहं ।
 जा वाहिर गच्छइ, ता मणि अच्छइ,
 गारि दिट्ठ जिणयंगणहर ॥ ६-९ ॥

[६-१०]

सा पुच्छा का तुहं सुह-भावण । केण विहाणें आया पावण ॥१॥
 ताम पहावई इ वित्तंतो । गिरवसेसु वज्जरिउ णिभंतो ॥२॥
 एतंहि खणि चउ-देव-णिकाया । दुंदुहि-सहें तत्थ समाया ॥३॥
 ताहं णिएप्पिणु तं जंहि पुच्छिउ । किं कारणि सुर आइयसुच्छउ ॥४॥
 पोमावइ-जंपइ अज्जु जि वरु । भद्दव-सिय-पंचमि-सुहवासरु ॥५॥
 कुसुमंजलि-दिणु अज्जु पसिद्धउ । सुरयणु तेणायउ हरि सुट्ठउ ॥६॥
 सुर-तिय किम इह वउ-विरइज्जइ । महु अगं असेसु भाविज्जइ ॥७॥
 भद्दव आइ अंतमहु मासो । जेण केण वसु मज्झि पयासो ॥८॥
 सेय-पक्खि-पंचमि-दिणि होंतउ । किज्जइ इय पण-दिवसु णिरत्तउ ॥९॥
 जिण-चउवीस-पडिम-अहिसेविउ । विरइवि पुणु पूया सुह-हेयउ ॥१०॥
 तंदुलाहं चउवीस जि पुंजइ । दिज्जइ अग-पएसि मणुज्जइ ॥११॥
 ताहं उवरि वर फुल्ल एक्केक्कउ । थपिज्जइ मण-सुहयरु एक्कउ ॥१२॥
 पुणु तित्थयरु णाउ उच्चारंहि । करि वि परिकवण डुरिय-णिवास(र)हि ॥१३॥
 कुसुमंजलि-जिण णाहहो दिज्जइ । पंच वण्ण-कुसुमोहहि किज्जइ ॥१४॥
 कुसुमाभावे अक्खय-सारंहि । दिज्जइ पुप्फंजलि-वय-धारहि ॥१५॥

घत्ता

संवच्छर-तिण्णि-पवाणु-वउ,
 किज्जइ पुणु उज्जवण-विहि ।
 पुज्जा-उज्जवणु असेसु णिरु,
 ठाविज्जहि जिण णाहहि-गिहि ॥ ६-१० ॥

घत्ता—वहाँ सैकड़ों देवों से सेवित पद्मावती देवी वहाँ आकर जिनेन्द्र की वन्दना करके जब बाहर जाती हैं तब जिनालय के प्रांगण में उसे मन को प्रिय लगनेवाली (एक) स्त्री दिखाई दी ॥६-९॥

[६-१०]

[पद्मावती देवी से प्रभावती का कुसुमाञ्जलि-व्रत-कथा श्रवण-वर्णन]

पद्मावती देवी के द्वारा प्रभावती से पूछा गया । हे शुभ-भावने ! तुम कौन हो, हे पवित्र-आत्मन् ! कैसे आई हो ? ॥१॥ प्रभावती ने बिना किसी आशंका के सम्पूर्ण वृत्तान्त उस देवी से कहा ॥२॥ इसी बीच क्षण भर में चारों निकाय के देवों की दुंदुभि ध्वनि वहाँ आयी ॥३॥ उन देवों को देखकर प्रभावती ने (पद्मावती देवी) से पूछा—देवों ने किस कारण से आकर उत्सव किया है ? ॥४॥ पद्मावती देवी कहती है—आज भाद्रव मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी (तिथि) का श्रेष्ठ शुभ दिन है ॥५॥ आज प्रसिद्ध कुसुमाञ्जलि (व्रत) का दिन है इसलिए इस पवित्र स्थान में सुर-वृन्द और इन्द्र आये हैं ॥६॥ (पुनः प्रभावती पूछती है हे देवी—) देवांगनाएँ इस व्रत को किस प्रकार रचाती हैं / करती हैं—मेरे आगे सम्पूर्ण विधि कहें ॥७॥ (पद्मावती देवी कहती है—हे प्रभावती) भाद्रव मास के अन्त में जिस किसी प्रकार पृथिवी पर इसे प्रकाशित करो ॥८॥ इस मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि के दिन से लगातार पाँच दिन करो ॥९॥ चौबीसों जिनेन्द्र-प्रतिमाओं का अभिषेक करके सुख की हेतु यह पूजा रचाकर चौबीसों जिन-प्रतिमाओं के आगे मनोज्ञ तन्दुल चढ़ाकर उनकी पूजा करो ॥१०-११॥ इसके पश्चात् मनोज्ञ एक-एक पुष्प प्रत्येक तीर्थंकर (प्रतिमा) को चढ़ाओ ॥१२॥ इसके पश्चात् तीर्थंकर का नाम उच्चारण करते हुए पापों का निवारण करनेवाली परिक्रमा करके पाँच विभिन्न रंगों के पुष्पों का गुच्छा बनाकर जिननाथ को कुसुमाञ्जलि चढ़ावे ॥१३-१४॥ फूलों के अभाव में सुन्दर-बिना दूटे अक्षतों की पुष्पाञ्जलि देकर व्रत धारण करे ॥१५॥

घत्ता—तीन वर्ष प्रमाण व्रत करे पश्चात् विधि पूर्वक उद्यापन करे । उद्यापन में जिनालय में सभी तीर्थंकर प्रतिमाओं की स्थापना करके सभी की पूजा करे ॥६-१०॥

[६-११]

काराविज्जइ-जिणवर-पइट्ठ । यत्तहं दाणइं वित्ताह हिट्ठ ॥१॥
 पुत्थइ लेहाविवि जो वि जईसहं । देइ वि भावें णाणमहीसहं ॥२॥
 सो भवि-भवि पंडिउ-उपज्जइ । पुणुर वि केवलेण मंडिज्जइ ॥३॥
 एयभत्त अहवा उववासें । कंजिएण णिय सत्ति-पयासें ॥४॥
 फलु जि समाणु-भाउ जइ सुद्धउ । तं विणु वउ-तउ सयलु विरुद्धउ ॥५॥
 तं आयणिण वि गिण्हउ कण्णइं । पोमावइ सहाइ सुपसंणइं ॥६॥
 वासर-पाच ताइं आयरियउ । पुणु सुरगणु-गउ तक्खणि वुरियउ ॥७॥
 सा वि मिणालउरिहि णिय देविए । थप्पि वि गय जिणहरि-सुर-सेविए ॥८॥
 तत्थ पहावइए रिसिपुंगमु । तिहुवणचंडु णामु गयसंगमु ॥९॥
 अहि वंदि वि तवयरणुप मंगिउ । ता मुणिणा णाणेण वियक्किउ ॥१०॥
 भव्बु-भव्बुपइं मंतिउ पुत्ती । आउ तुज्झु दिण तिणिण-णिहत्ती ॥११॥

घत्ता

तं णिसुणि वि कण्णइं, सील सुपुण्णइं,
 अणसणहु सहु धरिउ तउ ।
 तच्चत्थु-मुणंति, जिणु-झायंती,
 तण-सग्गें ठिय अच्चल-भउ ॥६-११॥

[६-१२]

एर्ताहि अवलोयणि पुणु जणणें । पेसिय तव-विहि-चालण कुणणें ॥१॥
 विज्जइ घोरुवसग्गु पउंजिउ । तहं वि ण ताहि जोउ-गुण भंजिउ ॥२॥
 मुय-सण्णसें अच्चुअ-सग्गाहि । पउमुणाहु सुरु हुउ सोहग्गाहि ॥३॥
 अवहिए तें चिर वइयरु जाणिउं । पुणु जणणहो संवोहण-आयउ ॥४॥
 णियच्चरित्तु आहासिउ तायहो । देवाविउ वउ वियलिय मायहो ॥५॥
 णिय गुर-वासिय वंदिय तहु पय । पवर-थुई थुणेप्पिणु गय रय ॥६॥
 कुसुमंजलि-वउ पय लिबि लोयहं । गउस ठाणि सुरु वट्ठिय-भोयहं ॥७॥

[६-११]

[कुसुमाञ्जलि व्रत-विधि तथा प्रभावती का व्रत-ग्रहण-वर्णन]

जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराकर पात्रों को सहर्ष धन दान करे ॥१॥ जो पुस्तक लिखवाकर पृथिवी पर ज्ञान के विचार से यतीश्वरों को देता है, वह भव-भव में पण्डित-विद्वान् के रूप में उत्पन्न होता है और केवलज्ञान से विभूषित होता है ॥२-३॥ अपनी शक्ति के अनुसार कांजी लेकर एकासन अथवा उपवास करे ॥४॥ (एकासन अथवा उपवास का) फल-भाव-शुद्धि के अनुसार होता है । भाव-शुद्धि के बिना व्रत, तप सभी निष्फल हैं ॥५॥ ऐसा सुनकर कन्या-प्रभावती ने पद्मावती को सहायता से प्रसन्नतापूर्वक व्रत ग्रहण किया ॥६॥ देव-पाँच दिन इस व्रत की साधना करके तत्काल चले गये ॥७॥ वह प्रभावती भी देवी-पद्मावती को अपनी मृणालपुरी नगरी ले गयी । वहाँ उसे स्थापित करके वह जिनदेव की सेवा के लिए जिनालय गयी ॥८॥ वहाँ प्रभावती ने परिग्रह-रहित त्रिभुवनचन्द्र नामक श्रेष्ठ ऋषि से अर्हन्त की वन्दना करके तपश्चरण मांगा/महाव्रत लेना चाहा । मुनि के द्वारा तब ज्ञान से वितर्क किया गया ॥९-१०॥ (उन्होंने कहा—) हे पुत्री ! भव्य है, भव्यपने का विचार किया है, तुम्हारी आयु निश्चित ही तीन दिन की (शेष) है ॥११॥

घटा—पुण्यवान् शीलवती उस कन्या (प्रभावती) ने ऐसा सुनकर अनसन पूर्वक तप धारण किया और तत्त्वों का अर्थ-चिन्तन तथा जिनेन्द्र का ध्यान करती हुई कायोत्सर्ग में अचल रूप में स्थित हुई ॥६-११॥

[६-१२]

[प्रभावती और उसके माता-पिता का स्वर्गारोहण-वर्णन]

इसके पश्चात् प्रभावती को देखने के अर्थ पिता के द्वारा भेजी गयी विद्या ने तपविधि से उसे च्युत करने का घोर उपसर्गों का प्रयोग किया तो भी वहाँ उसका योग-गुण खण्डित नहीं हुआ ॥१-२॥ संन्यास-पूर्वक मरकर वह अच्युत स्वर्ग में पद्मनाथ नाम का सुहावना देव हुई ॥३॥ अवधि-ज्ञान से चिरकालीन वैर को जानने के पश्चात् देव अपने पूर्वभव के माता-पिता को संवोधने आया ॥४॥ उसने पिता को अपना चरित्र बताया और विचलित माता को व्रत दिलाया ॥५॥ अपने गृह के पास उनकी चरण-वन्दना और निर्मल प्रवर स्तुतियाँ कीं ॥६॥ लोक में कुसुमाञ्जलि व्रत

रिसिवरु सुयकित्ति वि चइ विग्गह । सुरु-पहासु जायउ तहिं सग्गह ॥८॥
पउसणाह देवह हुउ अच्छर । कमला-अंति मित्ताकु वि अच्छर ॥९॥

घत्ता

पउमणाहु तत्थहो चइ वि,
रयणुसिहरु तुहुं हुवउं इह ।
इयस वि भणवाहणु-मित्तु तउ,
कमल वि मयणमजूसगिह ॥६-१२ ॥

[६-१३]

इय चिर-णेहें णेहु पवट्ठइ । भवहं पठंतहं णेहु ण तुट्ठइ ॥१॥
मुणि-महाउ इय णिसुणि वि भव्वो । भयउ लाहु धम्महं सिव भव्वो ॥२॥
मुणि णवेवि आयउ णिय-मंदिार । जणणें रज्जु-दिण्णु इत्थंतरि ॥३॥
वणि जाइ सइ-रिसिवउ धारिउ । महिपालइ-मणिसिहरु-णिसारिउ ॥४॥
चक्क रयणुआउह घरि-सिद्धउ । महिमंडलुच्छक्खंडु-पसिद्धउ ॥५॥
णव-णिहि चउदह-रयणइं जायइं । खग-भूयर-णिव सेवय जायइं ॥६॥
सेणावइ घणवाहणुच्छजइ । जासु पुरउ अरियण-गणु भज्जइ ॥७॥
तियच्छणणवइ-सहासइ-मुंदर । कोडिदह-वल चवल-पय-हयवर ॥८॥
चउरासी लक्खइं रह-तय-गय । तेहिं भिडंतहं हुय संगरि जय ॥९॥

घत्ता

चिरु महियलु भुंजि वि, विसणहं रंजि वि,
किउ उज्जवणउ चिर वयहु ।
पुणु लहि वि णिमित्तें, चित्ति विरत्तें,
दिण्णु रज्जु कंचण-पहुहु ॥६-१३ ॥

[६-१४]

सहुं घणवाहणेण पहु दिक्खिउ । राय-दोस-दूरें उवेक्खिउ ॥१॥
मंजूसा तवि ठिय उव्विण्णी । णिय सखुव-झावंतिय घण्णी ॥२॥

लेकर भोगोपभोग वाले देव-स्थान (स्वर्ग) में गया ॥७॥ श्रेष्ठ ऋषि श्रुतकीर्ति शरीर त्याग करके देव के प्रभाव से उसी अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुए ॥८॥ (देव के पूर्वभव की माता) अन्त में पद्मनाथ देव की कमला नाम की, अप्सरा होकर (पुत्री से) मिल गयी ॥९॥

घत्ता—पद्मनाथ देव स्वर्ग से चयकर यहाँ तुम रत्नशेखर हुए हो । यह मित्र घनवाहन पूर्वभव का पिता और गेहिनी मदनमजूषा माता है ॥६-१२॥

[६-१३]

[रत्नशेखर की दिग्विजय, चक्रवर्ती-पद-प्राप्ति एवं वैभव तथा वैराग्य-वर्णन]

भवान्तरों के पठन से (ज्ञात होता है कि) स्नेह दूटता नहीं, चिर-काल के स्नेह से स्नेह और अधिक बढ़ता है ॥१॥ मुनि से इस (व्रत) का माहात्म्य सुनकर उस भव्य को धर्म और मोक्ष-लाभ हुआ ॥२॥ (इसके पश्चात्) मुनि को नमस्कार करके रत्नशेखर अपने राजभवन में आया । इसी बीच पिता ने इसे राज्य देकर तथा वन में जाकर स्वेच्छानुसार मुनि-व्रत धारण किये । मणिशेखर निस्सार पृथिवी का पालन करता है ॥३-४॥ छह खंड पृथिवी-मंडल में प्रसिद्ध चक्ररत्न-आयुध उसे घर में प्राप्त हुआ ॥५॥ नौ-निधियाँ और चौदह रत्न उत्पन्न होते हैं, विद्याधर और भूमिगोचरी राजा जाकर सेवा करते हैं ॥६॥ घनवाहन सेनापति के रूप में सुशोभित होता है उससे सभी दानु-समूह भाग जाता है ॥७॥ उसकी छियाणवे हजार रानियाँ, दस कोटि पदाति और इतनी ही अश्वसेना थी ॥८॥ उस समय उसके चौरासी लाख रथ और इतनी ही गज-सेना थी । इस सेना के लड़ने से युद्ध में उसकी विजय हुई ॥९॥

घत्ता—इसने चिरकाल पृथिवी तल पर (भोगों को) भोग करके और इन्द्रियों के विषयों में मग्न रहकर बहुत समय पूर्व लिये कुसुमांजलि व्रत का उद्यापन किया । इसके पश्चात् निमित्त पाकर चित्त से विरक्त हँते हुए इसने राज्य कंचनपुर के राजा को दे दिया ॥६-१३॥

[६-१४]

[कुसुमांजलि-व्रत-माहात्म्य]

राजा मणिशेखर ने घनवाहन के साथ राग-द्वेष की दूर से उपेक्षा करके दीक्षा ली ॥१॥ मदनमजूषा उदासीनता पूर्वक तप में स्थित होकर

केवलणाणु लहि वि मणिसेहरु । कुसुमंजरि-वउ पयडि वि सुहयरु ॥३॥
 पुणु कम्महं विणासि सिवि पत्तउ । घणवाहणु तत्थ वि संपत्तउ ॥४॥
 मयणमजूसस तव-अणुसारें । सग्गि गया दुक्किय-दुहहारें ॥५॥
 अणु को वि जो पुणु णरु सारउ । कुसुमंजलि-विहाणु भव-हारिउ ॥६॥
 करिही सो विह वेसइं एरिसु । णिय सत्तेण गोविज्जइ कय जसु ॥७॥
 वयहु उवरि भावण विरइज्जइ । जे संसार-महादुहु-खिज्जइ ॥८॥

घत्ता

गय-विवेय दिय सुय वि जांह,
 वय-हलेण-लोगिग हुया ।
 जो पुणु सद्धिट्ठिउ आयरइं,
 किं ण लहइ सो विगय-भया ॥६-१४॥

इय महाराय सिरि अमरसेणचरिए । चउवग्ग सुकह-कहामयरसेण
 संभरिए । सिरि पंडियमणि माणिककविरइए । साधु महणा-सुय चउधरी
 देवराज णामंकिए । सिरि अमरसेण-वइरसेण पुपफंजलि सुकह-पयास
 वणणं णाम इमंच्छट्ठं-परिच्छेयं सम्मत्तं ॥ संधि ॥ ६ ॥

जो वंदो देववंदो, हयकुसुमसरो, मोहदोसादि मुक्को,
 जो सारो विस्सयारो हय वि मरणं कोह-लोहादि चुक्को ।
 सो णेमी सो णिव-सुय तियणं देवराजस्स सुक्खं,
 जंच्छउ मुत्ती वि पत्तं णिय तणु-किहणं सव्व सुक्खं विमुक्खं ॥

॥ आशीर्वादिः ॥



आत्मस्वरूप ध्याती हुई धन्य हुई ॥२॥ मणिशेखर ने सुखकर कुसुमांजलि व्रत प्रकट करके केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कर्मों का नाश करके शिव प्राप्त किया। घनवाहन भी वहीं—उसी स्थान को (मोक्ष) प्राप्त हुआ ॥३-४॥ मदनमजूषा दुःखहारी-दुष्कृत तप के अनुसार स्वर्ग में गयी ॥५॥ अन्य कोई भी जो भ्रुष्य संसार-भ्रमण को मिटानेवाले कुसुमांजलि व्रत को विधिपूर्वक किये हुए यश का गोपन करते हुए शक्ति के अनुसार करता है वह ऐसा ही होता है अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष पाता है ॥६-७॥ व्रताचरण के साथ सांसारिक महान् दुःखों का क्षय करनेवाली भावनाएँ भी भावें ॥८॥

घत्ता—व्रत के फल से विवेक रहित के भी पुत्र हुआ, रत्नशेखर आदि लोक के अग्रभाग में गये। फिर जो निर्भय होकर सम्यग्दर्शन पूर्वक आचरता है वह क्या नहीं पाता है। अर्थात् वह सब कुछ पाता है ॥६-१४॥

हिन्दी अनुवाद

पण्डित-मणि माणिक्य —कवि द्वारा साधु महणा के पुत्र चौधरी के लिए रचे गये—चारों वर्ग की कहने में सरल कथाओं रूपी अमृत-रस से परिपूर्ण इस अमरसेन चरित में श्री अमरसेन-वइरसेन द्वारा पुष्पाञ्जलि-सुकथा प्रकाशित करनेवाला यह छठा परिच्छेद पूर्ण हुआ ॥ संधि ॥६॥

आशीर्वाद

जो देव-वृन्द से वन्दित है, काम-वाण का नाशक है, मोह और दोष आदि से मुक्त तथा क्रोध और लोभ आदि से रहित है, जिस मरण के बाद जन्म लेना पड़ता है ऐसे मरण से रहित है, इन्द्रिय-विषयों को मारने में पराक्रमी है, सर्व सुखों से विमुख, श्याम वर्ण की देहवाले, जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की वे राजा नेमिनाथ-तीर्थकर मानो जो श्रेष्ठ यति हैं उस देवराज को सुख देवें ॥ आशीर्वाद ॥

सप्तम परिच्छेद

सन्धि-७

ध्रुवक

पुणु-जिण-पयण-फलु, सेणिय गय-मलु,

जिहं भूसणु वणिवइ सुएण ।

लद्धउ तं भासमि, समउ पयासमि,

एयमं वज्जियर एण ॥ १ ॥

रामायणे एह पसिद्ध अत्थि । अक्खमि पसंग-वसु दोस णत्थि ॥१॥
रावणहं हणेप्पिणु सोय लेवि । लंका वि विहीसण णिवहु देवि ॥२॥
जइया उज्झाउरि रामु आउ । तइया भरहुहु जायउ विराउ ॥३॥
राहुहु भण्णइ महु मेलि णाह । हउं एत्तिउ ठिउ तव-तणइ-गाह ॥४॥
हउं पुणु दिक्ख लेमि जिण-केरो । खमि-खमि सामि भवहु विवरेरो ॥५॥
आसिकालि मइ विहिउ अनुग्गहु । सवणहं अग्गं कारेविणु गहु ॥६॥
जं जणणं मोहं पडिक्खणउं । तउ वणवासु रज्जु महु दिण्णउ ॥७॥
तं इह अविणउं मरिण ण भुल्लइ । अह्वा तिव्व भवेणउ सल्लइ ॥८॥
ता रामं पउत्तु अज्जु जि तुहुं । उज्झाउरि-पहु तिरि-भुंजहि सुहुं ॥९॥
एयच्छत्त परिपालि-वसुंधर । किकर सयल राय-भू-खेयर ॥१०॥
इय वयणहि ठिउ मणेण विरत्तउ । ता रामं जुवइउ आणत्तउ ॥११॥
जा णइं-पमुह पजाय वि सरवरि । भरहु सराउ करि वि आवहु घरि ॥१२॥
पडिक्खणउ तं ताहि सुहायरु । सहुं भरहें णरिउ गय सरवरु ॥१३॥
जल-कोलहि ठिउ अयलु अभंगउ । दोदह-अणुवेहा चितंतउ ॥१४॥
हावभाव विवभमणउ चलयउ । कह कणपालुअ सिहिणंउ चलयउ ॥१५॥

घत्ता

तिय-वयणु ण पेच्छइ, जा सरि अच्छइ,

ताम तिजयभूसणु जि करि ।

आलाणु-उम्मूलि वि, घर-सय-चूरि वि,

सो दलंतु महि आउ सरि ॥ ७-१ ॥

[७-१]

[भरत-वैराग्य एवं त्रिलोकमण्डन-गज-उत्पात-वर्णन]

ध्रुवक

हे श्रेणिक ! इसे छोड़ते हुए इसके आगे समग्र पाकर कहूँगा (अभी) विगत दूषेण वेश्य भूषण के द्वारा जैसा जिनेन्द्र पूजा का फल प्राप्त किया गया सुना है उसे कहता हूँ ॥१॥

रामायण में जिनेन्द्र-पूजा का फल इस प्रकार प्रसिद्ध है, प्रसंग-वश कहने में दोष न होने से कहता हूँ ॥१॥ राजा रावण का वध करके और लंका विभीषण को देकर तथा सीता को लेकर जब राम अयोध्या आये तभी भरत को वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥२-३॥ वह (भरत) राघव (राम) से कहता है—नाथ ! मुझसे मिलें, तप से तृणवत् कृषकाय मैं यहाँ स्थित हूँ ॥४॥ आप स्वामी हों (अयोध्या के राजा बनें), मुझ बेचारे को क्षमा करें, क्षमा करें (ताकि) मैं इसके पश्चात् जिन-दीक्षा लेता हूँ ॥५॥ मुझ पर अनुग्रह/कृपा करो, पकड़कर सबके आगे करके आशीर्वाद दें ॥६॥ मोह में पड़कर पिता के द्वारा जो आपको वनवास और मुझे राज्य दिया गया है, इस अविनय को मरने पर भी नहीं भूलता हूँ, वह भव-भव में तीव्रता से सालता है / कष्ट देता है ॥७-८॥ राम ने उत्तर दिया—आज से तुम अयोध्या नगरी में सुखपूर्वक राज्य-लक्ष्मी भोगो ॥९॥ एकलव्य पृथिवी का पालन करो, पृथिवी के सभी राजा और विद्याधर दास हैं ॥१०॥ ऐसा कहे जाने पर भी भरत मन से विरहित में ही स्थिर रहे । तब राम ने युवा रानियों को आज्ञा दी ॥११॥ प्रमुख नदी और सरोवर में जाकर भरत को सरागी बनाकर घर आओ ॥१३॥ उनकी सुख देनेवाली नारियाँ आकर भरत के साथ सरोवर गयीं ॥१३॥ (भरत) जलक्रीड़ा में अचल और अभंग रहकर बारह भावनाओं को भाते हुए स्थिर रहे ॥१४॥ (वे रानियों के) हाव-भाव और भ्रू-भंगिमाओं से विचलित नहीं हुए । (कवि का कथन है कि) क्या सुमेरुवर्त सिंहों से चलायमान हुआ है ? ॥१५॥

घत्ता—(भरत) सरोवर में जाकर बैठ जाते हैं, स्त्रियों के मुखों को निहारते भी नहीं । उसी समय त्रिलोकमण्डन हाथी अपने बन्धन का खूँटी को ऊखाड़ कर सैकड़ों घरों को चूर-चूर करके पृथिवी रौंदाता हुआ सरोवर पर आया ॥७-१॥

[७-२]

भरहहु अवलोयवि सो करीसु । हूवउ खणेण साजाइ जिईसु ॥ १॥
 तहु उवसंतहो भिडिउ स सोयउ । भरहु सरि सरुव सविणीयउ ॥२॥
 जा उज्जाउरि मज्झि सुपइट्टउ । हरि-हलिणा अणुराएँ दिट्टउ ॥३॥
 करि-आलाण खंभि वंधेप्पिणु । ठिय जा साहरि समोउवहेप्पिणु ॥४॥
 ता मिट्टेण सिरि रामहु वुत्तउ । गामु-तोउ णिव करिणा चत्तउ ॥५॥
 वासर-तिण्णि-जाय-उववासँ । इय भासंतहु दुक्ख-पयासँ ॥६॥
 ता अण्णे कँ रामहु भासिउ । जेण चित्ति आणंडु-पयासिउ ॥७॥
 देसविहसणु णामें केवलि । तउ पुण्णेण आउ णिरसिय-कलि ॥८॥
 रामु सलक्खणु-भरहु सभक्तिए । झत्ति गया ते वंदणहत्तिए ॥९॥
 वंदिवि केवलि-धम्म सुणेप्पिणु । पुणु पुच्छिउ अवसरु पावेप्पिणु ॥१०॥
 करिणा-कवलु पाणु किं कारणु । चत्तउ सामिय सुक्ख-णिवारणु ॥११॥

घत्ता

ता परम-जईसरु, [राय-दोस-विणु]

आसिएत्थु रिसहि सहु ।

आणा-पालणयर, विण्णि वि किंकर,

दिविखय ते तहिं तेण सहु ॥७-२॥

[७-३]

सुज्जोदय-चंदोदय मूर्द्धहि । पुणु तउच्छंडिउ रायारुद्धहि ॥१॥
 अट्टझाणि अवसाणि मरेप्पिणु । तियस जोणि वहु भेय भमेप्पिणु ॥२॥
 कुलजंगल-गयवरह पहाणउं । हरपति णामें जायउ ताणउ ॥३॥
 भज्ज-मणोहरीहि गवभहि हुउ । चंदोदउ भमे वि सुहु गुण जुउ ॥४॥
 जय-पसिद्धु णामेण कुलंकरु । सिरिदामा भज्जहि हियइ-हरु ॥५॥
 विस्सतासु तहो रायहु मंतो । तिय सिहिकंडो णिम्मल-कंतो ॥६॥

[७-२]

[राम-लक्ष्मण और भरत की केवली देशभूषण की वन्दना तथा त्रिलोक-मण्डन हाथी के आहार-त्याग का प्रश्न-वर्णन]

वह हाथी भरत को देखकर क्षण भर में उत्पन्न हुए जातिस्मरण से [शान्त] हो गया ॥१॥ उसके (हाथी के) शान्त होने पर वे भरत आत्म-स्वरूप का स्मरण करके विनय पूर्वक सीता से भिड़ गये / तत्त्व-चर्चा करने लगे ॥२॥ उन्होंने जाकर अयोध्यापुरी में प्रवेश किया । उन्हें अनुराग पूर्वक नारायण-लक्ष्मण और बलभद्र-राम दिखाई दिये ॥३॥ हाथी की जंजीर खम्भे से बाँधकर नारायण के बराबर स्थान पर जाकर बैठ गये ॥४॥ उसके द्वारा मिष्ठ वाणी से श्री राम से कहा गया—राजा के हाथी (त्रिलोकमण्डन) के द्वारा आहार-जल छोड़ दिया गया है ॥५॥ उपवास करते हुए उसे तीन दिन हो गये हैं—ऐसा कहते हुए उन्होंने दुःख प्रकट किया ॥६॥ उसी समय किन्हीं अन्य लोगों के द्वारा राम से कहा गया—जिससे उनके चित्त में आनन्द प्रकट हुआ, (कि) आपके पुण्य से देशभूषण नाम के निष्कलंक केवली आये हैं ॥७-८॥ राम, भक्ति पूर्वक लक्ष्मण और भरत के साथ शीघ्र वन्दना के लिए वहाँ गये ॥९॥ केवली को नमस्कार करके धर्म-श्रवण किया । इसके पश्चात् अवसर पाकर उन्होंने (राम ने) पूछा ॥१०॥ स्वामी ! हाथी के द्वारा सुख-निवारक आहार-जल त्याग किये जाने का क्या कारण है ? ॥११॥

धत्ता—राग-द्वेष रहित उन परम प्रतीश्वर ऋषि ने सभी को आशीर्वाद दिया । ऋषि के वहाँ उन्हें दो आज्ञाकारी सेवक दिखाई दिये ॥७-२॥

[७-३]

[सूर्योदय (त्रिलोकमण्डन हाथी) और चन्द्रोदय (भरत) का भवान्तर-वर्णन]

(वे दोनों सेवक) मूर्ख सूर्योदय और चन्द्रोदय तप त्याग करके राज्यारूढ़ होते हैं / राज्य करते हैं ॥१॥ सूर्यास्त के समय आर्तध्यान से मरकर स्त्री योनि की अनेक पर्यायों में भ्रमण करने के पश्चात् दोनों में (छोटा भाई) चन्द्रोदय कुरुजांगल (देश) के गजपुर (हस्तिनापुर) नगर के हरपति नामक (राजा) की हृदयहारिणी मनोहर श्री दामा नामा रानी के गर्भ से गुणों से युक्त जगत्-प्रसिद्ध कुलंकर नाम से उत्पन्न हुआ ॥२-५॥ विश्वतास उस राजा का मंत्री और निर्मल-क्रान्ति-धारिणी

सुज्जोदउ जो होंतु गरिट्ठउ । सो तहु णंदणु जाउ मणिट्ठउ ॥७॥
 मूढ सुई णामें सो [सुय] वुत्तउ । राणउ रिसि हुउ चित्ति विरत्तउ ॥८॥
 रज्जु कुलंकरु करइ सइत्तउ । मूढ सुईस समं संजुत्तउ ॥९॥
 एव दिवस सिरिदामा पिट्ठी । दोहिमि जारासत्ती-दिट्ठी ॥१०॥
 ते उवसमेवि परिट्ठिय जामहि । तो णिस्सारिय ताइं जि तामहि ॥११॥
 तिरिय-गइहि ते बहु भव हंडिवि । दुह णियणें अप्पाणउ दंडि वि ॥१२॥
 पुणु राय-गिहहि दिववर णंदण । संजाया तस तत्थ परिवखण ॥१३॥
 जेदुहं णामु विणोद पयासिउ । लहुयहं रमणु पउत्तु जजासिउ ॥१४॥

घत्ता

लहु गउ वि विएसहे, भूरि किलेसहिं,
 तत्थ पढि वि पुणु आयउ ।
 वाहिर मढि थक्कउ, णिसिंहिं गुरुक्कउ,
 ता विणोवहो भज्ज तहिं ॥ ७-३ ॥

[७-४]

आइय जारासत्ती अणिट्ठ । पर-पुरिस-रमण-लंपडिय दुट्ठ ॥१॥
 णाहु वि पत्तउणहि पिट्ठी लग्गु । धारि वि रिसकरि उक्खाय खग्गु ॥२॥
 सा पहिय पासि ठिय मुणि वि जारु । ता णिहणिउं केण ण किउ विचारु ॥३॥
 मारि वि भासइ अविवेय एण । सइरणि मंदिर णिय पाविण ॥४॥
 सा पुणु मारिउ तइ विह खलाइं । परिभमिय तिरियगइ-संकलाइं ॥५॥
 पुणु मियं-जाया विण्णि वि वणम्मि । भिल्लि मारिय हरिणि खणम्मि ॥६॥
 तिं मिय वंधि वि घरि णीय तेण । पालिय-लालिय तिहं भिल्लएण ॥७॥
 संभूइ-णिवइ एक्काहं दिणेण । भिल्लिउ-परिगिण्हिय कीलणेण ॥८॥
 वंधिय देवच्चण-भवण-पासि । ता रमणे किय तहं सह पयासि ॥९॥
 जिअ-पया-रइ भावेण जुत्तु । मरिउण सग्ग भवणम्मि पत्तु ॥१०॥

अग्निकुण्डा उसकी स्त्री (थी) ॥६॥ सूर्योदय जो बड़ा भाई होता है, वह इन दोनों का मनोज्ञ पुत्र हुआ । वह मूर्ख श्रुति नाम से पुकारा गया । राजा चित्त से विरक्त होकर ऋषि हो गया ॥७-८॥ कुलंकर उस मूर्ख श्रुति के साथ संयुक्त रूप से राज्य करता है ॥९॥ एक दिन पीछे द्रोहिणी श्रीदामा (रानी) व्यभिचारियों में आसक्त देखी गयी ॥१०॥ जब तक दोनों को बैठकर (श्रीदामा) उपशान्त करती है उसी समय वह व्यभिचारी को वहाँ से निकाल देती है ॥११॥ वे दोनों—कुलंकर और श्रुति बहुत पर्यायों में भ्रमण करके तिर्यंचगति के दण्ड-स्वरूप निश्चित दुःखों को पाने के पश्चात् उसको परीक्षा के लिए राजगृही नगरी के एक ब्राह्मण के (पुत्र) हुए ॥१२-१३॥ बड़े (भाई) का नाम विनोद और छोटे (भाई) का नाम (माता-पिता ने) आशीर्वाद देते हुए रमन कहा ॥१४॥

घत्ता—छोटा भाई रमन विदेश गया । बहुत कष्ट से पढ़कर आया । वह नगर के बाहर मठ में रुक गया । रात्रि में बड़े भाई विनोद की पत्नी वहाँ आयी ॥७-३॥

[७-४]

[त्रिलोकमण्डन हाथी और भरत के भवान्तरों में विनोद और रमन तथा धनदत्त और भूषण पर्यायों का वर्णन]

पर-पुरुषों से रमण करने वह लम्पटी, दुष्टा, अनिष्ट व्यभिचारियों में आसक्त वहाँ आई ॥१॥ उसका स्वामी/पति भी क्रोध में तलवार निकाल करके उसके पीछे लगकर वहाँ आया ॥२॥ उस व्यभिचारिणी ने पास में स्थित मुनि के पास यार को भेजकर कोई सोच विचार नहीं किया, उस पापिनी, स्वेच्छाचारिणी के द्वारा मन्दिर में फेंक कर मारी गई अपनी तलवार से वह विनोद मारा गया ॥३-४॥ इसके पश्चात् उसी विधि से उस दुष्टा ने रमन को भी मार डाला । संक्लेपित परिणामों से मरकर (विनोद और रमन) तिर्यंचगति में परिभ्रमण करने के पश्चात् वन में (रमन) हरिण और (विनोद) हरिणी हुए । इनमें हरिणी को क्षण भर में भील ने मार डाला ॥५-६॥ वह हरिण उस भील के द्वारा बाँध करके घर ले जाया गया और उसका लालन-पालन किया गया ॥७॥ एक दिन संभूति राजा ने भील से इसे खूँटी सहित लेकर और देवपूजा भवन के पास बाँधकर उस रमण को प्रकाश / बोध युक्त किया ॥८-९॥ जिनेन्द्र-पूजा की रुचि तथा भाव-पूर्वक मरकर वह स्वर्ग-भवन को प्राप्त/उत्पन्न

इयरु वि तिरिक्ख जोणिहि वराउ । भमिऊण धणउ वणिवरुवजाउ ॥११॥
सो सुरु चवेइ हुउ तामु पुत्तु । भूसणु णामेण पसिद्ध वित्तु ॥१२॥

घत्ता

देवागमि पेक्खि वि, चिर भउ लक्खि वि,
सो गेहह चल्लियउ लहु ।
अमुणंते परियणि, जा गच्छइ वणि,
चरणि-लग्गुणासप्प तहुं ॥ ७-४ ॥

[७-५]

विसय-विरत्तु भूसणु विवण्णु । माहेंद-सुरालइं सुरु उवण्णु ॥१॥
जणणु वि तिरिक्ख-आवत्त-रुद्धि । वुड्डिउ सुदुक्ख आवत्त-रुद्धि ॥२॥
सुरवइ वि अंगदत्ति हुउ राउ । पुणु भोयभूमि जाणेण जाउ । ३॥
पुणु सग्गि पुणु वि चक्कवइ-पत्तु । अहिरामु णामु गुण-गणहं जुत्तु ॥४॥
रायहं सुय-परिणिय सहस-चारि । तहं पुणु विरत्तु मणि-रुव धारि ॥५॥
अहणिसु चितइ सुद्धंतरंगु । घरि द्विउ वि अप्पुल्लावइ अणंगु ॥६॥
पालिवि सावय-वउ सुद्ध-भउ । वंभोत्तरि तियसु पत्तु जाउ ॥७॥
धणयत्तु वि वहु-भव भमि वि आउ । दिववर-णंदणु हुउ समरभाउ ॥८॥
पोयणपुरि हि मिठमइ वि मुक्कु । ताएं णीसारिउ सोसदक्खु ॥९॥
वहु सत्थरेहिं पढिऊण पत्तु । णिय जणणा लइ सो कंठ सुत्तु ॥१०॥
पाणिउ-पाइ वि जणणीइ रुणु । तेण वि सरु णिय[मुणि]साय भयणु ॥११॥
किं रुवइ ताइं भासियउ मज्झु । णंदणु होंतउ णिरु सरिसु तुज्झु ॥१२॥
सो णीसरि[गउ]वि विएस आसि । तें रुणमि हउं पंथुय-णिसासि ॥१३॥

घत्ता

ता तेण पउत्तउ, णविवि णिरुत्तउ,
तउ सुउ मइणाउ हउ ।
ता जणणी-जणणहो, तहं पुणु सयणहो,
तुहुं अवलोयण-सुक्ख-भउ ॥ ७-५ ॥

हुआ ॥१०॥ दूसरा बेचारा (विनोद भी) तिर्यच योनि में भ्रमण करके धनिक वैश्य के रूप में उत्पन्न हुआ ॥१२॥ वह देव (रमन का जीव) स्वर्ग से चय कर विनोद के जीव धनिक वैश्य का भूषण नाम का धनवान पुत्र हुआ ॥१२॥

घत्ता—देव योनि में पूर्व भवों को देखकर वह भूषण-कुटुम्बियों के जाने बिना घर से शीघ्र चला गया । वन में जाते हुए उसके पैर में सर्प लग गया / सर्प ने डस लिया ॥७-४॥

[७-५]

[भूषण और उसके पिता धनदत्त की अभिराम और मृदुमति नाम से उत्पत्ति-वर्णन]

विषयों से विरक्त और उदासीन भूषण माहेन्द्र स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुआ ॥१॥ पिता-धनदत्त ने रौद्र तिर्यचगति रूपी भँवर में डूबकर महा दुखकारी परिभ्रमण किया ॥२॥ भूषण का जीव-देव अंगदत्ति (नामक) राजा हुआ पश्चात् ज्ञान से भोगभूमि में उत्पन्न हुआ ॥३॥ इसके बाद स्वर्ग में और तत् पश्चात् चक्रवर्ती का गुणों से युक्त अभिराम नाम के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ ॥४॥ वहाँ चार हजार राजाओं की पुत्रियों को विवाहने के (पश्चात्) मन में विरक्त के भाव धारण करके (वह) दिन-रात अन्तरंग की विशुद्धि के संबंध में विचारता है (और) घर में रहकर निष्काम होकर आत्म-ध्यान करता है ॥५-६॥ श्रावक के व्रत पाल करके पवित्र होकर वह ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ॥७॥ धनदत्त (भूषण के पूर्वभव का पिता) भी बहुत योनियों में भव-भ्रमण करने के पश्चात् आकर झगड़ालू-विचारों का पोदनपुरी में मृदुमति (नाम का) ब्राह्मण पुत्र हुआ । वह पिता के द्वारा दुःख पूर्वक निकाल दिया गया ॥८-९॥ वह अनेक शास्त्रों को पढ़कर (घर) आया । पिता ने अपने (इस) पुत्र को कण्ठ से लगाया ॥१०॥ रोते हुए माता ने पानी पिलाया । उसके द्वारा (मृदुमति के द्वारा) भी स्मरण किया जाकर और मन में जानकर अनुभव किया जाकर कहा गया ॥११॥ क्यों रोती हो ? उत्तर में उसके द्वारा मृदुमति से कहा गया—निश्चय से तेरे समान मेरा पुत्र था ॥१२॥ निकाल दिये जाने से वह विदेश (भाग) गया है, इसी से मैं रोती हूँ । पथिक (मृदुमति) गहरी साँस लेता है ॥१३॥

घत्ता—तब उस मृदुमति के द्वारा उसे कहा गया—उदास न हो । तुम्हारा पुत्र (ही) यह मैं आया हूँ । तब उसके माता-पिता और स्व-जन उसे देखकर सुखी हुए ॥७-५॥

[७-६]

गिह-भारु-पदिण्णउ सयलु तासु । सो वेसहिं रत्तउ तहं ह्यासु ॥१॥
 धणु-सयलु विणासि वि घरह पाउ । चोरत्तणि पुणु वड्ढइसु ताउ ॥२॥
 चंदउरि-णयरि णिव-गिहि पयट्ठु । धण-धण्ण-णिमित्तं पाउ दुट्ठु ॥३॥
 ता महिसो सहु पभणेइ सउ । आयण्णइं चोरु-पवद्ध राउ ॥४॥
 पीए सुप्पहाइं तवयरणु लेमि । रइ-सुक्खु-परिग्गहु-परिहरेमि ॥५॥
 भज्जाइ भणित्तं भो दीहवाह । हउ तउ पुणु गिण्हमि सत्थ णाह ॥६॥
 ते सुणि तक्कर किउ णियमु तत्थ । महवय-धारमि हउ णिवह सत्थ ॥७॥
 ताह जि संगें सुपहाइ दिक्ख । गिण्हय चोरे पालइ सु सिक्ख ॥८॥
 पुणु अवह कंहंतरु पक्कु-जाउ । आलीय-णयरि मुणि एक्कु आउ ॥९॥
 गिरि-सिहरि परिट्ठउ धरि वि जोउ । तहु पडिदिणु पेच्छइ णयर-लोउ ॥१०॥
 कइया पुणु पुज्जइ अस्स जोउ । तहु महु धरि भुंजइ जइ समोउ ॥११॥
 परिपुण्ण जोइ सो चारणक्खु । गयणयरि गयउ खय अक्कु-पक्खु ॥१२॥
 तहिं अवसरि मिऊंमइ तत्थ आउ । चरियत्थ पयट्ठउ पुरिअराउ ॥१३॥
 जणु सयलु पमण्णइं भोजि एहु । जो जोएं ठिउ गिरि लंब-देहु ॥१४॥
 लोएं पुज्जि वि तहु दिण्णु दाणु । पुणु-पुणु संतोसो तहं अयाणु ॥१५॥
 मोणेण थवकु सुह मणिऊण । वद्धउ तिरिक्खगइ कम्म तेण ॥१६॥

घत्ता

गउ वम्ह-सग्गि मुणि, किय माया जिणि,

विण्णि वि वंधव मिल्लिय तहिं ।

अहिरामु-तियस चुऊ, एत्थु-भरहु हुऊ,

रहव जसु पइदिण्ण महि ॥ ७-६ ॥

[७-६]

[मृदुमति के तिर्यचगति का बन्ध तथा अभिराम की भरत रूप में उत्पत्ति वर्णन]

माता-पिता ने सम्पूर्ण गार्हस्थ्यक सम्पदा उसे सौंप दी और वह (मृदुमति) भी हताश होकर वेश्या में मग्न हो गया ॥१॥ घर का प्राप्त सम्पूर्ण धन नाश करके उसकी चौर्य-प्रवृत्ति में वृद्धि हुई ॥२॥ धन-धान्य के निर्मित उस दुष्ट, पापी ने चन्द्रपुरी-नगरी के राजमहल में प्रवेश किया ॥३॥ वहाँ वह चोर पटरानी के साथ प्रवद्ध राजा को (यह) कहते सुनता है ॥४॥ प्रिये ! रति-मुख और परिग्रह त्याग करके मैं सुप्रभात में ही तपश्चरण लिये लेता हूँ ॥५॥ रानी ने कहा—हे दीर्घबाहु ! तब तो स्वामी के साथ ही मैं (भी) तप ग्रहण कर लेती हूँ ॥६॥ उनसे (राजा और रानी से ऐसा) सुनकर चोर ने वहाँ राजा के साथ महात्रत धारण करने का नियम किया ॥७॥ चोर ने उनके साथ सुप्रभात वेला में दीक्षा लेकर शिक्षात्रतों का पालन किया ॥८॥ इसके पश्चात् कहीं से आकाश-गामी वयोवृद्ध एक मुनि आये ॥९॥ (वे) योग धारण करके पर्वत के शिखर पर स्थित हो गये । नगर के लोग प्रतिदिन उनके दर्शन करते हैं ॥१०॥ कोई इनके योग की पूजा करते और उनसे (कहते)—हे यति ! मेरे घर उतरकर भाजन करें / आहार लें ॥११॥ आकाशगामी वे चारण मुनि योग पूर्ण करके आँख की पलक झपकते ही चले गये ॥१२॥ उसी समय मृदुमति ने वहाँ आकर चर्या (आहार) के लिए राजा की नगरी में प्रवेश किया ॥१३॥ सभी लोगों ने—जो ऊँची देहवाले योग से पर्वत पर स्थित थे उन्हें जानकर इन्हें (मृदुमति को) आहार दिया ॥१४॥ अज्ञानता वश लोगों के द्वारा वह पूजा गया और उसे दान देकर बार-बार संतुष्ट किया गया ॥१५॥ सुख मानकर मौन पूर्वक स्थित हुए कर्म से उसके द्वारा तिर्यचगति का बन्ध किया गया ॥१६॥

घत्ता—जिसके द्वारा माया की गयी है वह मुनि ब्रह्म (ब्रह्मोत्तर) स्वर्ग गया । वहाँ दोनों भाई (सूर्योदय और चन्द्रोदय) मिल गये । अभिराम-स्वर्ग से च्युत होकर यहाँ भरत हुआ है । पृथिवी पर (उनका) अर्हनिश यश रहे ॥७-६॥

[७-७]

मिउमइ सग्गाउ चए वि जाउ । करि वह जइ-भूषण सुवभ-काउ ॥१॥
 जाईसरेण तें चत्त गासु । भरहहं दंसणि हुउ लाहु तासु ॥२॥
 तं णिसुणि वि भरहें णविवि साहु । होइ वि णिसल्लु दीक्खिउ अवाहु ॥३॥
 वहु रायहिं पुणु परिहरिउ मम्मु । किवकइयइं पुणु किउ तउ अहम्मु ॥४॥
 राहवेण गिहाइ वि करिहु विण्ण । अणुवय गिण्हिय तेण जि अच्छिण्ण ॥५॥
 सिदूर-सीसि घल्ले वि मुक्कु । पुर-मज्झि भमेइ कसाय-चुक्कु ॥६॥
 जहिं-जहिं गच्छइ तहिं-तहिं जि लोउ । लड्ढू-पूया तहो देहि भोउ ॥७॥
 विण्णाय कुसुह्यालउ-पसिद्धु । तइ यहु हुंतउ जायउ पसिद्धु ॥८॥
 भरहु वि तवयरणे लहि वि णाणु । हुउ सिद्ध णिरंजणु अचल-ठाणु ॥९॥

घत्ता

सो भूषण पूयणेण इह,
 एरिस संपय जवउ हुउ ।
 जो अणु को वि पुणु अचल-मणु,
 सो पुणु किं णउ होइ धुउ ॥ ७-७ ॥
 मगहाहिव सुणि सरेववएण,
 गोवालु वि जिणवर-पूयणेण ।
 करकंडुपजायउ, जय विक्खायउ,
 एयग्गे थिर-मणिण ॥ छ ॥

[७-८]

इह अज्जखंडे कुंडल-विसए । पुरितरणामुपोसिय विसए ॥१॥
 तहि राउ-णीलु-णिवणीइ-राउ । वणिवइ-वसुमित्तु पणट्ट-राउ ॥२॥
 तहु गोवालो-घणदत्तु सुही । परिभमिय णिच्च-वण अच्छ वि मही ॥३॥
 ते एक दिवसि [सरि] सहसदलु । दिट्टउ जलंति वियसिय-कमलु ॥४॥

[७-७]

[भरत-वीक्षा एवं सिद्ध पद-प्राप्ति तथा त्रिलोकमण्डन का अणुव्रत धारण]

मृदुमति (मुनि) स्वर्ग से चयकर सफेद शरीरवाला जगत्-भूषण/ त्रिलोकमण्डन श्रेष्ठ हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ ॥१॥ भरत के दर्शन से हुए जातिस्मरण-लाभ से उसके द्वारा आहार-जल छोड़ा गया है ॥२॥ उन देशभूषण मुनि से ऐसा सुनकर भरत के द्वारा मुनि को नमस्कार किया गया और निःशल्य होकर निरावाध दीक्षित हुआ ॥३॥ इसके पश्चात् अनेक राजाओं के द्वारा मोह-ममता (राजमोह) त्यागी गयी । अधम केकयी ने तप किया ॥४॥ सम्पूर्ण अणुव्रत राम के द्वारा लिए गये और हाथी को भी दिये गये तथा उसके द्वारा ग्रहण किये जाने पर उसके माथे पर तिलक लगाकर छोड़ दिया गया । वह कषाय-रहित होकर नगर में घूमता है ॥५-६॥ जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ लोग उसे लड्डू, पुआ का भोग (भोजन) देते हैं ॥७॥ प्रसिद्ध कुसुमांजलि व्रत को ज्ञात करके उसका पालन करनेवालों में जो प्रसिद्ध हुए उनमें (यह) प्रसिद्ध हुआ ॥८॥ भरत भी तपश्चरण से केवलज्ञान प्राप्त करके अचल-स्थान (मोक्ष) में निरंजन-सिद्ध हुआ ॥९॥

घन्ता—वह भूषण इस कुसुमांजलि-पूजा से जब ऐसा सम्पदावान् हुआ, तब जो दूसरा कोई भी स्थिर मन से (यह पूजा करेगा) फिर उसके निश्चय क्या नहीं होता है ॥७-७॥

यह सुनकर मगध-नरेश (श्रेणिक) को याद आया कि गोपाल (ग्वाला-अहीर) एकाग्र और स्थिर मन से जिनेन्द्र की इसी पूजा के करने से करकंडु नाम से उत्पन्न हुआ और संसार में विख्यात हुआ ॥छ॥

[७-८]

[जिनेन्द्र-पूजा के फलस्वरूप ग्वाल धनदत्त का करकंडु नृप होने का वृत्त-वर्णन]

इस जम्बूद्वीप के आर्यखण्ड में कुण्डल देश के पुरिमताल नामक नगर में राजनीतिज्ञ राजा नीलू के राज्य में वणिकपति वसुमित्र के द्वारा नाश को प्राप्त हुआ ॥१-२॥ उस वसुमित्र का ग्वाल धनदत्त नित्य वन में भ्रमण करके पृथिवी पर बैठ जाता है ॥३॥ एक दिन उसके द्वारा जलाशय में खिला

तहु लितहं जंपइ सिवि-वण्णइं । ता णायकण पायड भणइं ॥५॥
 सु पयच्छ णीउ सव्वइं हियहु । इहु कंजु वि अण्णहु देहि तुहुं ॥६॥
 ता तें आयणिण वि सेट्ठि वणि । देप्पिणु वित्तंतु पउत्तु खणि ॥७॥
 वणिवइण पुणु रायहो कहिउ । पहुणा पुणु मुणि चिंतिउ सुहिउ ॥८॥
 गोवाल-सत्थि संजुत्तु पहु । गउ सहसकूड-जिण-भवण लहु ॥९॥
 जिणु-अहिंसिचि वि वंदे वि मुणि । महिवइणा पुच्छिउ भव्वु-गुणि ॥१०॥
 सव्वहं उविकट्टुउ को भुवणि । जिण-गाहु णिरुविउ तेण जणि ॥११॥
 ता ठिउ गोवउ जिणणाह-पुरउ । भासइ धारेप्पिणु महि सिरु-धरिउ ॥१२॥
 भो सव्वुविकट्टु इमं कमलं । मइं दिण्णु गिहाणाह विमलं ॥१३॥

घत्ता

इय भणि वि देव-उप्परि णिहिवि,
 गउ सकज्जि गोवउ सगुणु ।
 तम्हाउ मरि वि करकंडु-पहु,
 हवउ भत्तिए महहु-जिणु ॥ ७-८ ॥

[७-९]

णरु-णारी अवरु जि पहु करेइ । जिण-चच्चहि हिय-भावण धरेइ ॥१॥
 बहु सुर-णर सुक्खइ तं लहेइ । पुणु सिवउरि-थाणें सिद्धु होइ ॥२॥
 यउ सुणि वि णराहिव देवसेणि । मुणि वंदिउ आणंदेण तेणि ॥३॥
 जिण-पूया-विहि गिण्हिय खणेण । गउ णिय धरि णरवइ उच्छवेणा ॥४॥
 तत्थाइ मुणोसरु विण्णि राय । विहडिय भव्वयणहं वोहणाय ॥५॥
 जिण-गाहइ ईरिउ लविउ धम्मु । संवोहिय भव्वइं वि गयच्छम्मु ॥६॥
 मुणि अवाहिं-जाणि वि तुच्छ आउ । अइ-खोणंग वि सु-सुख्व साउ ॥७॥
 महि विहरहि भाय वि रहिय-माय । तउ करहि णिरंतरु वम्म-घाय ॥८॥
 पुणु गिरि-सिरि थक्कइ विगय-सल्ल । मेरुव-धीर सरहरण मल्ल ॥९॥

हुआ एक सहस्रदल-कमल देखा गया ॥४॥ उस श्वेत वर्ण के फूल को लेने के लिए उसके कहने पर उसे प्रकट होकर नाग-कन्या कहती है ॥५॥ सर्व हितकारी इस कमल को ले जाकर तुम किसी दूसरे को भली प्रकार प्रदान करो ॥६॥ उससे ऐसा सुनकर उसके द्वारा वन में वह (कमल) सेठ—वसुमित्र को दिये जाने के पश्चात् क्षण भर वृत्तान्त कहा गया ॥७॥ वणिकपति-वसुमित्र के द्वारा (वह वृत्त) राजा से कहा गया । पश्चात् राजा के द्वारा सुखपूर्वक मुनि का स्मरण किया गया ॥८॥ संयोग से राजा ग्वाले के साथ शीघ्र सहस्रकूट-जिनालय गया ॥९॥ जिनेन्द्र का अभिषेक और मुनि की वन्दना के पश्चात् मुनि से गुणवान्, भव्य राजा के द्वारा पूछा गया ॥१०॥ संसार में कौन सर्वोत्कृष्ट है ? (उत्तर में) उन मुनि के द्वारा जिननाथ निरूपित किये गये/बताये गये ॥११॥ तब वह ग्वाल जिनेन्द्र भगवान् के आगे स्थित होकर पृथिवी पर सिर रखकर धारावाहिक रूप से कहता है ॥१२॥ (उसने कहा—हे स्वामी !) यह निर्मल कमल सर्वोत्कृष्ट है, मैंने दिया है, ग्रहण करो ॥१३॥

घत्ता—इस प्रकार कहकर वह गुणवान् ग्वाला देव के ऊपर (वह फूल) रखकर कार्यवश चला गया । वहाँ से मरकर जिनेन्द्र की पूजा-भक्ति से राजा करकण्डु हुआ ॥७-८॥

[७-९]

[जिन-पूजा-माहात्म्य तथा मुनि अमरसेन-वइरसेन का स्वर्गारोहण]

स्त्री-पुरुष और राजा जो कोई भी हार्दिक भावनाओं सहित जिनेन्द्र की पूजा करता है, वह देव और मनुष्य-पर्याय के सुख पाता है और इसके पश्चात् शिवपुर-स्थान में सिद्ध होता है ॥१-२॥ ऐसा सुनकर मनुष्यों के राजा उस देवसेन के द्वारा आनन्दपूर्वक मुनि की वन्दना की गयी ॥३॥ जिनेन्द्र-पूजा की विधि समझकर क्षण भर में राजा उत्साहपूर्वक अपने घर/महल गया ॥४॥ वहाँ भव्यजनों को सम्बोधनार्थ विहार करते हुए दोनों मुनिराज (अमरसेन-वइरसेन) आते हैं ॥५॥ वे भूमि-विहारी उन मुनियों ने भव्यजनों को सम्बोधित किया और जिननाथ का धर्म प्राप्त करने को प्रेरित किया ॥६॥ अति क्षीण काय वे मुनि अवधिज्ञान से (अपनी) आयु अल्प जानकर अपने आत्म-स्वरूप का स्वाद लेते हैं ॥७॥ वे दोनों भाई (मुनि) माया रहित होकर पृथिवी पर विहार करते हैं (और) काम मेटनेवाला निरन्तर तप करते हैं ॥८॥ इसके पश्चात् मेरु पर्वत के समान

वह-विह धम्मु अखंडु विद्याणि वि । चेयण-गुण अप्पउ सम्माणि वि ॥१०॥
 पाव-प्यडि कम्मइं संघारि वि । आसव-वार-गमणु वि णिवारि वि ॥११॥
 आउसति सण्णासु करेप्पिणु । पुणु पाउग्गह-मरणु मरेप्पिणु ॥१२॥
 अमरसेणि-वइरसेणि भडारा । गय पंचम-सर्गिहि मुणि सारा ॥१३॥

घत्ता

विण्णि वि तह सुरवर, अच्छर मणहर,
 सहजा भरणाहिं लंकरियइं ।
 चट्टि दिव्व-विमाणहिं, घंट खालहिं,
 अंच्चहि तइ लोयहं जिणइं ॥ ७-९ ॥

[७-१०]

पुणु णरवइ पुणु सुर-देवगई । जाएसहि सुह-कम्मेण दुई ॥१॥
 तहसुर-सुह-भंजि वि विण्णि देव । तइ यइ भइ होसहि सिद्ध-देव ॥२॥
 अण्णण ज्जिणिव पुणु तव-वलेण । सुहगइ संपाइय गय-मलेण ॥३॥
 यउ-णाणि वि भवियण-दाण देहु । अह-जिण-आयम सिद्धा करेहु ॥४॥
 मूल कहिउ इहु वीर जिणें । पुणु गोयमिण सुधम्म-मुणिं ॥५॥
 पुणु जंबू-केवलिहि पयासिउ । णंदिमित्र अवराइय भासिउ ॥६॥
 गोवद्धण भइ विराइएण । पुणु भइवाह मुणि सामिएण ॥७॥
 आयरिय परंपर जेम दुद्धु । जिणचंद वि सूरें तेम सिट्ठु ॥८॥
 तहु सुत्तु पिक्ख ललियखरेण । मणि माणिक्कि किउ सुह-गिरेण ॥९॥
 महणा-सुयहु वि उवएस एण । देवराजहु-विणय पयासएण ॥१०॥
 णंदउ महिसारउ जाम इत्थु । सुज्जु वि चंदु वि घरणीय सत्थु ॥११॥
 वुहयण यणहि वि पाडिज्जमाणु । सत्थु वि सारउ सत्थत्थ-जाणु ॥१२॥

घत्ता

तिप्पउ इह धरणी, सस्सहु धरणी,
 सुहकालि पउहरु वरिसउ ।
 कामिणि-यण णच्चउ, णव-रस-सच्चउ,
 होउ लोउ सह सर णउं ॥ ७-१० ॥

अचल-धीरजवान् तथा काम-वाण को नष्ट करने में शूर (वे दोनों मुनि) निःशल्य होकर पर्वत के शिखर पर स्थित हो जाते हैं ॥९॥ दशों धर्मों को अखण्ड रूप से जानकर और अपने चेतन-गुण का सम्मान करके/ प्रधानता दे करके तथा कर्म की पाप-प्रकृतियों का संहार करके एवं कर्मों के आस्रव-कर्मागमन-द्वार को बन्द करके आयु के रहते पाप-रूपों ग्रहों का अन्त करनेवाले संन्यासपूर्वक मरकर मुनिश्रेष्ठ वीर अमरसेन-वइरसेन पाँचवें (ब्रह्म) स्वर्ग गये ॥१०-१३॥

घत्ता—वहाँ (स्वर्ग में) दोनों देवों का मनोज्ञ अप्सराएँ स्वाभाविक आभूषणों से शृंगार करती हैं। वे घंटियों की ध्वनिवाले दिव्यविमान पर चढ़कर तीनों लोक की जिन-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं ॥७-९॥

[७-१०]

[अमरसेन-वइरसेन को सिद्ध-पद-प्राप्ति, कवि की आचार्य-परम्परा तथा ग्रन्थ रचना करानेवाले श्रावक का उल्लेख]

दोनों राजा (मनुष्य गति से) शुभ कर्मों से देव-गति में जावेंगे। देवों के सुखों को भोगने के पश्चात् दोनों भाई वहाँ से (नर पर्याय में होकर/आकर) सिद्ध होंगे ॥१-२॥ पश्चात् तप बल से दोष रहित होकर अर्हन्त के समान अद्वितीय शुभगति पाते हैं ॥३॥ ऐसा जानकर भव्यजनों को दान दो, अर्हन्त-जिनेन्द्र और आगम में श्रद्धा करो ॥४॥ यह मूल रूप से जिनेन्द्र महावीर के द्वारा कहा गया और गौतम के द्वारा मुनि सुधर्माचार्य से कहा गया ॥५॥ इसके पश्चात् (सुधर्म मुनि के द्वारा) केवली जम्बू-स्वामी को प्रकाशित किया गया। उन्होंने नन्दिमित्र से और नन्दिमित्र ने अपराजित मुनि से कहा ॥६॥ अपराजित ने गोवर्द्धन मुनि से और गोवर्द्धन मुनि ने भद्र से तथा भद्र ने भद्रबाहु मुनि से कहा ॥७॥ आचार्य-परम्परा से जिन्होंने दोहन किया उनमें सूरि जिनचन्द्र श्रेष्ठ हैं ॥८॥ उनके सूत्र-ग्रन्थ देखकर कवि-मणि माणिक्य ने ललित अक्षरों और सुन्दर वाणी से यह रचना की ॥९॥ महणा के पुत्र देवराज की विनय से उपदेश-पूर्वक यह प्रकाशित किया गया ॥१०॥ जब तक इस पृथिवी पर सार स्वरूप सूर्य और चन्द्र हैं, पत्नी के साथ वह महणा का पुत्र (देवराज) आनन्दित रहे ॥११॥ शास्त्र के सार (मर्म) और अर्थ के जानकार विद्वान् लोगों को पढ़ावें ॥१२॥

घत्ता—धरा-धन-धान्य से तृप्त रहे, समय पर मेघ वर्षा करें, कामिनी-जन (स्त्रियाँ) नाचें, नवों रस झरें और लोक सभी को शरणदायी हों ॥७-१०॥

[७-११]

गंदउ जिणवर-सासण-सारउ । जिणवाणी वि कुमग्ग-वियारउ ॥१॥
 गंदउ वुह्यण समय-परिट्ठिय । गंदउ सज्जण जे विस-विट्ठिय ॥२॥
 गंदउ णरवइ पय-रक्खंतउ । णायमग्गु लोयहं दरिसंतउ ॥३॥
 संतिवियं भउ पुट्ठिवियं भउ । तुट्ठिवियं भउ दुरिउ-णिसुंभउ ॥४॥
 सेणिउ-णिग्गउ णरय-णिवासहु । जिणधम्मु वि पयडउ भव-वासहु ॥५॥
 जि मच्छरु-मोहु वि परिहरियउ । सुहयज्झाणि जे णियमणु धरियउ ॥६॥
 हेमचंदु-आयरिउ वरिट्ठउ । तहु सीसु वि तव-तेय-गरिट्ठउ ॥७॥
 पोमंगंधर-गंदउ मुणिवरु । देवणंदि तहु सीसु महीवरु ॥८॥
 एयारह-पडिमउ धारंतउ । राय-दोस-मय-मोहु हणंतउ ॥९॥
 सुहह्माणे उवसमु-भावंतउ । गंदउ वंभ लोलु समवंतउ ॥१०॥
 तहं पास जिणेंदह गिहरवणण । वे पंडिय णिवसंहि कणय-वणण ॥११॥
 गरुवउ जसमलु गुण-गण-णिहाणु । वीयउ लहु वंधउ तच्च-जाणु ॥१२॥
 सिरि संतिदास गंथत्थ-जाणु । चच्चइ सिरि पारसु विगय-माणु ॥१३॥
 गंदउ पुणु दिवराउ जसाहिउ । पुत्तकलत्त पउत्तु वि साहिउ ॥१४॥

घत्ता

रोहियासि-पुरि-वासि, सयलु लोउ-सह गंदउ ।

पास-जिणहु पय-सरय, णाणा थोत्तहि वंदिउ ॥७-११॥

[७-१२]

पुणु णासावलि भणिउं वि सारी । दायहु-केरी वण्णवि सारी ॥१॥
 अइरवालु सुपसिद्ध वि भासिउ । सिथल-गोत्तिउ सुयण-समासिउ ॥२॥
 वल्लहाणि वि अहिहाणे भणिउं । जे णिय-तेएं कुलु-संताणिउं ॥३॥
 करमचंदु चउधरिय गुणायरु । दिवचंदही भज्जहि वि मणोहरु ॥४॥
 तस्स तणरुह तिण्णि वि जाया । णं पंडव इह तिण्णि समाया ॥५॥
 पढमउ सत्थ-अत्थ-रस-भायणु । महण चंदु णं उइयउ धरइणु ॥६॥

[७-११]

[कृतिकार-कामना]

सार स्वरूप जिनेन्द्र का श्रेष्ठ शासन और कुमार्ग-विदारक जिनवाणी आनन्द देवे ॥१॥ विद्वान् समय और परिस्थिति के अनुसार सज्जन जल-वृष्टि के समान आनन्द देवें ॥२॥ राजा-प्रजा की रक्षा करते हुए और लोगों को न्यायमार्ग दर्शाते हुए आनन्द देवे ॥३॥ शान्ति होवे, पुष्टि होवे, तुष्टि होवे और पापों का विनाश होवे ॥४॥ श्रेणिक नरक-निवास से बाहर निकले और संसार में रहकर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करे ॥५॥ जिससे मत्सर-मोह दूर होते हैं वह शुभ ध्यान नियम पूर्वक धारण करो ॥६॥ वरिष्ठ आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य-तप-तेज से महान् मुनि-श्रेष्ठ पद्म-नन्दि, उनके पृथिवी पर श्रेष्ठ शिष्य देवनन्दि, राग-द्वेष, मोह-माया को नष्ट करनेवाले ग्यारह प्रतिमाधारी और शुभध्यान में उपशम-भावों को भानेवाले तथा काम की लोलुपता में शान्त-परिणामी सुखी रहें ॥७-१०॥ वहाँ जिनालय के पास एक सुन्दर घर में गौर वर्ण के दो पण्डित रहते हैं ॥११॥ (उनमें) बड़ा जसमल्लु गुणों का भण्डार तथा दूसरा छोटा भाई तत्त्वों का जानकार है ॥१२॥ ग्रन्थों के अर्थ का ज्ञाता, श्री पार्श्वनाथ की पूजा करनेवाला वह निरभिमानी (छोटा भाई) शान्तिदास आनन्दित रहे । इसके पश्चात् जिसका यश कहा गया है वह देवराज स्त्री, पुत्र और पौत्र सहित आनन्दित रहे ॥१३-१४॥

घत्ता—रोहतक नगर के सभी निवासी आनन्दित रहें । पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के चरणों की शरण में नाना स्तुतियों से वन्दना करें ॥७-११॥

[७-१२]

[ग्रन्थ-रचना प्रेरक देवराज का वंश परिचय]

इसके पश्चात् दातार (देवराज के वंश) की संक्षेप से श्रेष्ठ नामावलि कहता हूँ ॥१॥ सुप्रसिद्ध अग्रवाल (जाति) अन्वय और सिंघल गोत्र के सज्जनों को संक्षेप से कहता हूँ ॥२॥ अपने तेज से जिनके द्वारा कुल-सन्तति लाई गई / चलाई गयी वे बूल्हाणि नाम से कहे गये ॥३॥ (इस सन्तति में) गुणाकर चौधरी करमचंद की मनोहर भार्या दिउचंदही के तीन पुत्र उत्पन्न हुए । वे ऐसे लगते थे मानों तीनों पाण्डव— (युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन) ही यहाँ आये हों ॥४-५॥ पहला शास्त्रों के अर्थ रूपी रस का प्रेमी महुणा धरती पर ऐसे उदित हुआ मानों चन्द्रमा का उदय

तह वणिया-पेमाहो सारी । पुत्तच्चउ किजुव मणहारी ॥७॥
 अगिगमु बाणें [हुउ] सेयं सिउ । उज्जल जसचरिऊ विजयंसिउ ॥८॥
 असुवरूपरहइ तियहि विरत्तउ । जं असच्चु कइयाणउ उत्तउ ॥९॥
 दिउराजु जि जिण सहहि महल्लउ । गौणाहो तिय-रमणु वि भल्लउ ॥१०॥
 तहु कुक्खि-सिप्पि-मुत्ताहलाइं । उप्पणइं वे सुय रिउ-सलाइं ॥११॥
 पहिला रउ णिय कुलहं वि दीउ । हरिवंसु णामु गुण-गण वि दीउ ॥१२॥

घत्ता

तहु भज्जा, गुणहि-मणुज्जा,
 मेल्हाही पभणिज्जए ।
 गउरि गंग णं उवहि सुया,
 तहु कस उप्पम विज्जइं ॥ ७-१२ ॥

[७-१३]

पुव्वहि अभयदाणु असु-दिणणउ । तहु सुउ अभयचंदु सु-सण्णिउं ॥१॥
 अवरु वि गुण-रयणहिं रयणायरु । देवराज-सुउ सयल-दिवायरु ॥२॥
 रतनपालु णामें पभणिज्जइ । तहु भूराही ललणवि गिज्जइ ॥३॥
 देवराय पुणु वीयउ भायउ । क्षाण्ण-णामें जय-विक्खायउ ॥४॥
 तह चोचाही भज्ज कहिज्जइ । तो तेयहु णेहें जोच्छज्जइ ॥५॥
 पढमउ णायंराउ तहु कामिणि । सूवटही णामें जण-राविणि ॥६॥
 वीयउ गेल्हु वि अवरु पयांसिउ । क्षाण्ण-तीयउ पुत्तु पयांसिउ ॥७॥
 चाऊ णामें जण-विक्खायउ । महणा-सुउ चुगणा पिय भासउ ॥८॥
 गरही तहु भामिणि सारी । खेतसिंघ-णंदण जुय-हारी । [९॥
 सिरियपालु पुणु रायमल्लु । पुणु कुवरपालु भासिउ जडिल्लु ॥१०॥
 महणा अवरु चउत्थउ णंदणु । छुटमल्लु वि जो धम्महु संदणु ॥११॥
 फेराही अंगण-मणहारउ । दरगहमल्लु वि णंदणु रह सारउ ॥१२॥

घत्ता

करमचंद पुणु पत्तु, वीयउ जोजु वि भण्णिउं ।
 साहाहिय पिय उत्तु, गुर-पय-रत्तु विणाणिउं ॥ ७-१३ ॥

हुआ हो ॥६॥ उसकी प्रेमाही नाम की भार्या से मनोहर चार पुत्र उत्पन्न हुए ॥७॥ चन्द्र सम निर्मल यश और चारित्रधारी, इन्द्रिय-जयी, दूसरों के अशुभ (दुःख) को दूर करने वाला, पर-स्त्रियों और विद्वानों द्वारा जो असत्य कहा गया है उससे विरक्त, चारों में सौम्य और ज्येष्ठ देवराज महल में नौनाही पत्नी के साथ भली प्रकार से रमण करता है ॥८-१०॥ उसकी कुक्षि रूपी सीप से मुक्ताफल रूपी शत्रुओं को शल्य स्वरूप दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥११॥ हरिवंश नाम का पहला (पुत्र) अपने कुल का और गुणी जनों का दीपक हुआ ॥१२॥

घत्ता—गुणों से मनोज्ञ उसकी भार्या मेलहाही कही गयी है । उसकी किससे उपमा करें । वह ऐसी प्रतीत होती है मानो गौरी, गंगा और यमुना ही हो ॥७-१२॥

[७-१३]

[देवराज के द्वितीय पुत्र एवं अन्य भाइयों का परिचय]

प्राणियों को अभयदान देनेवाले उस हरिवंश के साक्षी स्वरूप पहले अभयचन्द्र और दूसरा गुणरूपी रत्नों से रत्नाकर स्वरूप, देवराज के सभी पुत्रों में सूर्य-स्वरूप रतनपाल नाम का पुत्र कहा गया है, उसकी पत्नी भूराही गायी गयी है ॥१-३॥ देवराज का जगत्-विख्यात झाझू नाम का दूसरा भाई (हुआ) ॥४॥ चोचाही उसकी भार्या कही गयी है, जो उसके स्नेह से सुशोभित रहती है ॥५॥ नागराज (इसका) पहला (पुत्र) और उसकी सूवटही नाम की स्त्री सन्तति जनने से आल्हादकारिणी थी ॥६॥ दूसरा गेल्हु और झाझू का तीसरा पुत्र चाऊ नाम से लोगों में विख्यात हुआ । चुगना-महणा का (तीसरा) प्रिय पुत्र कहा गया है ॥८॥ उसकी डूंगरही श्रेष्ठ पत्नी और दोनों के खेर्तसिंह, श्रोपाल, राजमल, कुंवरपाल और जटिल नामक पुत्र कहे हैं ॥९-१०॥ महणा का चौथा पुत्र जो धर्म का रथ (कहा गया) छुटमल्लु (था) । मनोहारी फेराही स्त्री से उत्साही श्रेष्ठ दरगहमल्लु पुत्र (हुआ) ॥११-१२॥

घत्ता—इसके पश्चात् करमचन्द्र का दूसरा पुत्र जोजू कहा गया है । ऊपर कहे गये जोजू की गुरु के पदों में अनुरक्ता साहाही प्रिया जानी गयी है ॥७-१३॥

[७-१४]

तहो अंतहो अंगो भव तिण्णि जोय । विसु-सुय पवणंजउ-अज्जुणोय ॥१॥
 पहिला रउरावण तस्स णारि । रामाही जाया अहि-पियारी ॥२॥
 तहु सरीरि-सुव चारि उवण्णा । पुहईमल्लु वि पढमु सुवण्णा ॥३॥
 तस्स भज्ज वहु णेहालंकिय । कुलचंदही जाया वहु सं किय ॥४॥
 कित्तिसिघु तहु कुक्खि उवण्णउ । गगिर-गिरु णव कंचण वण्णउं ॥५॥
 पुणु जसचंदु व चंदु भणिज्जइं । लूणाही-पिययम-अणुरंजइ ॥६॥
 तह वि तणं धउ-लक्खण-लंकिय । मदणंसिह जो पावहं सं किय ॥७॥
 अवरु वि वीणकंठु वीणावरु । पोपाही तहु कामिणि मणहरु ॥८॥
 णरंसिघु वि तउ सुउ वि गरिट्टउ । लच्छि पिल्लु णं पियरहं इट्टउ ॥९॥
 पुणु लाडणु रूवें मय-रद्धउ । तह वीवो कंता वि जसद्धउ ॥१०॥
 पुणु जोजा-वीयउ पुत्तु सारु । णिय रूवें जित्तउ जेण मारु ॥११॥
 दोदाही-कामिणि अणुरंजइ । जें सुहि मरणें सगिग-गमिज्जइ ॥१२॥
 जोजा अवरु वि णंदणु सारउ । लष (क्ष) मणु-णामें पंडिय-हारउ ॥१३॥
 मल्लाही-कामिणि तहु णंदणु । हीरु णामें जण-मण-णंदणु ॥१४॥

घत्ता

अवरु वि णंदणु तीयउ, ताल्हू णामें भासि [उ] ।

वाल्हाही-मणहारु, वे सुय ताह समासिउं ॥ ७-१४ ॥

[७-१४]

[करमचंद के द्वितीय पुत्र जोजू का कौटुम्बिक परिचय एवं तीसरे पुत्र और पुत्रवधू का नामोल्लेख-वर्णन]

जोजू और साहाही दोनों के आन्तरिक योग से विश्व-श्रुत (विख्यात) पवनंजय और अर्जुन के समान तीन पुत्र हुए ॥१॥ प्रथम (पुत्र) रौरावण (था) । उसकी अधिक प्रिय रामाही पत्नी हुई ॥२॥ उसके शरीर-गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए । सुरूपवान् पृथिवीमल पहला (था) ॥३॥ वह स्नेह से अलंकृत (स्नेहवात्), सुख-करनेवाली (देनेवाली) कुलचन्दही उसकी भार्या हुई ॥४॥ उसकी कुक्षि-कूँख (गर्भ) से नये स्वर्ण के समान सुरूपवान् (और) गद्गद् (आनन्दित) कर देनेवाली वाणी बोलनेवाला कीर्त्तिसिंह उत्पन्न हुआ ॥५॥ इसके पश्चात् चन्द्रमा के समान निर्मल यश-वाला चन्दु (और) अनुरंजन करनेवाली लूनाही (उसकी) प्रियतमा कही गयी है ॥६॥ उसका-शुभ्र-शुभ लक्षणों से अलंकृत, जिसने पापियों को भी सुख दिया (ऐसा) मदनसिंह पुत्र (हुआ) ॥७॥ वीणा-वादकों में श्रेष्ठ वीणकंठ अन्य (तीसरे पुत्र हुए) । मन को हरनेवाली पोपाही उसकी कामिनी (पत्नी) (और) नरसिंह उसका ज्येष्ठ तथा पिल्लु (कनिष्ठ) पुत्र लक्ष्मी के समान (दोनों) माता-पिता को प्रिय थे ॥८-९॥ इसके पश्चात् सौन्दर्य से मकरध्वज-कामदेव के समान लाडनु (चौथा पुत्र) (और) उसकी यश-धारिणी वीवो पत्नी (कही गयी है) ॥१०॥ इसके पश्चात् जोजा (जोजू) का—अपने रूप-सौन्दर्य से जिसके द्वारा कामदेव जीत लिया गया, सारु (नाम का) दूसरा पुत्र (और उसे) अनुरंजित करनेवाली दोदाही—जिसके द्वारा शुभ-मरण किया जाने से स्वर्ग में जाया गया/स्वर्ग प्राप्त किया गया, पत्नी (कही है) ॥११-१२॥ जोजा (जोजू) का अन्य तीसरा-पण्डितों के लिए हार स्वरूप लक्ष्मण नाम का श्रेष्ठ पुत्र, मल्लाही स्त्री और उसका—लोगों के मन को आनन्दित करनेवाला हीरू नाम का पुत्र (कहा गया है) ॥१३-१४॥

घत्ता—(करमचन्द के) तीसरे पुत्र का नाम ताल्हु कहा गया है । (उसकी) मनोहारिणी (स्त्री) वाल्हाही के दो पुत्र (हुए) उन्हें संक्षेप में कहता हूँ ॥७-१४॥

[७-१५]

पढमउ पोमकंति-दासू सुहो । ईच्छाही भामिणि दिण्णउ सुहो ॥१॥
 महदासु वि तहु पुत्तु पियारउ । पुणु दिवदासु वीरु [मण] हारउ ॥२॥
 रुधारणंही-भज्ज मणोहरु । घणमलु-गंदणु तहु पुणु सुयहरु ॥३॥
 जगमल्लाही कामिणि तहु सारी । वायमल्लु सुय पोसणयारी ॥४॥
 इय दिवराजहं वंसु [प] यासिउ । काराविउ सत्तु जि रस-सारउ ॥५॥
 कोह-मोह-मय-माण-वियारउ । जं अक्खरु ण किंपि वि णासिउ ॥६॥
 सुपसाएं वि विरुद्धउ भासिउ । ॥७॥
 तं सरसइ महु खमउ भडारी । वीर-जिणहो मुह-णिग्गय सारी ॥८॥
 हेम पोम आयरिय विसेंसि । वंभज्जुण गुण-गणिण णिहीसें ॥९॥
 मइ कसवट्टिय वण्ण घरेप्पिणु । कव्वे सुवण्णहु लीहवि देप्पिणु ॥१०॥
 मत्त-अत्थ सोहग्गु खिवे विणु । अत्थ-विरुद्ध-किट्टि कट्टेविणु ॥११॥
 सोहिउ एहु वि मणु लाए विणु । होउ चिराउसु कच्चु-रसायणु ॥१२॥
 विक्कम-रायहुवव गय कालइं । लेसु-मुणोस वि सर अंका लइं ॥१३॥
 धरणि अंक सहु चइत वि मासे । सणिवारे सुय-पंचमि दिवसे ॥१४॥
 कित्तिय णक्खत्ते सुह-जोयं । हुउ पुण्णउ सुत्तु वि सुह जोयं ॥१५॥

घत्ता

हो वीर जिणेसर, जग परमेस्वर,

एत्तिउ लहु महु दिज्जउ ।

जहिं कोहु ण माणु, आवण-जाणु

सासय-पउ महु दिज्जउ ॥ ७-१५ ॥

[७-१५]

[करमचंद के तीसरे पुत्र तालु का वंश-परिचय तथा कवि की काव्यात्मक-भावना एवं रचना-काल]

कमल की कान्ति धारण करनेवाला सुखकारी पहला (पुत्र) दामू और सुखकारिणी ईच्छाही (उसकी) पत्नी (हुई) ॥१॥ इन दोनों के महदास प्यारा पुत्र हुआ । इसके पश्चात् मनोहर वीर देवदास हुआ ॥२॥ (इसकी) रूधारणही मनोहर स्त्री (और उससे) सुखकारी घणमलु पुत्र हुआ ॥३॥ उसकी जगमल्लाही श्रेष्ठ पत्नी और भरण-पोषण करनेवाला वायमल्ल पुत्र हुआ ॥४॥ इस प्रकार रसों से भरपूर शास्त्र की रचना करानेवाले देवराज का वंश प्रकाशित किया ॥५॥ क्रोध-मोह, माया और मान के विदारक (इस ग्रन्थ के) जो अक्षर हैं कोई भी उन्हें नहीं नाशे ॥६॥ विरुद्ध भी कहा गया हो तो वीर जिनेन्द्र के मुँह से निकसित श्रेष्ठ वह स्वामिनी सरस्वती प्रसन्नता पूर्वक मुझे क्षमा करे ॥७-८॥ विशेष रूप से ब्रह्मचर्य आदि गुण-समूह-निधिधारी आचार्य हेमचन्द्र और पद्मनन्दि से मेरे द्वारा (मुझ माणिक्य कवि के द्वारा) कसौटी पर कसकर वर्ण धारण किये जाने के पश्चात् काव्य में स्वर्णाक्षरों अथवा सुन्दर लिपि में लिखकर दिया गया है ॥९-१०॥ मात्रा और अर्थ-सौन्दर्य का क्षय किये बिना अर्थ-विरुद्ध मलिनता को काटकर मन लगाये बिना भी यह काव्यरूपी रसायन चिरकाल तक शोभित होवे ॥११-१२॥ राजा विक्रमादित्य को हुए पन्द्रह सौ छिहत्तर वर्ष निकल जाने पर चैत मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि शनिवार के दिन कृतिका नक्षत्र के शुभ योग में (यह) सूत्र (अमरसेण-चरिउ) पूर्ण (समाप्त) हुआ ॥१३-१५॥

घत्ता—(कवि भगवान् महावीर से विनय करते हुए कहते हैं—) हे जगत् के परमेश्वर, जिनेन्द्र भगवान्, महावीर, मुझे शीघ्र इतना ही दे दीजिए—जहाँ न क्रोध है और न मान है, जहाँ जाने पर पुनः संसार में आना नहीं पड़ता, वह शाश्वतपद (मोक्ष) मुझे दीजिए ॥७-१५॥

इय महाराय सिरि अमरसेण चरिए । चउवग सुकह-कहामयरसेण
संभरिए । सिरि पंडिय माणिककविरइए । साधु महणा-सुय चउधरी देव-
राज णामंकिए । सिरि अमरसेण-वइरसेण-स्वर्ग-गमण वण्णणं णाम
सत्तमं इमं परिच्छेयं सम्मत्तं ॥ संधि ॥ ७ ॥

इति अमरसेण-वरित्तं समाप्तं ॥ छ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।

अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधी भेषजाद्भवेत् ॥

तैलात् रक्षेत् जलात् रक्षेत् शिथिल बन्धनात् ।

मूर्ख-हस्ते न दातव्यं, एवं वदति पुस्तकम् ॥

सुभं भवतु ।

प्रशस्ति

अथ संवत्सरेस्मिन् श्री नृप विक्रमादीत्य-गताब्दः संवत् [१५७७]
वर्षे कार्तिक वदि ५ रवि दिने कुरुजांगल देसे श्री सुवर्णपथ (सोनीपत)
सुभस्थाने श्री का [ष्ठा] संघे माथुरान्वये पुष्कर-गणे भट्टारक श्री
गुणकीर्त्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री यसकीर्त्तिदेवाः ॥ तत्पट्टे भट्टारक श्री
मलयकीर्त्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणभद्रसूरिदेवाः तदाम्नाये अग्र-
वालान्वये गोडलगोत्रे सुवर्णपथि वास्तव्यं जिणपूजा पौरंदरी कृतवान्
साधुच्छलू तस्य भार्या सोल-तोय-तरंगिणी साध्वी करमचंदही सुधी पुत्र
चउ प्रकारि दान..... । साधु वाढू तेन इदं अमरसेण सास्त्रं लि [खा]
पितं ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं । ओम् सुभं भवतु ॥ मंगल्यं ददाति ॥छ॥



इस प्रकार चारों वर्ग की सुन्दर कथारूपी अमृतरस से परिपूर्ण, श्रो पण्डित माणिक्य द्वारा साधु महणा के चौधरी देवराज नामवाले पुत्र के लिए रचे गये इस महा राज श्री अमरसेन चरित में अमरसेन-वइरसेन की स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन करनेवाला यह सातवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ ॥ छ ॥

(जीवों को) ज्ञान-दान से ज्ञानवान्, अभयदान से निर्भयत्व, अन्न-दान से नित्य सुख और औषधिदान से व्याधि-विहीनता प्राप्त होती है ।

पुस्तक का आत्म निवेदन है कि तैल, जल और शिथिल-बन्धन से मेरी रक्षा करें । मुझे मूर्ख के हाथ में नहीं देना चाहिए ।

॥ शुभं-भवतु ॥

हिन्दी अनुवाद

श्री राजा विक्रमादित्य के (१५७६) वर्ष व्यतीत हो जाने पर संवत् १५७७ वर्ष में कार्तिक वदी पंचमी रविवार के दिन कुरुजांगल देश के सोनीपत शुभ स्थान में काष्ठासंघ-माथुरान्वय में पुष्कर-गण में (हुए) भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेव के पट्टधर भट्टारक श्री यशकीर्तिदेव तथा इनके पट्टधर श्री मलयकीर्तिदेव के पट्ट पर [विराजमान] हुए भट्टारक गुणभद्र-सूरिदेव की आमनाय में अग्रवाल अन्वय के गोयल गोत्र में सोनीपत के निवासी ने जिनेन्द्र की इन्द्रध्वज पूजा की । शाह छलू और उसकी शील रूपी जल से युक्त नदी तुल्य साध्वी करमचंदही के विद्वान् पुत्र वाढू ने चार प्रकार का दान किया । उसके द्वारा ज्ञानावरणी कर्म के क्षय हेतु यह अमरसेन चरित लिखाया (था) । यह कार्य शुभकारी हो, मंगल देवे ॥ छ ॥

रक्षाबन्धन पर्व-दिवसे समाप्तमिदं कार्यं
६-८-१९९० सोमवार

परिशिष्ट-१

सूक्तियाँ

१. अइ लाडणु बहु दोसु मुणेप्पिणु । २।३।१०
बच्चों का अधिक लाड़ बहु दोषकारी होता है ।
२. अइ वलवंतइं सक्कण पूज्जइ । २।५।७
महाबलवानों को इन्द्र (भी) पूजता है ।
३. अच्छहु दुज्जण दूरि वसंतइं । १।८।१
दुर्जन से दूर रहना अच्छा है ।
४. अथिरु संसार वक्कु । १।१७।९
संसार अस्थिर और वक्र है ।
५. अधिकारिउ जीविउ कम्मराउ । १।१७।१
कर्म रूपी राजा जीव का अधिकारी है ।
६. अपवाई पाउ हरेइ लहु । २।११।१८
निजोपदेशी पापों से शीघ्र छूट जाता है ।
७. अमियं जं समयहं दिण्णु दाणु । ४।११।८
समय पर दिया गया दान अमृत तुल्य होता है ।
८. अमियं सीयलु जगि सुहवयणु । ४।११।९
शुभ और शीतलता देनेवाले वचन अमृत-तुल्य होते हैं ।
९. अमियं साहुह परमत्थसंगु । ४।११।१०
परमार्थ के लिए साधु-संग अमृत-तुल्य होता है ।
१०. अमियं गुणगुट्टिहिं करइ संगु । ४।११।१०
गुणी जनों की गोष्ठियों का संग करना अमृत तुल्य है ।
११. आसा-वासिणि मन पडि संसारि । १।१६।२२
संसार में आशाओं और इन्द्रिय वासनाओं में मत पड़ो ।
१२. इकचित्ति-सुद्ध जिणधम्म सेवि । १।१७।१४
जैनधर्म विशुद्ध एक चित्त से सेव्य है ।
१३. इय चिरणेहे णेहु पवट्टइ । ६।१३।१
पुरातन स्नेह में स्नेह बढ़ता (ही) है ।
१४. कह मरण-वत्थच्छुट्टइ ण जीउ । २।१।१६
जीव मरण-काल में कहीं भी नहीं छूटता है ।

१५. कियकम्महणि वि सिवपउ लहेइ । १।१३।१६
शिव-पद (मोक्ष) पूर्वोपार्जित कर्मों के नाश होने पर ही प्राप्त होता है ।
१६. किम कम्महं पेरिउ कित्थु णउ रहेइ । ४।१।३
कहीं भी क्यों न रहो, पूर्वोपार्जित कर्म दुःख देते ही हैं ।
१७. किय पुण्णं संपइ होइ जाउ । १।२२।२२
अर्जित पुण्य से सम्पत्ति हो (ही) जाती है ।
१८. किं ण करहि रइ-लुद्ध धुय । २।१०
निश्चय से रति का लोभो क्या नहीं करता है ?
१९. किं किज्जइ णिद्धणु रूवजुत्तु । ३।७।४
निर्धन-रूपवान् होकर भी क्या करे ?
२०. किं किज्जइ मणुएं दव्व-विणु । ३।७।११
द्रव्य-विहीन मनुष्य क्या करे ।
२१. गइ पाणी पहलउ पालि वंधु । १।१४।४
पानी निकल जाने के पहले पाल बाँधो ।
२२. गइ सप्पहि पीढइ लीह अंधु । १।१४।४
साँप निकल जाने पर अन्धा ही लकीर पीटता है ।
२३. गल-संकल घरणी-वाहुदंड । १।१७।३
गृहिणी के बाहुदण्ड गले में साँकल स्वरूप हैं ।
२४. गुरु-मारणेण महापाउ होउ । ३।१२।१४
गुरु का वध करने से महापाप होता है ।
२५. जइसउ करइ सु तइसउ पावइ । ४।१२।१३
जो जैसा करता है वह वैसा ही पाता है ।
२६. जाणंतु सहइ जइ दुक्ख देहु । १।१७।८
शरीर ही दुःख सहता है—ऐसा जानो ।
२७. जिउ पडिउ कुडंवावत्तिगत्ति । १।१६।२०
जीव कुटुम्ब रूपी गर्त में पड़ा है ।
२८. जिउ उडिउ ण सक्कइ वलि वि पाय । १।१७।४
शक्ति पाकर भी जीव उड़ नहीं सकता ।
२९. जिम जिम काया अणुहवइ सुक्ख ।
तिम-तिम जाणोवउ अधिक दुक्ख ॥ १।१७।७
शरीर ज्यों-ज्यों सुख का अनुभव करता है त्यों-त्यों अधिक दुःख जानो ।

३०. जिणि धम्मि होई जीवहं संधारु । १।१८।१०
जीवों के संहार से धर्म नहीं होता है ।
३१. जिणधम्महं विणु न वि होइ मुखु । १।१९।१८
मोक्ष जैनधर्म के बिना नहीं होता है ।
३२. जिणधम्महं विणु न वि सक्क-सुक्खु । १।१९।१८
इन्द्र-सुख जैनधर्म के बिना नहीं ।
३३. जिणधम्मं विणु किह सुगइ पत्तु । ३।१०।५
सुगति किसे जैनधर्म के बिना प्राप्त हुई ।
३४. जिण-वयणु-सरणु । ३।८।८
जिन-वचन ही शरण हैं ।
३५. जीविउ धण जुवणु अथिरु जाणि । १।१६।१
जीवन, धन और जवानी को अस्थिर जानो ।
३६. जो करइ सुतिप्पइ सुकिय-हेउ । १।११।९
जो धर्म-कर्म करता है उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है ।
३७. जं कल्लि करंतउ करिसु अज्जु । १।१६।४
जो कल करना है उसे आज ही करो ।
३८. झडि पडियति संकल-कम्म जोगि । १।१७।५
कर्म-शृंखला ध्यान से झड़ पड़ती है ।
३९. णउ धणहीणु वंधु महि जुज्जइ । ३।३।१५
पृथिवी पर भाई का धनहीन होना ठीक नहीं है ।
४०. णउ हीणहं घरह विविसइ सिरि । ३।२।९
हीन-दीन के घर लक्ष्मी प्रवेश नहीं करती ।
४१. णउ जाइ अहलु जं कम्म किओ । ४।७।१०
जो कर्म किये हैं वे निष्फल नहीं होते ।
४२. णउ अणु होइ किय सुहुदुहेहि । ५।५।१८
उपाजित सुख-दुःख अन्यथा नहीं होते ।
४३. णउ चल्लइं मत्थइं लिहिउ देव । ५।५।१९
भाग्य का लेख अन्यथा नहीं होता ।
४४. णउ पुग्गल अप्पुण होई । ५।१७।१
पुद्गल अपना नहीं होता है ।
४५. तहि णउं वसइ णत्थि साधम्मिउ । ५।८।१०
(जहाँ) साधर्मी न हों वहाँ निवास न करे ।

४६. तिय गुञ्जु ण दिज्जइ । ३।७
स्त्री को गुप्तभेद प्रकट न करे ।
४७. ते सोय धण्ण गुणगण सुणंति । १।१०।९
वे श्रोत धन्य हैं जो गुणों को सुनते हैं ।
४८. ते पाणि सहल पूया रयंति । १।१०।८
वे हाथ सफल हैं जो पूजा रचाते हैं ।
४९. ते गभ्रण धण्ण तव जुइ णियंति । १।१०।९
वे नेत्र धन्य हैं जो जिनेन्द्र-छवि का दर्शन करते हैं ।
५०. तं वित्तु वि तुव पययुज्ज लग्गु । १।१०।११
वह द्रव्य धन्य है जो जिनेन्द्र की पाद-पूजा में लगता है ।
५१. थिर होइ कित्ति थिरकम्म धुवे । ४।५।१
स्थायी कीर्ति स्थायी कार्यों से होती है ।
५२. थिर सत्तुह मित्ती भाय किए । ४।५।२
स्थिर मित्रता शत्रु को भाई बनाने से होती है ।
५३. थिरु दाणु सुपत्तहं भव्व दिए । ४।५।२
भव्य जनों द्वारा सुपात्र को दिया दान स्थिर होता है ।
५४. दया मूल-धम्म । १।१७।१
धर्म का मूल दया है ।
५५. दीणक्खरु भणइ सा लोयहावि । ३।३।१७
लोभाकृष्ट होकर दीन वचन न कहे ।
५६. दुज्जण चल्लणीव सम सीसइ । १।८।३
दुर्जन पुरुष चलनी के समान होते हैं ।
५७. दुज्जणु विसयकसायं रक्तइं । १।८।६
दुर्जन विषय और कषायों में रत रहते हैं ।
५८. दुज्जण सप्पहु एक अवत्थइ । १।८।२
दुर्जन और सर्प की समान स्थिति होती है ।
५९. देवेहि लिहायउ विहि लिहिओ ।
तं फेडण कुइ ण समत्थु हुउ ॥ २।१।१३
विधि का लेख बदलने में कोई समर्थ नहीं हुआ है ।
६०. धम्मत्थ कज्जि पिय सुगयहेय । २।१।१।१
धर्मार्थकार्य में प्रेम सुगति का कारण होता है ।
६१. न चलंत चलाओ लहइ कोइ । १।१६।१६
चला-चली में कुछ भी प्राप्ति नहीं होती ।

६२. न वि करतउ संकइ किमइ पापु । १।१६।६
पापी कुछ भी करने में शंका नहीं करता है ।
६३. पम्माउ करिसि तउ पडिसि सोगि । १।१९।१७
प्रमाद करोगे तो शोक में पड़ोगे ।
६४. परधणु-तिणु परतिय मायतुल्लि । १।१९।१४
पराया धन तृण तुल्य और परस्त्री माता-तुल्य होती है ।
६५. परमप्पउ लब्भइ अप्पचिंति । १।१८।१३
परमपद आत्मचिन्तन से प्राप्त होता है ।
६६. परसंताविय दय संतावइ । ४।१२।१३
दूसरों को संताप देनेवाला संतप्त होता है ।
६७. परिहरि कोहाइ कसाय चारि । १।१७।१०
क्रोध आदि चारों कषाएँ त्यागो ।
६८. परिहरि कूडातुल कूडमाणु । १।१९।१५
कम-ज्यादह माप-तौल को त्यागो ।
६९. पसरंतु पंच इंदिय निवारि । १।१७।१०
पाँचों इंद्रियों के प्रसार का निवारण करो ।
७०. पाच्छइ पच्छतावइ कवण काजु । १।१४।३
पीछे पश्चाताप करने से क्या लाभ ?
७१. पावेणय पावइ गरुय दुहु । १।२२।२३
पाप से बहुत दुःख प्राप्त होता है ।
७२. पियमायपुत्तमाया झमालि । १।१६।५
माता-पिता, पुत्र और सम्पत्ति सभी झगड़े की जड़ हैं ।
७३. पुण्णें किण्ण होइ । २।१२।३
पुण्य से क्या नहीं होता है ।
७४. पुरिसत्तणु करि अरिहंतु-राहि । १।१७।६
अर्हन्त के मार्ग में पुरुषार्थ करो ।
७५. म करि धम्महं विलंबु । १।१६।११
धर्म में विलम्ब मत करो ।
७६. म करि पुग्गल सणेहु । १।१६।१३
पुद्गल (देह) से स्नेह मत करो ।
७७. मणवयणकाय परवत्थ चत्त ।
णित्थरहि भवंवुहि वेइ भक्त ॥ १।२१।१२
मन, वचन और काय से परवस्तु (देह) का त्याग करके शीघ्र
संसार-सागर से बाहर निकलो ।

७८. यत्तु जाणिवि वेस ण होति अप्पु । ४।७।८
वेश्या अपनी नहीं होती—ऐसा जानो ।
७९. लइ संजम अप्पत्त तारि-तारि । १।१६।२२
संयम लेकर अपने को तारो (संसार-सागर से पार करो) ।
८०. लहणा-देणा लमि मिलिउ-जोई । १।१६।१९
मिलन-योग लेन-देन तक का है ।
८१. लोहासत्तत्तु कासु ण मण्णइ । ५।८।५
लोभासत्त किसे नहीं मानता है ।
८२. वयरु ण होई सुंदरु ।
वैर सुन्दर नहीं होता ।
८३. ववसायहं विणु णत्तु होइ लच्छि । ४।५।१२
बिना व्यवसाय के लक्ष्मी नहीं होती ।
८४. विणु पुण्णे जीउ ण लहइ सुहु । १।२२।२३
बिना पुण्य के जीव सुख नहीं पाता है ।
८५. विणु दब्बे कोइ न करइ गव्वु । २।११।१४
बिना द्रव्य के कोई गर्व नहीं करता है ।
८६. विणु ववसायहं णत्तु अत्थ होइ । ३।६।१०
बिना व्यवसाय के धन नहीं होता है ।
८७. विणु उज्जमु विणु णत्तु कज्जसिद्धि । ४।१।२
उद्यम किये बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती है ।
८८. वेसा णरु गिण्हइ दव्वसहिउ । ४।७।५
वेश्या धनवान् पुरुष का ही आदर करती है ।
८९. वेदिहरि कुडंवइ । १।१७।२
कुटुम्ब बन्दीगृह है ।
९०. सहभुंजइ णिहि । ५।५।२२
निधियों को सब मिलकर भोगो ।
९१. सा रसना तुव गुण लोल लुलइ । १।१०।१०
रसना वही (धन्य है जो) तीर्थंकरों के गुणों की लोलुपी है ।
९२. सुखि अणत्तर दुख होइ । १।१४।५
सुख के पश्चात् दुःख होता है ।
९३. सुह-कम्महं संपइ लद्ध तत्तु । ४।३।९
सम्पत्ति शुभ कर्म से प्राप्त होती है ।

९४. सुहृ-दुहृ कियकम्मं हुंति भवत । १।१३।१४
सुख और दुःख पूर्वोपाजित कर्मों से होते हैं ।
९५. सो साहु इच्छु तुव पडि चलइ । १।१०।१०
वह इच्छा अच्छी है जो तीर्थंकर के प्रति होती है ।
९६. संजम कर अप्पउ पाव मुक्कु । १।१७।९
मंयम लेकर अपने पाप त्यागो ।
९७. संसार-भवण्णव पडिउ जीउ ।
णीसरइ सा विणु जिणधम्म कीउ ॥ १।२०।७
संसार-भँवर में फँसा हुआ जीव बिना जैनधर्म धारण किये बाहर
नहीं निकलता है ।
९८. संसारि नही अप्पणउ कोइ । १।१६।१९
संसार में अपना कोई नहीं है ।
९९. संसारु अणंतउ परह चित । १।१८।१३
पर की चिन्ता से अनन्त संसार प्राप्त होता है ।
१००. संसारु असारु वि मणि मुणेहु । २।१।२५
मन में संसार को असार जानो ।
१०१. हथकडग मित्त पियमायभाय । १।१७।४
मित्र, माता-पिता और भाई हथकड़ियाँ हैं ।
१०२. हां लोयहु थी भेउ ण दिज्जइ । ३।१३।१
स्त्रियों को भेद नहीं देना चाहिए ।



पुरुषों, महिलाओं, देश, नगर, पर्वत आदि के नाम

अडरवाल्	अग्रवाल जैन जाति ।	१।४।३, १।६।८
अभयंकर	ऋषभपुर नगर का एक सेठ ।	१।२।३।५
अमरसेणु	धण्णंकर का जीव । यह राजा सूरसेन और विजयादेवी का पुत्र था । वइरसेन इसका अनुज था ।	२।३।६
अमरवइरसेण-		
चरिउ	अमरसेनचरित नामक ग्रन्थ	१।६।१३
अमियगई	अमितगति नाम के एक चारण ऋद्धि-धारी मुनि ।	६।८।२
अरिमर्दन	ऋषभपुर नगर का राजा ।	१।१।३।१
आइणाह	प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ।	१।६।१४
उसवभपुर	जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का एक नगर ऋषभपुर ।	१।१।२।१०
कच्छ	जम्बूद्वीप के आर्यखण्ड का एक देश ।	५।२।१।१०-११
कणयायलु	कनकाचल (सुमेरु पर्वत) ।	१।१।१।६
करमचंदु	चीमा का पुत्र ।	१।४।७
कलिकाल	कलियुग ।	१।८।१७
कामकंदला	मागध वेश्या की पुत्री ।	३।३
कामधेणु	कामधेनु ।	१।७।२
किक्कइ	केकई ।	७।७।४
कुमारसेन	आचार्य हेमकीर्त्ति के शिष्य और आचार्य हेमचन्द्र के गुरु ।	१।२।९-११
कुरुजंगल	एक देश । गजपुर इसी देश का एक नगर था ।	३।८।३, ७।३।३
कुरुदेश	कौरव-क्षेत्र ।	२।२।११
कुर्लिग	जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का कर्लिग देश ।	२।२।५
कुलंकर	हरपति का पुत्र ।	७।३।३-५
कुसलावती	सेठ अभयंकर की पत्नी ।	५।१०।३

कुसुमलया	कुसुमावलि की बहिन-कुसुमलता ।	५१२२५
कुसुमावलि	मालिन कुसुमलता की बहिन ।	५१२२५
कंचणपुर	भरतक्षेत्र का एक नगर । अमरसेन यहाँ के राजा थे ।	३१११२
कंचणमाला	राजा जितशत्रु की रानी ।	६१८५-६
खगगिरि	विजयार्ध पर्वत ।	६५५१०
खेमकिर्त्ति	क्षेमकीर्त्ति	११२१८
खेमाही	चौधरी महणा की पत्नी ।	१५५१
गजपुर	कुरुदेश का नगर-हस्तिनापुर ।	२१२११
गयउर	गजपुर ।	७६१२
गयवर	गजपुर ।	७३३३
गोयम	गौतम-गणधर ।	११२११
घणवाहणु	जयवर्मा और विनयादेवी का पुत्र ।	६५५१०-११
चारुदत्त	वेश्यागामी एक प्राचीन पुरुष ।	३११३२
चीमा	चौधरी देवराज का पूर्वज ।	११४५
चुगना	चौधरी महणा का तीसरा पुत्र ।	१५५१६
चेलण	राजा श्रेणिक की रानी चेलना ।	११९१८
चंदउरि	चन्द्रपुरी नगरी ।	७६३३
चंदोदय	चन्द्रोदय नाम का एक पुरुष ।	७२
छुट्टा	चौधरी महणा का चौथा पुत्र ।	१५५१८
जयवम्मु	विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी का राज-जयवर्मा ।	६५५१०
जयावइ	राजा वज्रसेन की रानी-जयावती ।	६१४३-४
जितसत्तु	मंगलावती देश का राजा-जितशत्रु ।	६१८५-६
जंबूदीव	जम्बूद्वीप ।	११९३
झाझू	चौधरी महणा का दूसरा पुत्र ।	१५५१४
णीलु	नील नाम का राजा ।	७१८२
तिजयभूसणु	त्रिलोकमण्डन हाथी ।	७१
तिहुवणचंदु	श्रेष्ठ ऋषि त्रिभुवनचन्द्र ।	६१११९
दलयट्टणु	कालिग देश का एक नगर ।	२१२६
दिउचंदही	करमचन्द की पत्नी ।	११४१४
दिउराज	ग्रन्थ प्रेरक चौधरी देवराज ।	१५५११

दियवर	बनारस का राजा द्विजवर ।	३।११
देवदत्तु	गजपुर का राजा देवदत्त ।	२।२।१२
देवलदे	राजा अरिमर्दन की रानी ।	१।१३।३
देवश्री	गजपुर के राजा देवदत्त की रानी ।	२।२।१२
देवसेन	एक भट्टारक ।	५।१५।४
देसविहसणु	केवली देशभूषण ।	७।२।८
धणउ	धनद नाम का वणिक ।	७।४।११
धणदत्त	एक ग्वाल ।	७।८।३
धणंकर	सेठ अभयंकर का कर्मचारी ।	१।१३।८
धुत	देवपुर का राजा ।	३।५।१७
पविसेणु	रत्नसंचयपुर के राजा वज्रसेन का अपर नाम ।	६।६।४
पहावइ	श्रुतिकीर्ति पुरोहित की पुत्री-प्रभावती ।	६।८।८
पारुखिख	राजा परीक्षित ।	३।८।२-३
पासणाहु	पाश्वनाथ (तीर्थंकर) ।	१।६।१२
पुण्डरिउ	पुण्डरीक-नाग ।	३।१०
पुणंकर	सेठ अभयंकर का कर्मचारी ।	१।१३।८
पोमणंदि	ग्रन्थकर्त्ता माणिक्यराज के गुरु-पद्मनन्दि ।	१।२।१२
पोयणपुर	पोदनपुर ।	७।५।९
भरह	राम का भाई भरत ।	७।१।३
भरहखित्तु	भरतक्षेत्र ।	१।९।३
भूसणु	धनद का पुत्र भूषण ।	७।४।१२
मगह	मगध देश ।	१।९।४
मगहवाणि	मगध देश की बोली-अर्द्धमागधी भाषा ।	१।१०।४
मणियेहर	रत्नशेखर का अपर नाम-वणिशेखर ।	६।६।५
मणिसंचयपुरि	रत्नसंचयपुर का अपर नाम ।	६।६।४
मणोहरी	चन्द्रोदय की जननी—मनोहरी ।	७।३।३-४
मथणमंजूसा	एक कन्या—मदनमंजूषा ।	६।७।३-४
महशा	करमचन्द्र का पुत्र ।	१।४।१५
महावीर	चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ।	१।९।२२
मागही	मागधी वेश्या ।	४।४।२
माणिक्यकराजु	अमरसेनचरिउ ग्रन्थ का कर्त्ता ।	१।६।५
माल्हाही	चौधरी चीमा की पत्नी ।	१।४।५-६

माहेन्द्र	माहेन्द्र स्वर्ग ।	७।५।१
मिठवइ	मुनि मृदुमति ।	७।५।२
मुदिदोदय	एक विद्याधर राजा ।	५।२।४।८
मेरु	सुमेरु पर्वत ।	१।१।४।७
मंगलवइ	जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की एक नगरी ।	६।८।५
मंगलावती	जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र का एक देश ।	६।४।२-३
रत्नसंचयपुर	मंगलावती देश का एक नगर ।	६।४।३
रमण	विनोद का छोटा भाई ।	७।३।१।४
रयणसेहलु	वज्रसेन का पुत्र—रत्नशेखर ।	६।५।४
राइगिह	राजगृह नगर ।	१।९।४
रामहु	दशरथ-पुत्र राम ।	१।५।४
रामु	” ”	७।१।३
रावण	दशानन ।	७।१।२
रुहियासु	रोहतक नगर ।	१।३।३
वइरसेणु	राजा सूरसेन का दूसरा पुत्र, अमरसेन का अनुज ।	२।३।६
वज्रसेण	रत्नसंचयपुर का राजा—वज्रसेन ।	६।४।२-३
वरदत्त	सुसोमा नगरी का राजा ।	५।२।१।१
वसुमित्त	धनमित्र ।	७।८।२
वाणारसि	बनारस नगर ।	३।१।१।२
विजयादेवि	राजा सूरसेन की रानी ।	२।२।१०
विणयादेवी	राजा जयवर्मा की रानी ।	६।५।१०
विणोह	रमण का भाई ।	७।३।१।४
विपुल्लिद	विपुलाचल पर्वत ।	१।९।१०
विस्सकित्ति	विश्वकीर्त्ति ।	१।२०।१।४
विस्सतासु	गजपुर नगर के राजा का मन्त्री—विश्रतास ।	७।३।६
विहीसण	विभीषण ।	७।१।२
वेयट्टणि	नगर ।	५।२।४।८
बंधुमइ	श्रुतकीर्त्ति की पत्नी ।	६।८।७
सणिकुमार सग्ग	सनत्कुमार स्वर्ग ।	२।२।१
सिवघोस	मुनि ।	५।२।१।१।४

सिंहकंडी	विश्रतास मन्त्री की पत्नी—शिखिकण्ठी ।	७।३।६-७
सिंघल	अग्रवाल अन्वय का एक गोत्र ।	१।४।३
सीया	राम की पत्नी—सीता ।	१।५।४, ७।१।२-३
स्त्रीदामा	कुलंकर की पत्नी ।	७।३।५
सुकूट्ट	पर्वत ।	२।१।१
सुज्जोदय	सूर्योदय नाम का एक पुरुष ।	७।२



परिशिष्ट-३

बुन्देली शब्द

अथाण	अथाना	११९१६
आउ	आयु	२१२१४
आजु	आज	१११४१३
आयउ	आया	२१४१८
आवकाव	आयु	५११६१९
उतारउ	उतारा देशी धातु	११२०११५
कट्टिढज्जइ	काढना देशी धातु	४१५१७
कल्ल	कल	१११६१४
करना	करना देशी धातु	१११८१७
काजु	काज	१११४१३
कारण	कारण	११२१११५
कंधि	कंधे पर	१११५१२
घर	घर	१११३१११
घरणी	घरनी	१११७१३
घालिज्जइ	घालना देशी धातु	१११५११३
चंप	चपाना/दबाना देशी धातु	१११४१७
चंडाल	चाण्डाल	१११८११२
जव	जव	४११०१३
जा	यह	११२११४
जाय	जाकर	११६११५
जिणि	नहीं	१११८११०
जूआ	चूत	१११९१२
तुरंतु	तुरन्त	२१११६
दुवारु	द्वार	१११९
दौराव	दौड़ाना देशी धातु	४१९११४
न्हाण-धौण	नहाना/धोना देशी धातु	१११९१९
पट्टाए	पठाये	३१११८
पठाबहु	पठाना देशी धातु	५१३११२

परोसिउ	परोसा	१२२।१५
पहिराविय	पहिरा कर देशी धातु	१२१।१
पाइ	पाना देशी धातु	१११।२
पापर	पापड़	११५।६
पालइ	पालता है-देशी धातु	११४।१
पीटि	पीटकर देशी धातु	४१२।८
पुण्णयाइं	पुण्णयाइ से	२।२।२
पेरिउ	पेरा देशी धातु	११७।१
पोइज्जइ	पोया जाना देशी धातु	११५।७
फसइ	फसता है देशी धातु	११४।३
भलउ	भला	११८।१२
भरि	भरकर देशी धातु	५।१५।१
भूलउ	भूल	५।१६।२
मत	नहीं	११९।१९
मय	सहित	२।१२।२
मरत	मरण	११६।१७
मारणेण	मारने से	३।२।१४
मुस्	मूसना देशी धातु	४।१९
मोडयंत	मोड़ते हुए	११५।१२
मोर	मयूर	१११।११
रहेइ	रहता है देशी धातु	४।१।३
राजी	सहमत	११४।१२
रुक्ख	रूख	३।३।१४
लग्गियउ	लग गया देशी धातु	२।२।१४
लेवि	लेकर देशी धातु	१।२।३
वार-वार	फिर-फिर	२।५।१७
विगोवइ	विगोता है देशी धातु	५।५
विहाण	सबेरा	२।१३।१
वीरु	भाई	२।१२
बुद्धि	बुद्धा	४।११।२३
वेइ	वे ही	१२१।१२
वेडी	बेड़ी	१।१७।३
वेरहि	वेरा (समय)	२।३।१

बोलइ	बोलता है देशी धातु	२।५।११
सयाणी	चतुरा	२।२।१०
सराधु	श्राद्ध	१।१।८।७
मुई	सुई	१।१।४।१।७
सुहाइ	सुहाता है । देशी धातु	१।२।२
सूली	फाँसी	१।१।५।७
हक्कारि	चिल्लाकर	२।६।८
हाल	तत्काल	१।१।७।२
होइ जाउ	हो ही जाता है ।	१।२।२।२२



